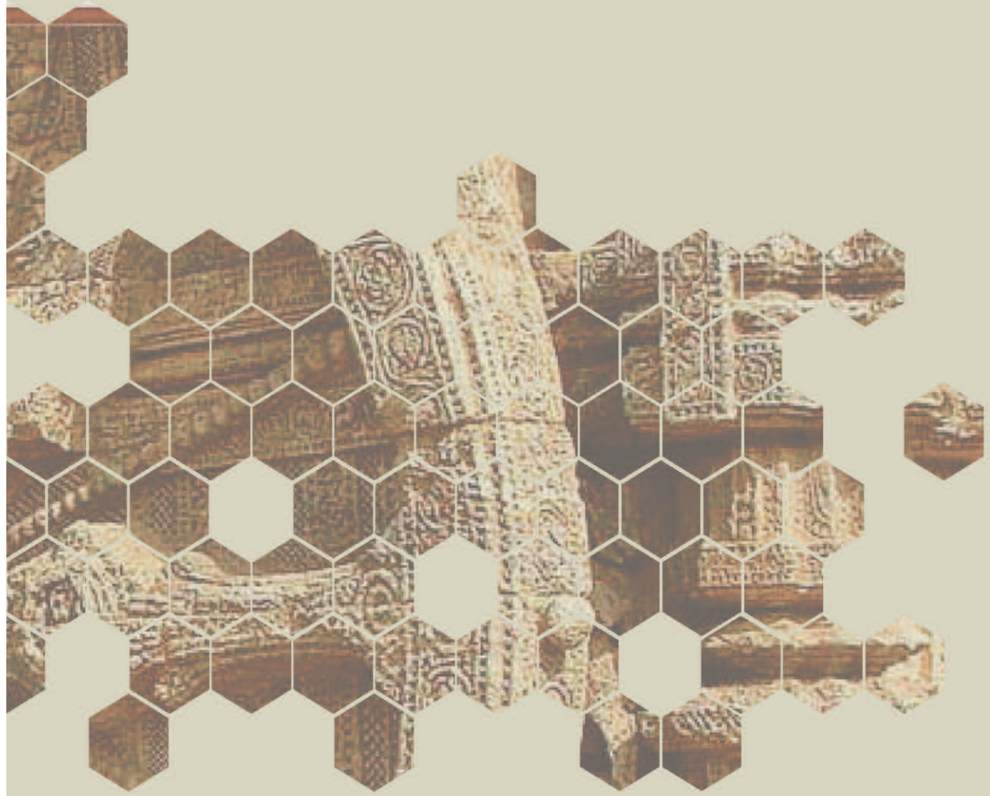

Dr. C.V. Raman University
Kargi Road, Kota, BILASPUR, (C. G.),
Ph. : +07753-253801, +07753-253872
E-mail : info@cvru.ac.in | Website : www.cvru.ac.in

भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र -I

भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र -I

Institute of **Open** and **Distance Education**

Faculty of Arts

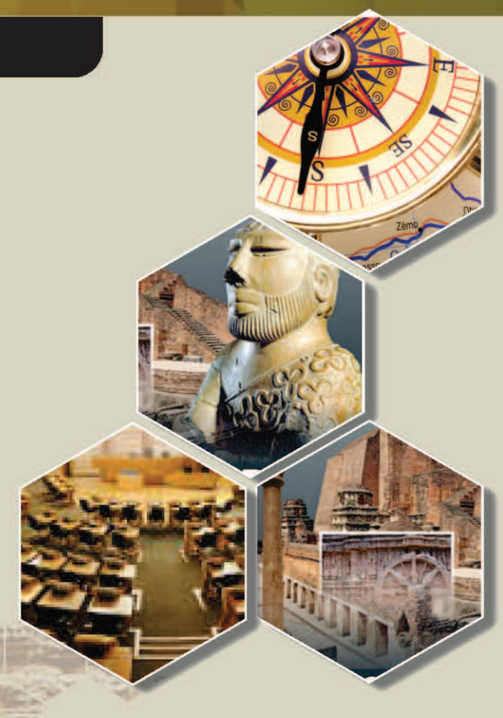

1MAHIN3

DR. C.V. RAMAN UNIVERSITY

Chhattisgarh, Bilaspur A STATUTORY UNIVERSITY UNDER SECTION 2(F) OF THE UGC ACT

1MAHIN3

भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य शास्त्र–I

1MAHIN3

भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य शास्त्र–I

Credit- 4

Subject Expert Team

Dr. Shahid Hussain, Dr. C.V. Raman University, Kota, Bilaspur, Chhattisgarh

Dr. Aanchal Shrivastave, Dr. C.V. Raman University, Kota, Bilaspur, Chhattisgarh

Dr. Mithalesh Singh Rajput, Dr. C.V. Raman University, Kota, Bilaspur, Chhattisgarh

Dr. Manju Bhatt, Dr. C.V. Raman University, Kota, Bilaspur, Chhattisgarh

Dr. Kalpana Abhishek Pathak, *Department of Hindi, Govt. College, Kotari, Mungeli, Chhattisgarh*

Dr. Radha Sharma, Dr. C.V. Raman University, Kota, Bilaspur, Chhattisgarh

Course Editor:

- **Dr. Shraddha Hirkane, Associate Professor**
  Depatment of Hindi Kalinga University Raipur Chhattisgarh

Unit Written By:

1. Dr. Shahid Hussain

(Assistant Professor, Dr. C. V. Raman University)

2. Miss. Pragya Sharma

(Assistant Professor, Dr. C. V. Raman University)

3. **Dr. Manju Bhatt**

(Assistant Professor, Dr. C. V. Raman University)

Warning: All rights reserved, No part of this publication may be reproduced or transmitted or utilized or stored in any form or by any means now known or hereinafter invented, electronic, digital or mechanical, including photocopying, scanning, recording or by any information storage or retrieval system, without prior written permission from the publisher.

Published by: Dr. C.V. Raman University Kargi Road, Kota, Bilaspur, (C. G.), Ph. +07753-253801,07753-253872 E-mail: info@cvru.ac.in, Website: www.cvru.ac.in

ब्लॉक -I

इकाई -1 भारतीय काव्यशास्त्र का विकासक्रम एवं नामकरण _____1

1.1 प्रस्तावना

1.2 उद्देश्य

1.3 भारतीय काव्यशास्त्र का उद्भव

1.4 काव्यशास्त्र के अध्ययन की उपयोगिता व नामकरण

1.5 काव्यशास्त्र की साहित्य में भूमिका

1.6 काव्यात्मा का अन्वेषण

1.7 संस्कृत काव्यशास्त्र की सुदीर्घ परंपरा

1.8 सार - संक्षेप

1.9 मुख्य शब्द

1.10 स्वप्रगति परीक्षण प्रश्नों के उत्तर

1.11 संदर्भ ग्रंथ सूची

1.12 अभ्यास प्रश्न

इकाई - 2 काव्य के स्वरुप और प्रकार _____13

2.1 प्रस्तावना

2.2 उद्देश्य

2.3 काव्य लक्षण

2.4 काव्य के हेतु

2.5 काव्य का प्रयोजन

2.6 बोधगम्य प्रश्न

2.7 काव्य के भेद

2.8 सार संक्षेप

2.9 मुख्य शब्द
2.10 स्वप्रगति परीक्षण प्रश्नों के उत्तर
2.11 संदर्भ ग्रंथ सूची
2.12 अभ्यास प्रश्न

इकाई - 3 रस सिद्धांत 41

3.1 प्रस्तावना
3.2 उद्देश्य
3.3 रस की परिभाषा एवं स्वरुप
3.4 रस की निष्पत्ति
3.5 साधारणीकरण
3.6 सहृदय की अवधारणा
3.7 सार संक्षेप
3.8 मुख्य शब्द
3.9 स्वप्रगति परीक्षण प्रश्नों के उत्तर
3.10 संदर्भ ग्रंथ सूची
3.11 अभ्यास प्रश्न

इकाई 4 अलंकार सिद्धांत 68

4.1 प्रस्तावना
4.2 उद्देश्य
4.3 अलंकार की अवधारणा
4.4 अलंकार सिद्धांत की प्रमुख स्थापनाएं
4.5 अलंकारों का वर्गीकरण
4.6 प्रमुख अलंकार
4.7 सार संक्षेप
4.8 मुख्य शब्द

4.9 स्वप्रगति परीक्षण प्रश्नों के उत्तर
4.10 संदर्भ ग्रंथ सूची
4.11 अभ्यास प्रश्न

ब्लॉक -II

इकाई 5 रीति सिद्धांत _____ **103**

5.1 प्रस्तावना
5.2 उद्देश्य
5.3 रीति का स्वरुप
5.4 रीति एवं शैली
5.5 काव्य गुण
5.6 रीति सिद्धांत की प्रमुख स्थापनाएं
5.7 सार - संक्षेप
5.8 मुख्य शब्द
5.9 स्वप्रगति परीक्षण प्रश्नों के उत्तर
5.10 संदर्भ ग्रंथ सूची
5.11 अभ्यास प्रश्न

इकाई 6 ध्वनि सिद्धांत _____ **119**

6.1 प्रस्तावना
6.2 उद्देश्य
6.3 ध्वनि का स्वरुप
6.4 ध्वनि सिद्धांत की प्रमुख स्थापनाएं
6.5 ध्वनि काव्य के प्रमुख भेद
6.6 सार - संक्षेप
6.7 मुख्य शब्द

6.8 स्वप्रगति परीक्षण प्रश्नों के उत्तर
6.9 संदर्भ ग्रंथ सूची
6.10 अभ्यास प्रश्न

इकाई 7 औचित्य सिद्धांत _____134

7.1 प्रस्तावना
7.2 उद्देश्य
7.3 औचित्य का स्वरुप
7.4 औचित्य की प्रमुख स्थापनाएं
7.5 औचित्य के भेद
7.6 सार - संक्षेप
7.7 मुख्य शब्द
7.8 स्वप्रगति परीक्षण प्रश्नों के उत्तर
7.9 संदर्भ ग्रंथ सूची
7.10 अभ्यास प्रश्न

इकाई 8 वक्रोक्ति सिद्धांत_____150

8.1 प्रस्तावना
8.2 उद्देश्य
8.3 वक्रोक्ति का स्वरुप
8.4 वक्रोक्ति के भेद
8.5 वक्रोक्ति और अभिव्यंजना
8.6 सार - संक्षेप
8.7 मुख्य शब्द
8.8 स्वप्रगति परीक्षण प्रश्नों के उत्तर
8.9 संदर्भ ग्रंथ सूची
8.10 अभ्यास प्रश्न

ब्लॉक -III

इकाई 9 आचार्य रामचंद्र शुक्ल _____170

9.1 प्रस्तावना
9.2 उद्देश्य
9.3 लोकमंगल की भावना को महत्व
9.4 सगुणवादी धारा के प्रशंसक
9.5 रहस्यवाद सम्बन्धी मत
9.6 छायावाद पर दृष्टिकोण
9.7 सार - संक्षेप
9.8 मुख्य शब्द
9.9 स्वप्रगति परीक्षण प्रश्नों के उत्तर
9.10 संदर्भ ग्रंथ सूची
9.11 अभ्यास प्रश्न

इकाई 10 आचार्य नंददुलारे बाजपेयी_____181

10.1 प्रस्तावना
10.2 उद्देश्य
10.3 रस निष्पत्ति
10.4 साधारणीकरण की सीमा
10.5 आचार्य शुक्ल से मत वैभिन्य व छायावाद की प्रतिष्ठा
10.6 प्रगतिवादी साहित्य का चिंतन
10.7 प्रयोगवादी साहित्य का चिंतन
10.8 विभिन्न वादों पर चिंतन
10.9 सार - संक्षेप
10.10 मुख्य शब्द
10.11 स्वप्रगति परीक्षण प्रश्नों के उत्तर

10.12 संदर्भ ग्रंथ सूची
10.13 अभ्यास प्रश्न

इकाई 11 आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी 195

11.1 प्रस्तावना
11.2 उद्देश्य
11.3 रस सम्बन्धी दृष्टिकोण
11.4 रस व् अलंकार चिंतन
11.5 भाषा समस्या का स्वरुप
11.6 प्रगतिवादी साहित्यालोचन
11.7 सौंदर्य व् संस्कृति बोध
11.8 सार - संक्षेप
11.9 मुख्य शब्द
11.10 स्वप्रगति परीक्षण प्रश्नों के उत्तर
11.11 संदर्भ ग्रंथ सूची
11.12 अभ्यास प्रश्न

इकाई 12 डॉ रामविलास शर्मा 211

12.1 प्रस्तावना
12.2 उद्देश्य
12.3 सैद्धांतिक समीक्षा
12.4 रूप, भावना और विचारों के समन्वय से कला सृष्टि
12.5 काव्य का माध्यम
12.6 सौंदर्य की सत्ता
12.7 रस सम्बन्धी विवेचन
12.8 मार्क्सवाद की परख
12.9 सार - संक्षेप
12.10 मुख्य शब्द

12.11 स्वप्रगति परीक्षण प्रश्नों के उत्तर
12.12 संदर्भ ग्रंथ सूची
12.13. अभ्यास प्रश्न

ब्लॉक -IV

इकाई 13 हिंदी आलोचना का विकास_____226

13.1 प्रस्तावना
13.2 उद्देश्य
13.3 हिंदी आलोचना का विकासक्रम
13.4 हिंदी के प्रमुख आलोचक और उनकी आलोचना दृष्टि
13.5 हिंदी के प्रमुख आलोचक एवं आलोचनाएँ
13.6 सार - संक्षेप
13.7 मुख्य शब्द
13.8 स्वप्रगति परीक्षण प्रश्नों के उत्तर
13.9 संदर्भ ग्रंथ सूची
13.10 अभ्यास प्रश्न

इकाई 14 मनोविश्लेषणवाद_____249

14.1 प्रस्तावना
14.2 उद्देश्य
14.3 मनोविश्लेषणवाद का स्वरुप
14.4 मनोविश्लेषणवाद सिद्धांत
14.5 युंग पद्धति
14.6 मनोविश्लेषणवाद की प्रमुख विशेषताएं
14.7 सार - संक्षेप
14.8 मुख्य शब्द
14.9 स्वप्रगति परीक्षण प्रश्नों के उत्तर

14.10 संदर्भ ग्रंथ सूची
14.11 अभ्यास प्रश्न

इकाई 15 शैली विज्ञान 263

15.1 प्रस्तावना
15.2 उद्देश्य
15.3 शैली विज्ञान का स्वरुप
15.4 शैली विज्ञान की अवधारणा
15.5 शैली विज्ञान का विकास
15.6 सार - संक्षेप
15.7 मुख्य शब्द
15.8 स्वप्रगति परीक्षण प्रश्नों के उत्तर
15.9 संदर्भ ग्रंथ सूची
15.10 अभ्यास प्रश्न

ब्लॉक - I

इकाई -1

भारतीय काव्यशास्त्र का विकासक्रम एवं नामकरण

1.1 प्रस्तावना

1.2 उद्देश्य

1.3 भारतीय काव्यशास्त्र का उद्भव

1.4 काव्यशास्त्र के अध्ययन की उपयोगिता व नामकरण

1.5 काव्यशास्त्र की साहित्य में भूमिका

1.6 काव्यात्मा का अन्वेषण

1.7 संस्कृत काव्यशास्त्र की सुदीर्घ परंपरा

1.8 सार - संक्षेप

1.9 मुख्य शब्द

1.10 स्वप्रगति परीक्षण प्रश्नों के उत्तर

1.11 संदर्भ ग्रंथ सूची

1.12 अभ्यास प्रश्न

1.1 प्रस्तावना

इस इकाई में भारतीय काव्यशास्त्र के उद्भव, विकास और उसके प्रमुख सिद्धांतों का विस्तृत अध्ययन किया गया है। संस्कृत काव्यशास्त्र की परंपरा को भारतीय काव्यशास्त्र का मूल मानते हुए, रीतिकालीन और हिंदी काव्यशास्त्र की परंपराओं को संस्कृत के सिद्धांतों से प्रभावित बताया गया है। इकाई में काव्यशास्त्र के नामकरण की विभिन्न संज्ञाओं जैसे- काव्यशास्त्र, अलंकारशास्त्र, साहित्यशास्त्र, आदि का विश्लेषण करते हुए 'काव्यशास्त्र' शब्द को सर्वाधिक उपयुक्त माना गया है। इसमें काव्यशास्त्र के अनुशासन और औचित्य जैसे तत्वों का महत्व

समझाते हुए श्रेष्ठ काव्य रचना के लिए काव्यशास्त्र के अध्ययन की अनिवार्यता पर बल दिया गया है। काव्यशास्त्र के अध्ययन की आवश्यकता, काव्य के सौंदर्य और प्रभाव को परखने के लिए किस प्रकार उपयोगी है, इसे भी स्पष्ट किया गया है। इस इकाई के माध्यम से आप भारतीय काव्यशास्त्र के प्रमुख सिद्धांतों, आचार्यों और उनके योगदान के साथ-साथ काव्यशास्त्र के विकास में विभिन्न सिद्धांतों की भूमिका को जान सकेंगे।

1.2 उद्देश्य

प्रिय शिक्षार्थियों, इस इकाई के अध्ययन के बाद आप निम्नलिखित पहलुओं को समझ सकेंगे:

- काव्यशास्त्र का अध्ययन करने से पूर्व काव्य और शास्त्र का मूल ज्ञान।
- काव्य की परिभाषा, उसके हेतु, प्रयोजन, लक्षण और प्रकारों की जानकारी।
- काव्य की परिभाषा की स्पष्ट और गहन समझ।
- काव्य रचना के लिए आवश्यक प्रतिभा का स्वरूप, जिसमें यह विचार कि यह प्रतिभा जन्मजात होती है या अर्जित की जा सकती है।
- काव्य रचना के प्रयोजन और उद्देश्यों की समझ।
- काव्य के प्रकारों और उनकी विशिष्टताओं का अवबोध।

1.3 भारतीय काव्यशास्त्र का उद्भव

संस्कृत काव्यशास्त्र ही मूलतः भारतीय काव्यशास्त्र है क्योंकि संस्कृत काव्यशास्त्र के पश्चात रीतिकालीन काव्यशास्त्र हो या हिंदी काव्यशास्त्र, उनमें संस्कृत काव्यशास्त्रीय सिद्धांतों की परंपरा ही निरंतर प्रवाहित होती रही है। रीतिकालीन या हिंदी काव्यशास्त्रियों ने किसी नए सिद्धांत की स्थापना नहीं की। अतः भारतीय काव्यशास्त्र कहने का तात्पर्य संस्कृत काव्यशास्त्र ही है।

भारतीय काव्यशास्त्र काव्य का मेरुदंड है। काव्य के दृश्य और श्रव्य दो भेद हैं। इनमें श्रव्य को भी दो भागों में बांटा गया है-गद्य और पद्म। चूंकि पद्य काव्य ही काव्य के लक्षणों को विशेष रूप से धारण किए रहता है अतः काव्यशास्त्रियों ने इसे ही विवेचन का विषय चुना और माना। श्रेष्ठ काव्य की रचना के लिए काव्यशास्त्र का अध्ययन आवश्यक है। काव्य रचना के लिए परिपक्व और स्वस्थ भाषा शैली, अभिव्यक्ति का कौशल और सौंदर्य, शब्दों का चयन और इन सबका सुंदर संतुलन, औचित्य विचार आदि का विवेक और सामर्थ्य ये सब काव्यशास्त्र के अध्ययन से ही प्राप्त होते हैं।

1.4 काव्यशास्त्र के अध्ययन की उपयोगिता व नामकरण

काव्य के सौंदर्य और प्रभाव को परखने के लिए काव्यशास्त्र का अध्ययन किया जाता है। काव्यशास्त्र को कई नाम दिए गए। विजयेंद्र स्नातक 'हिंदी काव्यशास्त्र की परंपरा' की भूमिका में कहते हैं-"यदि संपूर्ण वांड्मय का इस संदर्भ में अनुशीलन किया जाए तो काव्यशास्त्र के लिए मुख्यतः पांच शब्दों का प्रयोग होता है। ये पांच शब्द हैं-काव्यशास्त्र, क काव्यालंकार, अलंकारशास्त्र, साहित्यशास्त्र और क्रियाकलाप। इन पांचों में अलंकार शब्द का प्रयोग प्राचीनतम है।" इन पांचों नामों में से काव्यशास्त्र नाम को ही सटीक मानते हुए डॉ. भगीरथ मिश्र 'हिंदी काव्यशास्त्र का इतिहास' में कहते हैं" अलंकार शास्त्र से अलंकार के विशेष विवेचन का ही अभिप्राय निकलता है। काव्य के स्वरूप और उसकी समस्याओं पर विचार करने वाले विषय को काव्यशास्त्र ही कहना विशेष उपयुक्त है। क्योंकि इसके अंतर्गत अलंकारों के अतिरिक्त अन्य विषय भी समाविष्ट रहते हैं। आजकल साहित्य और काव्य के अर्थों में व्यापकता की दृष्टि से कुछ अंतर है। साहित्य शब्द को बहुधा हम शास्त्रीय, वैज्ञानिक एवं रमणीय सभी प्रकार की रचनाओं के लिए प्रयुक्त करते हैं। अतः साहित्य शास्त्र से काव्यशास्त्र शब्द हमारे उद्देश्य की पूर्ति अधिक स्पष्टता के साथ करता है।"

काव्यशास्त्र के पांच नामों में से साहित्य शास्त्र और अलंकार शास्त्र सर्वाधिक प्रचलित रहे। संस्कृत की काव्यशास्त्र परंपरा के आचार्यों जैसे- भामह, उद्भट, रुद्रट, वामन आदि ने अपने ग्रंथों के नामकरण में अलंकार शब्द को प्रमुखता दी। किसी ने 'काव्यालंकार', किसी ने 'सौंदर्यालंकार', किसी ने 'अलंकार सर्वस्व' नाम से अपने ग्रंथ का नामकरण किया। इसी तरह 'साहित्य-मीमांसा', 'साहित्य दर्पण', 'साहित्य-विद्या' आदि नामकरण भी चर्चित हुए। पंडित विश्वनाथ ने अपने सुप्रसिद्ध और महत्वपूर्ण ग्रंथ का नाम 'साहित्य दर्पण' रखकर साहित्य शब्द को प्रतिष्ठा दिलाई किंतु परवर्ती काल में आचार्य मम्मट द्वारा स्थापित 'काव्यशास्त्र' शब्द ही प्रतिष्ठित और प्रसिद्ध हुआ।

1.5 काव्यशास्त्र की साहित्य में भूमिका

काव्यशास्त्र काव्य के स्वरूप और उसकी समस्याओं पर विचार करता है। काव्य रचना के लिए जिस अनिवार्य अनुशासन की आवश्यकता होती है, भारतीय काव्यशास्त्र उसका निर्धारण करता है। राममूर्ति त्रिपाठी कहते हैं, "काव्य के शास्त्र से अभिप्राय उसके शासन से है-नियम विधान से है। शास्त्र इसलिए शास्त्र माना जाता है कि वह शासन करता है, कवियों को निरंकुश होने से रोकता है। काव्य का अनुशासन ही काव्य का शास्त्र है।" वाग्भट्ट 'काव्यानुशासन' की चर्चा करते हैं, दशरूपककार धनंजय भी अनुशासन का ही समर्थन करते हैं जबकि महाभाष्यकार पतंजलि वैयाकरण होने के नाते 'शब्दशासन' की बात करते हैं। अनुशासनहीनता काव्य में अनौचित्य को जन्म देती है तथा अनौचित्य से बड़ा 'रसभंग' का दूसरा कारण नहीं होता। औचित्य निबंधन ही रस के परम समीप ले जाता है। आनंदवर्धन कहते हैं -

अनौचित्यावृते नान्यद्रसभंगस्य कारणम्।
औचित्योपनिबंधस्तु रसस्योपनिषत् परा॥

क्षेमेंद्र कहते हैं-' औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्।'

औचित्य रसयुक्त काव्य को स्थिर जीवन शक्ति प्रदान करता है। औचित्य के बिना काव्य में रस निष्पत्ति संभव नहीं है। औचित्य का आकलन करना काव्य को अनुशासित करने की प्रक्रिया है। विजयेंद्र स्नातक कहते हैं-'काव्य के साथ शास्त्र शब्द जुड़ने से सामान्यतः शास्त्र शब्द का 'शासनात् शास्त्रम्' अर्थ होता है अर्थात जो काव्य का शासन करे, वह काव्यशास्त्र है, किंतु काव्य शासन नहीं करता। विधि-निषेध की सीमाओं में काव्य को बांधा नहीं जा सकता। अतः शास्त्र शब्द का दूसरा अर्थ 'शंसनात् शास्त्रम्' अर्थात विषय प्रतिपादन करने वाला, यह अर्थ इस संदर्भ में समीचीन प्रतीत होता है।' काव्यशास्त्र के समुचित ज्ञान के बिना काव्य का गंभीर अनुशीलन असंभव है।

• काव्यशास्त्र के अध्येतव्य विषय

आचार्य राजशेखर ने 'काव्य-मीमांसा' में लिखा है -

इह हि वाङ्मयमुभयथा शास्त्रं काव्यं च।

शास्त्र पूर्वकत्वात् काव्यानां पूर्व शास्त्रेष्वभिनिविशेषः

नहयप्रवर्तितप्रदीपास्ते तत्वार्थमसामर्थ्यध्यक्षयन्ति।

अर्थात शास्त्र और काव्य इन भेदों से वाङ्मय दो प्रकार का है। काव्य ज्ञान के लिए शास्त्र आवश्यक है। जैसे बिना दीपक के पदार्थों का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार शास्त्र ज्ञान के बिना काव्य ज्ञान असंभव है। अतः काव्य से पहले शास्त्र का अभ्यास करना आवश्यक है।' काव्यशास्त्र में काव्य के स्वरूप और समस्याओं के साथ-साथ अलंकारों तथा काव्य से संबंधित अन्य विषयों का भी अध्ययन किया जाता है।

1.6 काव्यात्मा का अन्वेषण

काव्य आत्मा की कला है। भारतीय काव्यशास्त्रियों एवं संस्कृत के आचार्यों की यह जिज्ञासा थी, उत्कंठा थी कि काव्य में ऐसा कौन सा प्रभावी तत्व है. सार तत्व है जिसके कारण लोग काव्य की ओर आकर्षित होते हैं, जिसके काण सहृदय झूम उठते हैं, जिसका प्रभाव हृदय पर अंकित हो जाता है? इस जिज्ञासा, उत्कंठा को शांत करने के लिए काव्य की आत्मा खोजने और उसकी उत्कृष्टता का रहस्य जानने की प्रक्रिया में काव्यशास्त्र के विभिन्न सिद्धांतों और संप्रदायों का जन्म और विकास हुआ। जिस प्रकार दर्शनशास्त्री आत्म-तत्व को जानने की प्रक्रिया में स्थूल से सूक्ष्म और सूक्ष्मता तक पहुंचते हैं उसी प्रकार काव्यशास्त्र के अध्येता, आचार्यगण काव्य के बाह्य शारीरिक धर्म यानि अलंकार और भीतरी आत्मिक धर्म यानि रस के बीच यात्रा, तर्क-वितर्क, विवेचन करते रहे और इस तरह पांच संप्रदाय विकसित और प्रतिष्ठित हुए। 'रस' से बात आरंभ हुई। भरतमुनि ने 'नाट्यशास्त्र' में कहा- 'विभावानुभावव्यभिचारी-सयोंगाद्रसनिष्पत्तिः।' रस ही काव्य की आत्मा है, ऐसा मानने वाले आचार्यों के साथ 'अलंकार' को काव्य की आत्मा मानने वाले आचार्यों की संख्या भी बहुत अधिक थी। दंडी ने 'काव्यादर्श' में कहा- 'काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते।' रीति को काव्य की आत्मा मानने वाले, रीति-सिद्धांत को प्रतिष्ठित करने वाले आचार्य वामन ने कहा- 'रीतिरात्मा काव्यस्य'। आचार्य कुंतक ने कहा- 'वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्' अर्थात वक्रोक्ति ही काव्य का जीवन है। आचार्य काव्य के आनंदवर्धन ने 'ध्वनि' को काव्य की आत्मा घोषित करते हुए कहा- 'काव्यस्यात्मा ध्वनिरितिबुधैः यः समाम्नात् पूर्वम्।' इन पांच प्रतिष्ठित संप्रदायों के बाद दो सिद्धांत और विकसित हुए- 'औचित्य' और 'चमत्कार'। क्षेमेंद्र ने 'औचित्य विचार' चर्चा में कहा- "औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्।" और विश्वेश्वर कविचंद्र ने 'चमत्कार चंद्रिका' में कहा -

"चमत्कारस्तु विदुषामानन्दपरिवाहकृत्।
गुणं रीतिं रसं वृत्तिं पाकशय्यामलङ्कृतिम्।।"

इस तरह सात सिद्धांतों का विकास हुआ। इनमें से छह सिद्धांतों (रस, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि और औचित्य) ने संप्रदाय का रूप धारण कर लिया किंतु सातवां 'चमत्कार' केवल सिद्धांत रूप में ही प्रचलित है।

1.7 संस्कृत काव्यशास्त्र की सुदीर्घ परंपरा

संस्कृत काव्यशास्त्र की सैद्धांतिक धारणाएं गहन, गंभीर और व्यापक हैं। काव्यशास्त्र के किसी भी पहलू, किसी भी स्तर, किसी भी तत्त्व या कोण का अध्ययन करना हो, संस्कृत काव्य शास्त्र हर दृष्टि से महत्वपूर्ण, उपयोगी, सक्षम और समर्थ है। विभिन्न आचार्यों ने अपने मतों को स्थापित किया और उनके परवर्ती आचार्यों ने उनके मतों का बड़ी शालीनता से खंडन करते हुए अपने एक नवीन मत को स्थापित किया। संस्कृत काव्यशास्त्र के प्रथम आचार्य भरतमुनि और उनके ग्रंथ 'नाट्यशास्त्र' को काव्यशास्त्र की परंपराओं में प्रथम ग्रंथ स्वीकार किया गया है जो रसवाद की प्रतिष्ठा करता है। भरत के नाट्यशास्त्र में पूर्ववर्ती कवियों और रचनाकारों का उल्लेख है अतः यह माना जाता है कि काव्यशास्त्र पर चर्चा, तर्क-वितर्क ईसवी सन् से कई शताब्दियों पूर्व आरंभ हो गए थे, लेकिन रसवादी आचार्य नंदिकेश्वर के ग्रंथ 'अभिनवदर्पण' के अलावा और कोई ग्रंथ उपलब्ध नहीं है। भरत के 'नाट्यशास्त्र' और राजशेखर के 'काव्य-मीमांसा' में 'अभिनवदर्पण' के रचयिता नंदिकेश्वर का उल्लेख है। इसके अतिरिक्त भरत, राजशेखर, शारदातनय, अभिनवगुप्त द्वारा लगभग 27 रचनाकारों का उल्लेख है। परवर्ती काल में 'अग्नि पुराण', 'विष्णुधर्मोत्तर' उपपुराण में भी रस, नृत्य और नाटकों का उल्लेख मिलता है। पी.वी. काणे ने 'संस्कृत काव्य शास्त्र का इतिहास' में इस पर विस्तार से लिखा है। रस परंपरा का आरंभ ऋग्वेद तथा अथर्ववेद के अभिचार मंत्रों, वाल्मीकि रामायण, महाभारत आदि से भी माने जाने का उल्लेख

कुछ आचार्यों ने किया है किंतु काव्यशास्त्र की दृष्टि से प्रामाणिक ग्रंथ भरतमुनि का 'नाट्यशास्त्र' ही है। अतः रसवादी आचार्य भरतमुनि के साथ ही काव्यशास्त्रीय सिद्धांतों की परंपरा प्रतिष्ठित हुई। भरत के पश्चात अनेक आचार्यों ने अपने-अपने महत्वपूर्ण ग्रंथ लिखे और अपने-अपने मतों को स्थापित किया; जैसे- भामह का 'काव्यालंकार', आनंदवर्धन का 'ध्वन्यालोक', दंडी का 'काव्यादर्श', वामन का 'अलंकार सूत्र', रुद्रट का 'काव्यालंकार', राजशेखर की 'काव्य मीमांसा' कुंतक का 'वक्रोक्ति जीवितम्', धनंजय का 'दशरूपक', भोज का 'सरस्वतीकंठाभरण' और श्रृंगारप्रकाश', मम्मट का 'काव्यप्रकाश', पंडित विश्वनाथ का 'साहित्यदर्पण', पंडितराज जगन्नाथ का 'रसगंगाधर', जगदेव का 'चंद्रलोक' आदि। कुछ आचार्यों ने किसी एक सिद्धांत जैसे रस या अलंकार, रीति या वक्रोक्ति को लेकर रचना की तो अधिकांश ने अपने ग्रंथ में सभी सिद्धांतों की चर्चा करते हुए काव्यशास्त्र के किसी एक विषय पर विस्तार से प्रकाश डाला।

काव्य का स्वरूप, महत्व, गुण-दोष, उत्कृष्टता, शब्द-शक्ति आदि पर विचार प्रकट करते हुए प्रथम पांच सिद्धांतों रस, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति और ध्वनि को मानने वाले लगभग सभी रचनाकारों ने औचित्य का समर्थन किया है। औचित्य का छठे मत के रूप में उल्लेख करते हुए आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी 'औचित्य विमर्श' में कहते हैं-"पांचों मतों के साथ मिलकर यह सिद्धांत काव्य-सिद्धांत की संख्या को छह तक पहुंचा देता है। कहीं-कहीं चमत्कारवाद का भी उल्लेख मिलता है। अतः यदि इसे भी जोड़ दिया जाए तो सब मिलकर सात हो जाते हैं।" पंडित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने अपने ढंग से महामहोपाध्याय कुप्पूस्वामी द्वारा प्रस्तुत वृत्त की मनोरम व्याख्या करते हुए काव्य मतों की संख्या आठ तक (वाङ्मय विमर्श) में पहुंचा दी है-चारुत्व प्रवाह में चार-वक्रोक्ति, रीति, गुण एवं अलंकार तथा इन सबको उदस्थ कर जाने वाले अनुभूति प्रवाह में चार-औचित्य, रस, ध्वनि एवं अनुमान। इन आठों के साथ चमत्कारवाद को मिलाया जाए तो संख्या नव तक पहुंच जाएगी। यही नहीं 'अनुभूति सिद्धांत' की

तरह ध्वनिविरोधी बारह पक्षों की चर्चा जयरथ ने अपनी विमर्शिनी नामक 'अलंकार सर्वस्व' की टीका में की है।

स्वप्रगति परीक्षण

प्रश्न 1. संस्कृत काव्यशास्त्र की परंपरा में प्रथम आचार्य _____ माने जाते हैं।

प्रश्न 2. आचार्य आनंदवर्धन ने _____ नामक ग्रंथ की रचना की, जिसमें ध्वनि सिद्धांत को प्रतिपादित किया गया।

प्रश्न 3. संस्कृत काव्यशास्त्र में छठे सिद्धांत के रूप में _____ को माना गया है, जिसका समर्थन लगभग सभी रचनाकारों ने किया है।

प्रश्न 4. संस्कृत काव्यशास्त्र के ग्रंथ 'नाट्यशास्त्र' का प्रमुख तत्त्व _____ है, जिसे भरतमुनि ने प्रतिपादित किया।

1.8 सार - संक्षेप

इस इकाई में भारतीय काव्यशास्त्र की उत्पत्ति, उसकी परंपरा और उसके विकास को संक्षेप में समझाया गया है। संस्कृत काव्यशास्त्र को भारतीय काव्य की आधारशिला मानते हुए इसकी प्रमुख धाराओं और आचार्यों के योगदान पर विशेष ध्यान दिया गया है। काव्यशास्त्र के विभिन्न नामों–जैसे 'काव्यालंकार', 'अलंकारशास्त्र', और 'साहित्यशास्त्र'–के माध्यम से यह स्पष्ट किया गया है कि काव्यशास्त्र मात्र एक कला नहीं, बल्कि शास्त्रीय अनुशासन का एक महत्वपूर्ण क्षेत्र है। इकाई में प्रमुख आचार्य पंडित विश्वनाथ और मम्मट के काव्य संबंधी सिद्धांतों को विशेष रूप से रेखांकित किया गया है, जो काव्य के औचित्य, सौंदर्य और उसकी सार्थकता के महत्व को दर्शाते हैं।

इसके अतिरिक्त, काव्यशास्त्र में रस, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि, औचित्य और चमत्कार जैसे सिद्धांतों की उपयोगिता पर प्रकाश डाला गया है, जो श्रेष्ठ

काव्य के निर्माण में सहायक होते हैं। आचार्य भरतमुनि के 'नाट्यशास्त्र' और अन्य आचार्यों के योगदान के संदर्भ में काव्यशास्त्र के उद्देश्यों और उसकी संपूर्णता को प्रस्तुत किया गया है। यह इकाई पाठकों को इस बात का बोध कराती है कि श्रेष्ठ काव्य का सृजन एक अनुशासित प्रक्रिया है, जहाँ रचनाकार को कला के विभिन्न पहलुओं का सम्यक ज्ञान होना आवश्यक है।

1.9 मुख्य शब्द

- काव्यशास्त्र: वह शास्त्र जो काव्य की उत्पत्ति, उसके गुण-दोष, रस, अलंकार, और अन्य काव्य-तत्वों का अध्ययन करता है।
- अलंकार: काव्य में सुंदरता और आकर्षण बढ़ाने वाले शब्दों या अर्थों की सजावट; काव्य की शोभा बढ़ाने वाले विशेषण या अलंकरण।
- रस: वह आनंद या भावनात्मक अनुभूति जो पाठक या दर्शक को काव्य, नाटक, या अन्य कलात्मक अभिव्यक्तियों से मिलती है, जैसे कि शृंगार, करुण, वीर रस आदि।
- ध्वनि: काव्य का वह तत्व जिसमें शब्दों के परे एक सूक्ष्म और गूढ़ अर्थ छुपा होता है; यह अप्रत्यक्ष अभिव्यक्ति का प्रमुख माध्यम है।
- रीति: - काव्य रचना की विशिष्ट शैली या पद्धति, जिससे काव्य में निखार आता है; इसके माध्यम से लेखक का व्यक्तिगत और सांस्कृतिक प्रभाव झलकता है।
- वक्रोक्ति: - काव्य में अप्रत्यक्ष और घुमावदार तरीके से अर्थ को प्रस्तुत करने की कला, जिससे काव्य का सौंदर्य और प्रभाव बढ़ता है।
- औचित्य: - काव्य के किसी तत्व का उपयुक्त और सटीक प्रयोग; यह सुनिश्चित करता है कि काव्य के हर अंग का स्थान, प्रयोजन और भाव उचित हो।

- चमत्कार: - वह विशेष प्रभाव जो काव्य में पाठक के मन पर गहरा असर डालता है; यह अप्रत्याशितता और उत्कृष्टता के कारण पाठकों को आकर्षित करता है।
- नाट्यशास्त्र: - आचार्य भरतमुनि द्वारा रचित ग्रंथ, जिसमें नाटक और अन्य कलाओं के सिद्धांतों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है; यह काव्य और नाट्य कला का प्रमुख ग्रंथ है।
- आचार्य: - वह विद्वान या शिक्षक जो किसी विशिष्ट विषय के सिद्धांतों और प्रथाओं का प्रतिपादन करता है; काव्यशास्त्र में प्रमुख आचार्यों का उल्लेख उनके योगदान के लिए किया जाता है, जैसे आचार्य मम्मट और पंडित विश्वनाथ।

1.10 स्वप्रगति परीक्षण प्रश्नों के उत्तर

प्रगति की जाँच

उत्तर: 1. **भरतमुनि**

उत्तर: 2. **ध्वन्यालोक**

उत्तर: 3. **औचित्य**

उत्तर: 4. **रस**

1.11 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. काव्यशास्त्र और हिंदी साहित्य – डॉ. रमेश चंद्र त्रिपाठी (2022)
2. 'हिंदी काव्य का इतिहास' – डॉ. नगेन्द्र, लोकभारती प्रकाशन, 2010
3. भारतीय एवं पश्चिमी काव्यशास्त्र – डॉ. विवेक शंकर (2024)
4. 'हिंदी काव्यशास्त्र के आधार' – डॉ. प्रभाकर शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ, 2015
5. काव्यशास्त्र के नए आयाम – डॉ. विवेक राठी (2021)
6. 'काव्य-मीमांसा: स्वरूप और सौंदर्य' – डॉ. माधव शुक्ल, वाणी प्रकाशन, 2018

1.11 अभ्यास प्रश्न

1. काव्य के लक्ष्ण क्या होते हैं, और ये काव्य की सुंदरता को कैसे प्रभावित करते हैं?
2. 'वक्रोक्ति' के सिद्धांत का वर्णन कीजिए और इसका काव्य में उपयोग कैसे होता है?
3. 'ध्वनि' सिद्धांत किस प्रकार से काव्य में गूढ़ अर्थ प्रकट करता है? उदाहरण सहित समझाइए।
4. 'रस' और 'भाव' में क्या अंतर है, और काव्य में इनका महत्व क्या है?
5. काव्य में 'औचित्य' का क्या अर्थ है और इसे रचना में बनाए रखना क्यों आवश्यक है?

इकाई - 2

काव्य के स्वरुप और प्रकार

2.1 प्रस्तावना

2.2 उद्देश्य

2.3 काव्य लक्षण

2.4 काव्य के हेतु

2.5 काव्य का प्रयोजन

2.6 बोधगम्य प्रश्न

2.7 काव्य के भेद

2.8 सार संक्षेप

2.9 मुख्य शब्द

2.10 स्वप्रगति परीक्षण प्रश्नों के उत्तर

2.11 संदर्भ ग्रंथ सूची

2.12 अभ्यास प्रश्न

2.1 प्रस्तावना

यह पाठ काव्य के स्वरूप, लक्षण, और हेतुओं पर विस्तृत रूप से चर्चा करता है। इसमें काव्य के तत्वों जैसे रस, अलंकार, वक्रोक्ति, ध्वनि, और औचित्य के महत्व को दर्शाया गया है और यह बताया गया है कि काव्य इन सभी लक्षणों से युक्त होता है, जिनका उचित तालमेल काव्य की सुंदरता और प्रभाव को बढ़ाता है।

काव्य के हेतुओं पर भी चर्चा की गई है, जिनमें प्रमुख रूप से काव्य-प्रतिभा, लोक-व्यवहार, और वेद ज्ञान का उल्लेख किया गया है। विभिन्न आचार्यों ने काव्य की

रचना के कारणों और प्रक्रियाओं को विभिन्न दृष्टिकोणों से समझाया है, जिसमें शारीरिक, मानसिक, और आध्यात्मिक दृष्टिकोण शामिल हैं। काव्य की सृजन प्रक्रिया को एक समग्र प्रक्रिया के रूप में प्रस्तुत किया गया है, जिसमें शारीरिक, मानसिक, और आत्मिक पहलू महत्वपूर्ण होते हैं।

2.2 उद्देश्य

प्रिय शिक्षार्थियों, इस इकाई के अध्ययन के बाद आप निम्नलिखित पहलुओं को समझ सकेंगे:

- काव्य का स्वरूप और उसके गुण, जैसे दोष रहित, गुणयुक्त, अलंकारों से सुसज्जित और रस से परिपूर्ण होना।
- काव्य के हेतुओं को विभिन्न आचार्यों के दृष्टिकोण से, जिसमें प्रतिभा, श्रम, अभ्यास और ज्ञान का महत्व शामिल है।
- काव्य में रस, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति और ध्वनि के योगदान और उनके प्रभाव।
- काव्य रचना की प्रक्रिया के शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक पहलुओं का महत्व, जो काव्य निर्माण में सहायक होते हैं।

2.3 काव्य लक्षण

काव्य मानव जीवन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। कविराज विश्वनाथ ने साहित्य दर्पण में लिखा है -

चतुर्वर्गफलप्राप्तिः सुखादल्पधियामति।
काव्यादेव यतस्तेन तत्स्वरूपं निरूप्यते ।।

अर्थात काव्य ऐसी वस्तु है, जिससे अल्पबुद्धि मानव को बिना किसी कष्ट साधना के धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूपी पुरुषार्थ चतुष्ट की प्राप्ति हुआ करती है। अतः जो काव्य मनुष्य के जीवन में इतना महत्व रखता है वह कैसा हो,

जिसे पढ़कर, आत्मस्थ करके मनुष्य चारों पुरुषार्थों को प्राप्त कर सके ? इसका उत्तर भोजराज ने अपने ग्रंथ में इस तरह दिया है -

अदोषं गुणवत्काव्यमलङ्कारैरलङ्कृतम्।
रसान्वितं कविः कुर्वन् कीर्तिं प्रीतिं च विन्दति ॥

अर्थात काव्य वह है जो निर्दोष हो, गुणयुक्त हो, अलंकारों से अलंकृत हो और रस समन्वित हो और कवि वह है जो ऐसे काव्य की रचना करता है एवं यश और कीर्ति पाया करता है। अनेक आचार्यों ने कुछ इसी तरह के काव्य को प्रेरक और सुफलदायक बताया। काव्य का स्वरूप उसके लक्षणों या गुणों द्वारा निर्धारित किया जाता है। अनेक विद्वानों ने काव्य के स्वरूप को निर्धारित करने के लिए अपने-अपने मतानुसार अनेक परिभाषाएं दी हैं। ये परिभाषाएं ही काव्य के लक्षणों को समेटे हुए हैं। काव्य में रस हो, अलंकार हों, जो यथायोग्य एवं यथास्थिति निर्धारित हों, उचित रीति से लिखा गया काव्य हो, ध्वनि की प्रधानता हो, वक्रोक्ति हो तथा इन सबका उचित रीति-नीति से समावेश किया गया हो तभी काव्य वस्तुतः काव्य कहलाएगा। उत्तम काव्य की संज्ञा प्राप्त करेगा। औचित्य के बिना इन लक्षणों से युक्त काव्य में भी दोष उत्पन्न हो जाएंगे और तब न अलंकार अलंकारी होगा, न रस रसत्व उत्पन्न करेगा। अतः काव्य के निम्नलिखित पांच लक्षणों-रस, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति और ध्वनि के साथ छठे लक्षण औचित्य का होना आवश्यक है। जैसे जीवन में औचित्य का महत्व है वैसे ही काव्य में भी। जीवन-मूल्य, सामाजिकता, नैतिक मूल्यों का निर्वाह औचित्य के आधार पर होता है। अनौचित्य के उपस्थित होते ही मनुष्य पतित हो जाता है, जीवन नीरस और बेरंग हो जाता है उसी तरह काव्य के लक्षणों के साथ औचित्य का नाता है। तरकारी में नमक या मसालों की मात्रा अनुचित हो तो तरकारी बेस्वाद हो जाती है उसी तरह काव्य में यदि करुण रस के प्रसंग में रस की मात्रा कम या ज्यादा हो या अन्य रस समाविष्ट हो जाएं तो काव्य निम्न

कोटि का हो जाता है। जिस तरह क्षिति, जल, पावक, गगन और समीर से मिलकर जीव के शरीर का निर्माण हुआ है उसी तरह ये काव्य लक्षण भी आपसी तालमेल से काव्य का निर्माण करते हैं। अतः सभी अपनी-अपनी स्थिति में महत्वपूर्ण हैं। इन लक्षणों को काव्य के गुण भी कह सकते हैं। किन गुणों से या किन लक्षणों से युक्त काव्य, काव्य की श्रेणी में आता है इस पर विचार करते हुए अनेक कथन सामने आते हैं-

1. आचार्य विश्वनाथ के अनुसार, "वाक्यम् रसात्मकं काव्यम्।" - साहित्यदर्पण
2. पंडितराज जगन्नाथ के अनुसार, "रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्।"
3. हेमचंद के अनुसार, "अदोषौ सगुणौ आलंकारौ च शब्दार्थौ काव्यम्।"
4. भामह के अनुसार, (1) "न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम्।" (2) "शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्।" - काव्यालंकार
5. दंडी के अनुसार, "काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते।" - काव्यादर्श
6. वामन के अनुसार-

(क) "काव्यशब्दोऽयं गुणालंकार संस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्ततेः।"

अर्थात गुणों तथा अलंकारों से भूषित शब्द और अर्थ के लिए काव्य शब्द का प्रयोग किया जाता है।

(ख) "काव्यं ग्राह्यमलंकारात्।" अर्थात काव्य अलंकार के कारण ग्राह्य होता है।

7. मम्मट के अनुसार, "तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावानलंकृती पुनः क्वापि।" अर्थात दोष रहित तथा गुण युक्त शब्द और अर्थ का सामंजस्य ही काव्य है।

कुछ विद्वानों द्वारा गुण को भी समाविष्ट कर काव्य लक्षणों-रस, ध्वनि, रीति, गुण, अलंकार, वक्रोक्ति और औचित्य, इन सातों को काव्य का अंग भी माना गया है। इनके बिना काव्य की स्थिति असंभव होती है। इन्हें स्वरूपाधायक उपादान तत्व कहते हैं। इनसे काव्य की शोभा तो बढ़ती ही है काव्य विशिष्ट भी बन जाता है। कुंतक वक्रोक्ति को ही काव्य का मूल बताते हैं।

8. कुंतक के अनुसार, "शब्दार्थौं सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनी। बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणी।"

अर्थात वक्रोक्ति युक्त पदरचना में सहभाव से व्यवस्थित शब्दार्थ ही काव्य है। वह वक्रोक्ति सामाजिकों को आह्लादित करती है। - वक्रोक्तिजीवितम्

9. जयदेव के अनुसार, "अंगीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती। असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलंकृती। - चंद्रालोक अर्थात जो लोग अलंकार रहित शब्दार्थ को काव्य मानते हैं वे अग्नि को भी उष्णता रहित क्यों नहीं मान लेते।

10. अग्निपुराण के अनुसार, "अलंकार रहिता विधवेव सरस्वती।" अर्थात अलंकार रहित सरस्वती विधवा है। किंतु दूसरी ओर वे रस को ही काव्य की आत्मा मानते हैं-"वाग्वैदग्ध्य प्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम्।" अग्निपुराणकार उक्ति चमत्कार को प्रधानता देते हैं तथा रस की सत्ता और महत्ता को स्वीकार करते हैं। आचार्य विश्वनाथ 'रसयुक्त वाक्य' को ही काव्य मानते हैं। पंडितराज जगन्नाथ कहते हैं-'जो शब्द रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करे वही वाक्य काव्य है।' अन्य चमत्कार मूलक तत्व रस के साथ पोषक तत्वों के रूप में उपस्थित रहते हैं यह विश्वनाथ और मम्मट दोनों आचार्यों ने स्पष्ट किया है। इसीलिए आचार्य विश्वनाथ की परिभाषा सटीक है। जैसे शौर्य आदि गुण आत्मा का उत्कर्ष करते हैं उसी तरह 'गुण' रसों के उत्कर्ष हेतु हैं। इसी तरह अलंकार वैसे ही शब्दार्थ के शोभाकारक अस्थाई धर्म हैं जैसे- कवच, कुंडल आदि आभूषण शरीर के। कहा जा सकता है कि काव्य उपरोक्त लक्षणों से संपन्न ऐसा साहित्य है जो सहृदय को भावलोक में पहुंचा देता है। राग-द्वेषादि से दूर कर सांसारिक बंधनों से मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करता है। व्यष्टि को समष्टि में लीन कर देता है जहां अपने-पराए का भाव शेष नहीं रह जाता।

11. "सगुण अलंकारन सहित दोषरहित जो होय। शब्द अर्थ वारो कवित विबुध कहत सब कोय।।"

- चिंतामणि

12. "काव्य आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति है।"

काव्य के सभी लक्षणों का अपना-अपना संप्रदाय और सिद्धांत है। इनके प्रकार, उपप्रकार हैं। काव्य के सभी लक्षण चाहे रस हो या अलंकार, रीति हो या वक्रोक्ति, ध्वनि हो या औचित्य सभी एक दूसरे से संबंधित हैं। रस, रीति और औचित्य सर्व समावेशी लक्षण हैं। सभी काव्य में किसी न किसी रूप में पाए जाते हैं। अलंकार बाह्य यानि शारीरिक होने के साथ-साथ आत्मा का गुण भी है जिससे आत्मा अलंकृत और प्रभा संपन्न होती है। वक्रोक्ति भी अलंकार का एक रूप है तथा ध्वनि भी काव्य के सभी प्रकारों में न्यूनाधिक हो या प्रबल और सटीक उपस्थित अवश्य होती है बल्कि ध्वनि युक्त काव्य को ही कुछ काव्यशास्त्रियों ने उत्तम काव्य की संज्ञा दी है। काव्य के इन लक्षणों के संस्थापक या प्रवर्तक काव्यशास्त्र के आचार्य हैं। जैसे 'रस' के भरतमुनि, 'अलंकार' के भामह, 'रीति' के वामन, 'वक्रोक्ति' के कुंतक, 'ध्वनि' के आनंदवर्धन, 'औचित्य' के क्षेमेंद्र।

2.4 काव्य के हेतु

काव्यशास्त्रियों के काव्य 'हेतु' अपनी स्वतंत्र सत्ता रखते हैं। न्यायदर्शन का 'हेतु' भी इनसे अंशतः मिलता जुलता है। दर्शनशास्त्र में इसे कारण कहा जाता है। 'हेतु' अर्थात वे साधन जो काव्य-रचना में कवि के सहायक होते हैं। कुछ आचार्य प्रतिभा को काव्यत्व का बीज मानते हैं और उसे ही 'हेतु' स्वीकार करते हैं। हेतु या कारण दो प्रकार के होते हैं- (1) उपादान (2) निमित्त। अग्निपुराण में लोक-व्यवहार तथा वेद के ज्ञान को काव्य- प्रतिभा की योनि कहा गया है तथा सिद्ध किए गए मंत्र के प्रभाव से जो काव्य निर्मित होता है उसे अयोनिज कहा गया है। इससे काव्य के तीन हेतुओं का पता चलता है- (1) काव्य-प्रतिभा (2) बेद ज्ञान और (3) लोक-व्यवहार। भामह भी प्रतिभा को मूल 'हेतु' मानते हुए लिखते हैं-

"गुरूपदेशादध्येतुं शास्त्रं जडधियोऽप्यलम्।

काव्यं तु जायते जातु कस्यचित् प्रतिभावतः॥"

अर्थात गुरु के उपदेश से शास्त्र का अध्ययन तो जड़बुद्धि भी कर सकता है। परंतु काव्य की रचना प्रतिभावान ही कर सकता है।

दंडी- तीन हेतुओं की चर्चा करते हैं- (1) नैसर्गिक प्रतिभा (2) लोकशास्त्र ज्ञान (3) अमंद अभियोग। दंडी प्रतिभा की महत्ता को स्वीकार करते हुए भी श्रम और यत्न को पर्याप्त महत्व देते हैं। वामन ने अनेक हेतुओं की चर्चा करते हुए उन्हें तीन वर्गों में विभाजित किया है- (1) लोक (2) विद्या (3) प्रकीर्ण। 'लोक' अर्थात लौकिक व्यवहार के ज्ञान को प्रथम स्थान दिया है। विद्या के अंतर्गत शब्द-शास्त्र, कोश, छंद शास्त्र, कला, दंडनीति आदि विद्याएं परिगणित की हैं। प्रकीर्ण के अंतर्गत लक्ष्य, ज्ञान, अभियोग, वृद्ध सेवा, अवेक्षण, प्रतिभान और अवधान क्रमशः को सम्मिलित किया है। प्रतिभा को तीसरे स्थान पर रखना अन्य आचार्यों को उचित नहीं जान पड़ा। कुंतक प्रतिभा को महत्व देते हैं लेकिन सर्वाधिक महत्वपूर्ण कवि स्वभाव को मानते हैं। वे कहते हैं सुकुमार स्वभाव से ही सुकुमार शक्ति उत्पन्न होती है।

मम्मट के अनुसार (1) शक्ति (2) निपुणता और (3) अभ्यास, ये तीन काव्य हेतु हैं। निपुणता और अभ्यास ये दो नवीन शब्द मम्मट ने प्रयोग किए हैं।

राजशेखर प्रतिभा को दो भागों में बांट देते हैं (1) कारयित्री (2) भावयित्री। कारयित्री प्रतिभा कवि में और भावयित्री प्रतिभा भावक के हृदय में निवास करती है। उन्होंने पुनः कारयित्री प्रतिभा को भी तीन भागों में बांट दिया (1) सहजा कारयित्री प्रतिभा (2) आहार्या कारयित्री प्रतिभा (3) औपदेशिकी कारयित्री प्रतिभा। इनकी व्याख्या करते हुए वे कहते हैं-'सहज प्रतिभा' जन्म-जन्मांतरों के संस्कारों का प्रतिफल है। 'आहार्या' वर्तमान जीवन का संस्कार है तथा 'औपदेशिकी' तंत्र, मंत्र, देवता, गुरुजन, स्वजन आदि के उपदेश एवं शिक्षा से उद्बुद्ध होती है।

रुद्रट के अनुसार प्रतिभा के दो प्रकार हैं-सहजा और उत्पाद्या।

अभिनवगुप्त प्रतिभा के दो रूप मानते हैं-सामान्य प्रतिभा एवं कवि प्रतिभा।

अभिनव गुप्त के गुरु भट्टतौत ने प्रज्ञा को मूलभूत शक्ति गान कर प्रतिभा को उसका एक रूप बताते हुए उसे नवोन्मेषशालिनी शक्ति कहा है। अर्थात प्रतिभा प्रज्ञा का वह रूप है जो नवीन नवीन रूपों का सृजन तथा उद्घाटन करती है। प्रतिभा रसात्मक रूपों, नए रूपों का निर्माण करती है। इसमें अपूर्व वस्तु निर्माण की क्षमता है। यह शब्दार्थ के सौंदर्य को बढ़ाती है।

काव्य सृजन की प्रक्रिया के संबंध में अनेक मत हैं। कोई केवल शारीरिक दृष्टि से, कोई मानसिक और कोई आध्यात्मिक दृष्टि से इसका विश्लेषण करते हैं, परंतु काव्य-सृजन की प्रक्रिया एक साथ शारीरमानसात्मिक प्रक्रिया है। इसमें शरीर प्रमुखतया साधन और माध्यम है। प्रमुखतया क्रिया मनस्तत्व की है, जिसमें चेतना आत्मतत्व को स्पर्श और जागृत करती है। आत्म तत्व के संस्पर्शित होने पर आनंदमय उत्कृष्ट काव्य की सृष्टि होती है और उसके उद्बुद्ध होने पर रहस्यात्मक काव्यधारा प्रवाहित होती है। सामान्यतया लौकिक काव्य मनस्तत्व अनुभूति और कल्पना को प्रेरित करता है। अनुभूति को प्रमुखतया संस्पर्श करने पर भावात्मक काव्य की तथा कल्पना के क्षेत्र को संस्पर्श करने से कलात्मक काव्य की प्रधानतया सृष्टि होती है। दोनों का सामंजस्य होने पर ही व्यापक प्रभाव वाले काव्य की रचना संभव है, जिसमें कवि का मन एक साथ कल्पना और अनुभूति दोनों ही क्षेत्रों के संस्पर्श का आनंद उठाता है। बुद्धि तत्व सामान्यतया 'भोजने लवणवत्' (भोजन में नमक के साथ) रहता है, परंतु अधिक होने पर फिर प्रचारवादी या नीति उपदेश प्रधान काव्य की रचना होती है। अनुभूति की धरती पर जब कल्पना विचरण करने लगती है, तब सुंदर भाव-कला संपन्न काव्य की सृष्टि होती है।

भारतीय साहित्य में प्रतिभा को बहुत आवश्यक एवं अनिवार्य तत्व के रूप में स्वीकार किया गया है, परंतु कुछ लोगों का यह भी विचार है कि साधना द्वारा काव्य रचना की शक्ति एवं प्रतिभा संवर्धित की जा सकती है। अतः हमारे सामने प्रश्न उठता है कि क्या प्रतिभा न होने पर भी साधना और प्रयत्न द्वारा काव्य

की रचना की जा सकती है? क्या काव्य रचना बिना प्रतिभा के संभव है, इस प्रश्न पर विचार करने से पहले हमें यह समझ लेना चाहिए कि प्रतिभा क्या है और क्या प्रतिभा उत्पन्न की जा सकती है? यह प्रश्न जितना प्रमाण-सापेक्ष है. उतना ही विज्ञान और मनोविज्ञान से भी संबंधित है। संस्कृत के प्रसिद्ध विद्वान भट्टतौत ने कहा है कि -

बुद्धिस्तात्कालिकी ज्ञेया मतिरागामिगोचरा।
प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता ।।

अर्थात तत्काल कार्य करने का निश्चय देने वाली बुद्धि है, आगामी वस्तु और परिस्थिति की कल्पना और तद्नुरूप निर्णय देने वाली शक्ति मति है और जो नई-नई प्रेरणा और कल्पना देने वाली प्रज्ञा-शक्ति है, वही प्रतिभा है। इस कथन से स्पष्ट है कि प्रतिभा नई सृष्टि की प्रेरक शक्ति है। जिस शक्ति द्वारा हमारे मन में नई कल्पनाएं, उद्भावनाएं तथा दृष्टियां प्रकट होती रहें, वही प्रतिभा है। प्रतिभा के संबंध में ध्वन्यालोककार आनंदवर्धन का भी कुछ इसी प्रकार का मत है, उन्होंने लिखा है कि "अपूर्ववस्तु निर्माणक्षमा प्रज्ञा" अर्थात पहले जैसी वस्तु नहीं है, वैसी वस्तु के निर्माण की क्षमता प्रज्ञा है। अतएव प्रतिभा, विशिष्ट और अधिक सक्रिय प्रज्ञा कही जा सकती है।

यह स्पष्ट है कि काव्य मूलतः नई सृष्टि है। यह नवीनता अनेक रूपों में देखी जा सकती है। वस्तु की नवीनता, भावगत नवीनता, कल्पना की नवीनता, अभिव्यक्ति की नवीनता आदि। काव्य के अंतर्गत यह नवीनता रहती ही है और वही उसकी अपूर्वता है। अतः काव्य की रचना के लिए नवीन सृष्टि संबंधी प्रतिभा आवश्यक है। इसमें दो मत नहीं हो सकते परंतु हमारे सामने इस प्रसंग में दो प्रश्न मूलतः उठते हैं- पहला यह कि प्रतिभा जन्मजात न होने पर क्या अर्जित की जा सकती है? और दूसरा यह कि प्रतिभा के अभाव में अथवा उसकी कम मात्रा में होते हुए भी कोई अन्य साधन या तत्व है, जितकी काव्य रचना के प्रसंग में आवश्यकता स्वीकार की जा सके?

पहले प्रश्न पर विचार करते हैं - प्रतिभा के संबंध में प्रायः मत यह है कि यह जन्मजात ही होती है। कुछ लोगों ने काव्य की शक्ति, प्रतिभा को दो रूपों में देखा है- (1) सहजा (2) उत्पाद्या।

संस्कृत के सुप्रसिद्ध विद्वान रुद्रट के विचार में सहजा प्रतिभा जन्मजात होती है और उत्पाद्या शास्त्र, लोकानुभव और संगत आदि से प्राप्त हो सकती है। इसमें संदेह नहीं कि सहजा और उत्पाद्या इन दोनों ही काव्य प्रतिभाओं में अंतर किया जा सकता है। सहजा प्रतिभा अधिक क्षमताशाली, स्वतः स्फूर्त और अजस्र सर्जनाशक्ति है, जबकि इसकी तुलना में उत्पाद्या प्रतिभा कम बलशाली, अविशिष्ट, प्रेरणास्फूर्त और कभी-कभी जागृत सर्जना शक्ति है। दोनों में अंतर होते हुए भी यह विचारणीय है कि क्या जन्मजात | या सहजा प्रतिभा के न होने पर भी उसे सत्संग या प्रयत्न आदि से प्राप्त किया जा सकता है? इस संबंध में दो मत मिलते हैं, एक तो यह कि उत्पाद्या प्रतिभा के रूप में जो शक्ति काम करती है वह वास्तव में सुषुप्त, किंतु सहजा प्रतिभा शक्ति ही है और दूसरा मत यह है कि जन्म से अथवा संस्कार से प्रतिभा न होते हुए भी वह प्रयत्न द्वारा अर्जित की जा सकती है।

यह बात भी अस्वीकार नहीं की जा सकती कि जिनकी प्रतिभा जन्मजात रूप में प्रकट होती है और बाद में सत्संग, अभ्यास और प्रयत्न द्वारा प्रकट होती है, उसमें पूर्ववती प्रतिभा के क्षीण बोज विद्यमान रह सकते हैं। यह संभव है कि प्रतिभा मूलतः ऐसे व्यक्तियों में रही हो, परंतु उपयुक्त अवसर के अभाव में उसका प्रस्फुटन तभी हुआ हो, जब अन्य साधन प्राप्त हुए हों। ऐसी दशा में आचार्य दंडी का यह कथन है कि -

न विद्यते यद्यपि पूर्ववासना गुणानुबंधि प्रतिभानमद्भुतम्।
श्रुतेन यत्नेन न वागुपासिता ध्रुवं करोत्येव कमप्यनुग्रहम्।।

साधना के परिणामस्वरूप वाणी जिन पर कृपा करती है, उनके भीतर प्रतिभा का कुछ न कुछ तत्व पहले भी विद्यमान रह सकता है और जिनमें यह जन्मजात

प्रतिभा का बीज प्रबल है उनमें काव्य का स्वतः स्फुरण होने लगता है, परंतु जिनमें वह क्षीण है उनमें वह अध्ययन, अभ्यास और सत्संग से उपयुक्त अवसर आने पर प्रकट होता है। इस प्रकार जिनमें बाद में कवि प्रतिभा प्रस्फुटित हुई, उनमें प्रतिभा का बीज क्षीण था। इसी स्थिति में प्रतिभा के लिए साधना का महत्व स्वीकार किया जा सकता है।

निष्कर्ष यह निकलता है कि जहां जन्मजात प्रतिभा नहीं दिखलाई देती, वहां वह अभ्यास और प्रयत्न से प्रकट की जा सकती है और जो साधन इस प्रतिभा के प्रकट होने में सहायक होते हैं, वे व्युत्पत्ति और अभ्यास माने गए हैं। व्युत्पत्ति का तात्पर्य लोक और शास्त्र का ज्ञान और अभ्यास का तात्पर्य कवि कर्म में अनवरत संलग्न रहना है। इन दोनों साधनों से कम बलवती प्रतिभा भी काव्य-रचना के कार्य में संलग्न रहती है और उत्तम काव्य-सृष्टि कर सकती है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि थोड़ी बहुत प्रतिभा के विद्यमान होने पर भी कवि आलसी या लापरवाह है, तो उसकी प्रतिभा का कोई परिणाम नहीं होता और वह व्यर्थ जाती है। अतएव इन साधनों से प्रतिभा तत्व का अंकुरण और पल्लवन समुचित रीति से हो जाता है, इनमें संदेह नहीं। इसीलिए संस्कृत के आचार्यों ने प्रतिभा को काव्य का निमित्त कारण और संत्संग, अभ्यास और व्युत्पत्ति आदि को उपादान कारण माना है। आचार्य वामन ने काव्य का मूल कारण प्रतिभा को ही स्वीकार किया है। आचार्य जयदेव ने भी इस संबंध में लिखा है कि प्रतिभा काव्य का बीज है और व्युत्पत्ति आदि मिट्टी के समान है और अभ्यास पानी के समान। जिस प्रकार बीज के अंकुरण और विकास के लिए पानी की आवश्यकता है, उसी प्रकार प्रतिभा के विकास के लिए काव्य व्युत्पत्ति और अभ्यास की आवश्यकता है। इसी प्रकार का मत हेमचंद्र का भी है कि प्रतिभा काव्य का मूल कारण है और व्युत्पत्ति और अभ्यास काव्य के कारण नहीं वरन् संस्कार हैं। इनके द्वारा काव्य संबंधी प्रतिभा, परिष्कृत और विकसित होती है। हिंदी

काव्यशास्त्री डॉ. नगेंद्र मानते हैं कि कवि अपनी प्रतिभा, निपुणता तथा अभ्यास के बल पर काव्य रचना करता है।

उपर्युक्त मतों से यही बात स्पष्ट होती है कि काव्य का मूल कारण प्रतिभा है और किसी-किसी रूप में उसके होने पर ही व्यक्ति काव्य की रचना कर सकता है, परंतु इस प्रसंग में एक और बात विचारणीय है। वह यह है कि क्या जन्मजात काव्य-प्रतिभा न होने पर भी प्रतिभा के संस्कार डाले जा सकते हैं। इस दृष्टिकोण के संबंध में प्रसिद्ध इटैलियन सौंदर्यशास्त्री क्रोचे का मत विचारणीय है, जो यह कहता है कि प्रत्येक मनुष्य जन्मजात कवि होता है। कोई बड़ा और कोई छोटा। प्रतिभा की बात उसकी दृष्टि से एक प्रकार का अंधविश्वास या रूढ़ि है, जो मनुष्य में काव्य-रचना की शक्ति के परिणाम में अंतर होने के कारण उत्पन्न हो गई है। क्रोचे का कथन निस्सार नहीं है। प्रत्येक मनुष्य में जिस प्रकार से बुद्धि, अनुभूति कल्पना-शक्ति होती है, परंतु प्रत्येक में उनका व्यवहार समान रीति से नहीं होता, उसी प्रकार यह सोचा जा सकता है कि प्रत्येक व्यक्ति में किसी-किसी रूप में काव्य-प्रतिभा होती है, यह काव्य-प्रतिभा समय पाकर प्रस्फुटित होती रहती है और उसका विकास भी होता रहता है।

परिस्थितियों और प्रयत्नों के कारण जिनकी प्रतिभा जितनी ही स्वच्छ होती है, वे उतना ही उत्तम काव्य कर सकते हैं, क्योंकि प्रतिभा का विकास परिस्थितियों एवं प्रयत्नों के कारण नियंत्रित रहता है। भगीरथ मिश्र कहते हैं-इस संबंध में जो स्थिति अन्य मानसिक शक्तियों की है, वही स्थिति प्रतिभा के संबंध में कही जा सकती है। जिस प्रकार हम प्रयत्न से अनुकूल परिस्थितियां पाकर अपनी अन्य मानसिक शक्तियां बढ़ा सकते हैं, उसी प्रकार प्रतिभा को भी. विकसित कर सकते हैं। मानव मस्तिष्क एक खेत के समान है जिस प्रकार खेत में बीज बोने पर वे अंकुरित होते हैं उसी प्रकार मानव अंतःकरण में भी विभिन्न प्रकार के संस्कार डाले जा सकते हैं और काव्य-रचना के संस्कार भी उसके भीतर पड़ सकते हैं। जिसे हम काव्य-प्रतिभा कहते हैं, वह संवेदन-चेतना, कल्पना और

भाषागत क्षमता का समन्वित रूप है। जहां ये तीनों ही एक साथ मिल जाती हैं, वहीं काव्य रचना कोई दुर्लभ वस्तु नहीं है। ऐसी दशा में स्वस्थ शरीर और मन वाले किसी भी व्यक्ति के अंतर्गत काव्य-रचना के बीज अंकुरित होते हैं और हो सकते हैं।

काव्य-रचना के प्रसंग में एक और पक्ष विचारणीय है, वह है प्रेरक परिस्थितियों का। इनके अंतर्गत मनुष्य की वैयक्तिक रुचि और आकांक्षा, उसकी सामाजिक और पारिवारिक स्थितियां तथा आत्माभिव्यक्ति महत्वपूर्ण है। इन प्रेरक परिस्थितियों के सम्यक रूप से सक्रिय हो जाने पर काव्य-रचना के लिए बहुत बड़ी भूमिका तैयार हो जाती है।

संस्कृत और हिंदी साहित्य इस बात का साक्षी है कि किस प्रकार काव्य का उत्कृष्ट विकास उन प्रेरक परिस्थितियों के कारण हुआ। महर्षि वाल्मीकि को क्रौंच-वध ने व्याकुल कर उनके अंतर्गत शोक के भाव-समुद्र को इतना आंदोलित कर दिया कि वह राम की आदिम गाथा रामायण के रूप में प्रकट हुआ। संस्कृत साहित्य के सर्वश्रेष्ठ कवि कालिदास के संबंध में भी यह बात पूर्णतया सत्य है कि उनकी पत्नी के तीन प्रेरक शब्दों (अस्ति. कश्चित्, वाग्विशेषः) ने ही उन्हें तीन महान ग्रंथों की सृष्टि की प्रेरणा दी।

हिंदी साहित्य में चंद, विद्यापति, भूषण और बिहारी जैसे कवियों को उनके आश्रयदाता और नायकों के व्यक्तित्व ने जो प्रेरणा दी, उसी के परिणामस्वरूप इनकी कृतियों का निर्माण हुआ। गोस्वामी तुलसीदास, नंददास और घनानंद को भी प्रेरित करने वाले कतिपय विशिष्ट व्यक्तित्व ही थे। आधुनिक काल में भी भारतेंदु, मैथिलीशरण गुप्त. दिनकर, निराला आदि को काव्य की प्रेरणा देने में समकालीन देश और समाज की परिस्थितियों का अत्यंत प्रभाव है।

अतः कहा जा सकता है कि प्रतिभा अर्थात काव्य रचना की क्षमता विकसित की जा सकती है और उसको विकसित करने में प्रेरक परिस्थितियां, लोकशास्त्र ज्ञान तथा अभ्यास महत्वपूर्ण होते हैं। यदि हम मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखें तो यह

स्वीकार करना पड़ता है कि हमारे मनस्तत्व के अंतर्गत सभी प्रकार की प्रवृत्तियों और क्षमताओं के संस्कार विद्यमान रहते हैं। साधनों और परिस्थितियों के प्रभाव से इन संस्कारों में से कोई भी संस्कार प्रबल होकर क्रियाशील हो जाता है और परिणामस्वरूप किसी प्रकार के कार्य का सूत्रपात होता है। प्रतिभा के विश्लेषण के प्रसंग में हमने देखा है कि वह कल्पना-शक्ति, संवेद्यता और अभिव्यक्ति-क्षमता संबंधी अतिशय जागरूकता के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। ये सभी शक्तियां और क्षमताएं किसी-किसी मात्रा में सभी के मस्तिष्क में विद्यमान रहती हैं। प्रायः इनका विकास प्रकृति अर्थात स्वभाव पर अवलंबित रहता है। जिस व्यक्ति की परिस्थितियां प्रेरक हुई और समुचित साधन भी प्राप्त हुए, साथ-साथ जो आत्मज्ञान से भी अपनी क्षमताओं के विकास संबंधी चेतना से संपन्न हुआ, वह काव्य की रचना अवश्य कर सकता है। क्रोचे के मत को इस अंश में मानना अनुचित न होगा कि काव्य-रचना के तात्विक संस्कार प्रत्येक व्यक्ति में विद्यमान होते हैं, इसलिए जन्म से प्रत्येक व्यक्ति कवि है। उसकी काव्य-प्रतिभा को विकास की प्रेरणा देने वाली व्यक्तिगत और सामाजिक परिस्थितियों पर ही यह निर्भर करता है कि वह बड़ा कवि होगा कि साधारण। यदि परिस्थितियों के कारण उसके मानसिक संस्कारों की स्वच्छता और स्वस्थता बनी रहती है, तो वह किसी न किसी रूप में कवि कर्म करता रह सकता है।

काव्य-रचना के प्रसंग में प्रतिभा के साथ-साथ साधना का भी महत्वपूर्ण हाथ है। प्रतिभा का विकास साधना द्वारा होता है। जागृत प्रतिभा या काव्य के संस्कार अनवरत साधना से भली-भांति प्रस्फुटित होते हैं। इसके साथ ही साथ काव्य-प्रतिभा के सुप्त संस्कार भी साधना द्वारा प्रबुद्ध होते हैं और काव्य-रचना संभव हो सकती है। साधना के लिए प्रेरक परिस्थितियों के साथ-साथ वैयक्तिक संकल्प और निष्ठा की बड़ी आवश्यकता काव्य होती है और यदि साधना के लिए दोनों ही बातें प्राप्त हो गई, तो काव्य-प्रतिभा का समुचित विकास अवश्य होता है।

प्रतिभा एक प्रकार की मानसिक क्षमता है और उस क्षमता का उपयोग के बाद क्षीण होना भी स्वाभाविक है। ऐसी प्रेरक परिस्थितियां कवि के जीवन में नहीं रह पातीं जिनसे वह जीवन भर उत्कृष्ट काव्य की सृष्टि करता रहे। तीसरा कारण यह भी है कि बहुत से कवि काव्यगत प्रसिद्धि प्राप्त हो जाने के उपरांत स्वतः स्फूर्त रूप में नहीं, वरन किसी के कहने या अन्य बाहरी दबावों के वश कविता लिखते हैं। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि कविता लिखने का निर्णय बौद्धिक आग्रह से होता है और उसी आग्रह या आवश्यकतावश कविता की रचना की जाती है। ऐसी दशा में सहज और उत्कृष्ट काव्य-रचना की आशा नहीं की जा सकती। आवश्यक यह है कि काव्य का रचयिता सच्चा और निष्ठावान हो और वह अपनी काव्य-क्षमता का उपयोग तभी करे, जब उसके अंतःकरण में रचना की वास्तविक प्रेरणा जागृत हो। ऐसा न होने पर वह अपनी प्रतिभा के प्रति सच्चा नहीं कहा जा सकता। काव्य-प्रतिभा के संबंध में यह बात स्वीकार की जा सकती है कि वह सदैव ही किसी के चाहने पर जागृत नहीं होती, उसके इसी स्वभाव के कारण उसे अलौकिक कहा. गया है। जिस समय वह जागरूक रहती है उस समय काव्य का सृजन अनायास होता चलता है। जिस समय वह सचेत नहीं है, उस समय उसको बहुत प्रयत्न करके भी, प्रस्फुरित नहीं किया जा सकता। इसलिए हमें स्पष्ट रीति से समझना चाहिए कि काव्य-प्रतिभा का संस्कार होना एक अलग वस्तु है और उस प्रतिभा को जब चाहे तब उपयोग में लाना यह उससे भिन्न वस्तु है। काव्य के संस्कार सभी में थोड़े बहुत विद्यमान रहते हैं, परंतु काव्य-प्रतिभा को हम अपनी या किसी दूसरे की इच्छा या उपयोगिता के वशीभूत होकर सक्रिय नहीं बना सकते।

स्वप्रगति परीक्षण

1. काव्य के हेतु को दो प्रमुख भागों में बांटा गया है, एक है _____ और दूसरा है _____।
2. भामह के अनुसार काव्य की रचना केवल _____ से संभव है।
3. वामन ने काव्य के हेतुओं को तीन वर्गों में बांटा है, उनमें से एक है _____।
4. अभिनवगुप्त के अनुसार काव्य की रचनात्मक शक्ति को _____ कहा गया है।

2.5 काव्य का प्रयोजन

'काव्यत्वं दुर्लभं लोके' कहा गया है तो इसका प्रणयन निरुद्देश्य कैसे हो सकता है? सामान्यतः दो प्रयोजन माने जाते हैं-आनंद की प्राप्ति और लोक कल्याण। भरतमुनि लिखते हैं-यह नाट्य (काव्य) धर्म, यश, आयु, हित और वृद्धि का अभिवर्धक और लोकोपदेश का उत्पादक होगा -

धर्म्य यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धिविवर्धनम्।
लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद् भविष्यति।।॥

अर्थात पहला प्रयोजन धर्म यानि कर्तव्य बोध है कि मैं समाज के प्रति उत्तरदायी हूं यानि कि कवि सामाजिक कल्याण करने वाली और आनंददात्री रचना का प्रणयन करे जिससे उसे यश प्राप्त होगा। प्रसन्नचित्त और यशस्वी होने से आयु बढ़ेगी और वह समाज का हित लंबे समय तक साध सकेगा।

गैर प्रकार सभ्यता और संस्कृति का विकास वही है, जिसमें विभीषिकाओं का ह्रास और सभ्यताओं की प्रचुरता और स्थिरता है। समाज के नव-निर्माण हेतु कार्य करने वाले राजनीतिज्ञों, समाज-सुधारकों और समाजशास्त्रियों को साहित्य

की कल्पनाओं ने ही प्रेरणा दी है और | धीरे-धीरे इन्हीं कल्पनाओं को जीवन में उतारता और साकार करता हुआ मानव जीवन-पथ पर आगे बढ़ रहा है।

साहित्य का साध्य आनंद है। मोक्ष की धारणा इसकी तुलना में जीवन से एक पलायन मात्र है। साहित्य सदैव सुख-दुखमयी जीवन परिस्थितियों का चित्रण कर हमें अनुभव, प्रेरणा और संवेदन प्रदान करता है, और इन तीनों के द्वारा उसका कार्य आनंद संपादन ही है। साहित्य में वर्णित ये घटनाएं जीवन की घटनाओं के समान कटु नहीं होती और वे वैयक्तिक संबंधों से मुक्त होती हैं।

इनके द्वारा एक सामाजिक संवेदना जागृत होती है और हम एक दूसरे के अधिक निकट हो जाते हैं। हम ऐसी स्थितियों से सचेत रहते हैं या समाज से उन्हें दूर करने का प्रयत्न करते हैं। इनसे हमारे व्यक्तित्व का विस्तार होता है और हमारी संकीर्णता नष्ट हो जाती है। इस प्रकार साहित्य की दुखात्मक परिस्थितियों से भी परोक्ष संकेत, आनंद संपादन का ही रहता है और सुखात्मक परिस्थितियों में आनंद की अजस्र धारा बहती ही रहती है।

अपने इसी साध्य द्वारा साहित्य मानव जीवन में दानवत्व का नाश और देवत्व का विकास करता रहता है। देवत्व की कल्पना का आकर्षण हमारे जीवन में भरना साहित्य का ही काम है। इसी देवत्व की उपलब्धि अपने में करके मानव जीवन देवत्व से और सबसे महान बनता जा रहा है।

2.6 काव्य के भेद

शैली की दृष्टि से काव्य के भेद-शैली की दृष्टि से काव्य के तीन भेद होते हैं- (1) गद्य (2) पद्य (3) चंपू।

1. गद्य- शब्दाचार या व्याकरण के आधार पर की गई रचना को गद्य कहते हैं। इसके अंतर्गत अभिनय नाटक, उपन्यास, कहानी एवं आलोचनाएं इत्यादि आते हैं। पद्य की अपेक्षा गद्यकाव्य में सफलता प्राप्त करना अधिक कठिन

होता है। इसीलिए कहा भी है 'गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति' अर्थात गद्य काव्य कवियों की निकषं (कसौटी) है।

2. पद्य पिंगलशास्त्र के नियमों से बद्ध रचना को पद्य कहते हैं। आधुनिक कविगण पिंगल के नियमों की उपेक्षा करके एक प्रकार के लयात्मक छंदों (स्वच्छंद छंदों) की रचनाएं करने लगे हैं जिनमें लय का प्रधान्य होता है। हिंदी साहित्य में ऐसी रचनाएं भी पद्य के अंतर्गत समझी जाती हैं। पद्य के अंतर्गत सूक्तियां और कविताएं भी आती हैं, जिनके लक्षण और उदाहरण क्रमशः नीचे दिए गए हैं-

(क) सूक्ति- वह चमत्कार उत्पन्न करने वाली युक्ति, जिसमें वर्ण विन्यास की काव्य के रू विशेषता से कथन को विशिष्ट ढंग से कहा जाता है, उसे 'सूक्ति' कहते हैं। यथा-

'रात्रिराज ! सुकुमारशरीर! कः सहेत तव नाम मयूखान्।
स्पर्शमाप्य सहसैव यदीयम् चन्द्रकांतदृषदोपि गलंति ॥

(ख) कविता- जिस उक्ति में ध्वनि या गुणीभूति व्यंग्य की प्रधानाता होती है, उसे 'कविता' कहते हैं।

'आयासः परहिंसा वैतंसिक, सारमेय! तव सारः ।
त्वामपसार्य विभाज्यः कुरंग एषोऽधुनैवान्यैः ।

-

गोवर्धनाचार्य

इसके दो भेद

हैं- (1) समास और (2) व्यास।

1. समास-जहां किसी विस्तृत बात का वर्णन घटाकर अत्यंत थोड़े में किया जाता है, वहां समास कविता होती है।

2. व्यास-जहां किसी थोड़ी सी बात का वर्णन अत्यंत बढ़ा-चढ़ा कर किया जाता है वहां व्यास कविता होती है।

3. चंपू/मिश्रकाव्य - 'गद्यपद्यमयं काव्यं चम्पूरित्यभिधीयते।'

अर्थात ऐसी रचनाएं जो पद्य और गद्य दोनों में लिखी जाती हैं, उन्हें चंपू या मिश्रकाव्य कहते हैं।

• स्वरूप की दृष्टि से भेद

स्वरूप की दृष्टि से काव्य के दो भेद हैं- (क) दृश्य और (ख) श्रव्य।

(क) दृश्य काव्य - जिस काव्य की रसानुभूति केवल श्रवण या पठन मात्र से नहीं, परंतु अभिनयादि के देखने से होती है, उसे दृश्य काव्य कहते हैं। श्रव्य काव्य का रसास्वादन केवल पठित वर्ग ही कर सकता है, परंतु दृश्य-काव्य का रसास्वादन पठित और अपठित दोनों वर्ग कर सकते हैं। इसलिए इसे भरतमुनि ने पांचवां वेद कहा है -

"न वेदव्यवहारोऽयं संश्राव्यः शूद्रजातिषु।
तस्मात्सृजापरं वेदं पंचमं सर्ववर्णिकम् ॥

(नाट्यशास्त्र-प्रथमोध्याय)

दृश्यकाव्य के अंतर्गत रूपक और उपरूपक आते हैं, जिनमें से रूपक के 10 और उपरूपक के 18 भेद होते हैं।

रूपक के 10 भेद

1. नाटक-यह शब्द 'नट्' धातु से बना है. जिसका अर्थ होता है 'अभिनय करना'। अधिकांश व्यक्ति 'नाटक' को 'रूपक' का पर्यायवाची शब्द समझते हैं, परंतु वास्तव में यह रूपक के 10 भेदों में से एक भेद है। 'रूपक' के 2 अर्थ हैं- 'रूप धारण करना' और 'अभिनय करने योग्य वस्तु'। यदि हम रूपक का अर्थ 'रूप धारण करना' लें तब भी वही भाव आता है। जब नायक और नायिका रंगभूमि पर विविध रूपों को धारण कर दर्शकों के मन को मोहते हैं, उसे रूपक कहते हैं।

2. प्रकरण-इसकी कथा लौकिक या कवि कल्पित होती है। इसका नायक द्विजाति (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) होता है। नायिका कोई श्रेष्ठकुल कन्या या वेश्या होती है। इसमें शृंगार रस प्रधान होता है। इसका एक भेद मद्यप (जुआरी और

शराबी) विट चेटादि की चेष्टाओं से परिपूर्ण होता है। अन्य सब बातें नाटक के समान होती हैं।

3. भाण-इसकी कथा काल्पनिक होती है। इसमें एक ही अंक और एक ही पात्र होता है, वह भी कोई विट होता है। वह रंगमंच पर अपनी या औरों की अनुभूत बातों को कथोपकथन के रूप में स्वयं ही प्रश्न करता और उसका उत्तर देता हुआ दृष्टिगोचर होता है। इसमें केवल धूर्तों का ही चरित्र चित्रण किया जाता है।

4. प्रहसन-इसमें हास्य रस की प्रधानता होती है। इसका नायक कोई तपस्वी (झूठा) नपुंसक, कंचुकी या पुरोहित होता है। अन्य सब बातें 'भाण' के समान होती हैं।

5. डिम-इसकी कथा इतिहास प्रसिद्ध होती है। इसमें गंधर्व, यक्ष, सुर, असुर, भूत, प्रेत आदि अत्यंत उद्धत 16 नायक होते हैं। इसमें इंद्रजाल, संग्राम, क्रोध और भूत प्रेतादिकों की चेष्टाओं का वर्णन ज्यादा से ज्यादा 4 अंकों में किया जाता है। रौद्र रस प्रधान और अन्य रस उसके सहायक होते हैं।

6. व्यायोग-इसकी कथा लोक या पुराण प्रसिद्ध होती है। इसका नायक धीरोद्धत अथवा धीरोदात्त होता है। इसमें एक ही अंक होता है जिसमें वीर रस प्रधान होता है। इसमें स्त्री पात्रों का अभाव व पुरुष पात्रों की बहुलता होती है।

7. समवकार-इसकी कथा पुराण प्रसिद्ध होती है, जिसमें सुरासुरान्वित घटनाओं का वर्णन तीन अंकों में किया जाता है। इसमें बारह सुर, असुर आदि नायक होते हैं तथा वीर रस प्रधान रहता है। अन्य सब रस उसके सहायक होते हैं।

8. वीथी-इसमें श्रृंगार रस की प्रधानता रहती है। शेष सब बातें 'भाण' के ही समान होती हैं।

9. ईहामृग- इसकी कथावस्तु कुछ काल्पनिक और कुछ इतिहास प्रसिद्ध होती है। इसका नायक धीरोद्धत, मनुष्य या दिव्य (देवता) होता है। इसमें एक ही अंक होता है।

10. अंक-इसकी कथा लोक प्रसिद्ध होती है और नायक कोई साधारण व्यक्ति होता है। इसमें भी एक ही अंक होता है जिसमें स्त्रियों के करुण रुदन की अधिकता होने से करुण रस प्रधान होता है।

उपरूपक के 18 भेद होते हैं -

1. नाटिका-इसकी कथा लोक प्रसिद्ध होती है, नायक धीरललित कोई राजा, और नायिका राजवंश की कोई संगीतज्ञा कन्या होती है। इसमें चार अंक होते हैं. जिसमें कि अधिकांश पात्र स्त्रियां होती हैं।

2. त्रोटक इसमें पांच से लेकर आठ या नौ तक अंक होते हैं और प्रत्येक अंक में विदूषक (नकलची) का कार्य होता है। श्रृंगार रस प्रधान होता है।

3. गोष्ठी-इसमें एक अंक होता है, जिसमें चार-पांच स्त्री पात्र और आठ-दस पुरुष पात्रों का कार्य वर्णित होता है। संभोग श्रृंगार रस की प्रधानता होती है।

4. सट्टक-इसके अंकों को 'जनबिका' कहते हैं, जिसमें अद्भुत रस की प्रधानता होती है। अन्य सब बातें 'नाटिका' के सदृश होती हैं। विशेष यह केवल प्राकृत भाषा में ही लिखा जाता है।

5. नाट्यरासक-इसमें एक ही अंक होता है, जिसमें श्रृंगार मिश्रित हास्य रस की प्रधानता रहती है। इसका उपनायक नर्म सचिव या पीठमर्द होता है और नायिका वासकसज्जा (विविध श्रृंगारों से अलंकृत होकर पतिदेवता की प्रतीक्षा करने वाली) होती है।

6. प्रस्थानक इसमें दो अंक होते हैं, नायक दास, उपनायक बलहीन व्यक्ति और नायिका दासी होती है।

7. उल्लाप्य इसमें तीन अंक होते हैं, कथा अलौकिक, नायक धीरोदात्त तथा श्रृंगार, हास्य और करुण रस की प्रधानता रहती है।

8. काव्य-इसमें एक अंक होता है, जिसमें संगीत और हास्य रस की प्रचुरता रहती है।

9. रासक-इसमें एक अंक होता है, पांच पात्र होते हैं, पर सूत्रधार नहीं होता। नायिका प्रसिद्ध और नायक मूर्ख होता है। इसमें उदात्त भाव उत्तरोत्तर प्रदर्शित किया जाता है।

10. प्रेक्षण-इसमें एक अंक होता है, नायक बलहीन होता है और सूत्रधार नहीं होता। नान्दी तथा प्ररोचना नेपथ्य (पर्दे के पीछे से) से पढ़ी जाती है।

11. संलापक-इसमें चार अंक होते हैं और नायक धूर्त होता है। इसमें संग्रामादि का विशद वर्णन रहता है।

12. श्रीगदित-इसमें एक अंक होता है। नायक धीरोदात्त और नायिका लोक प्रसिद्ध होती है।

13. शिल्पक इसमें चार अंक होते हैं और नायक ब्राह्मण होता है। इसमें श्मशान, प्रेतादि का वर्णन रहता है, जिसमें शांत और हास्य रस को छोड़कर शेष सब रस हो सकते हैं।

14. विलासिका-इसमें एक ही अंक होता है। नायक कोई विदूषक, विट या गुणहीन व्यक्ति होता है। श्रृंगार या हास्य रस का प्राधान्य रहता है।

15. दुर्मल्लिका-इसमें चार अंक होते हैं। पहले अंक में विट की क्रीड़ा, दूसरे में विदूषक का विलास, तीसरे में पीठमर्द या नर्मसचिव का विलास और चौथे में नागरिकों की क्रीड़ा रहती है। इन चारों अंकों का प्रदर्शन क्रमशः 6, 10, 12 और 20 घड़ी (1) घड़ी 24 मिनट) का रहता है।

16. प्रकरणिका-इसका नायक व्यापारी होता है और नायिका इसकी सजातीया होती है। इसकी कथा लोक प्रसिद्ध अथवा काल्पनिक होती है। इसमें श्रृंगार रस प्रधान होता है और नायक धर्म, अर्थ और काम में परायण धीर होता है। इसमें पांच अंक होते हैं।

17. हल्लीश इसमें एक अंक होता है। पांच या छः स्त्री पात्र होते हैं और एक उदात्त नायक होता है। इसमें संगीत की अधिकता रहती है।

18. भाणिका-इसमें भी एक ही अंक होता है। नायक मूर्ख, नायिका उदात्त होती है।

(ख) श्रव्य काव्य-जिस काव्य का आनंद श्रवण करने या पठन करने से प्राप्त होता है, उसे श्रव्य काव्य कहते हैं। इसके दो भेद हैं- (क) प्रबंध काव्य और (ख) मुक्तक काव्य।

(क) प्रबंध काव्य-जिस काव्य की रचना प्राचीन कथा वस्तु के आधार पर की जाती है उसे प्रबंध काव्य कहते हैं। इसका प्रत्येक छंद एक दूसरे से श्रृंखलित अथवा जुड़ा हुआ होता है। जैसे-मैथिलीशरण गुप्त लिखित जयद्रथ-वध। इसके दो भेद हैं- (1) महाकाव्य और (2) खंड काव्य।

(1) महाकाव्य

प्रबंध काव्य के दो भेद हैं-महाकाव्य और खंडकाव्य। महाकाव्य बड़ा काव्य होता है। इसमें जीवन के अनेक रूपों की अभिव्यक्ति होती है। घटनाओं का बहुविध विस्तार होता है। यह बड़े महत्व की रचना होती है, जैसे नाटक के तीन प्रमुख तत्व होते हैं वैसे ही महाकाव्य के माने गए हैं और वे हैं- 1. वस्तु, 2. नेता, 3. रस। आचार्यों ने महाकाव्य के अनेक लक्षण बताए हैं। इनमें सबसे विस्तारपूर्वक वर्णन आचार्य विश्वनाथ ने अपने साहित्य दर्पण नामक ग्रंथ में किया है। उनके अनुसार महाकाव्य सर्गबद्ध रचना होती है। उसमें देवता, श्रेष्ठ वंश का क्षत्रिय नायक होता है। कहीं एक वंश के कुलीन अनेक राजा भी नायक होते हैं। शृंगार, वीर, शांत में से एक रस मुख्य होता है, आदि। इनका विस्तृत विवरण इस प्रकार है-

महाकाव्य के विश्वनाथ सम्मत लक्षण इस प्रकार हैं-

1. महाकाव्य एक बड़ा काव्य होता है। वह सर्गबद्ध रचना होती है। उसमें 8 से अधिक सर्ग होते हैं।

2. इसके प्रत्येक सर्ग में एक ही छंद का प्रयोग होता है। कहीं-कहीं सर्ग में काव्य के अनेक छंद भी होते हैं। सर्ग के अंत में छंद भिन्न होता है और उसमें अगले सर्ग की कथा का संकेत होता है।

3. इसका एक नायक होता है। वह देवता या श्रेष्ठ वंश का क्षत्रिय होता है जिसमें प्रायः धीरोदात्त आदि गुण होते हैं। कहीं-कहीं एक वंश के तत्कुलीन अनेक राजा भी नायक होते हैं, जैसे-कालिदास के रघुवंश में हैं।

4. महाकाव्य में शृंगार, वीर और शांत रस में से एक रस अंगी होता है, शेष रस गौण होते हैं।

5. महाकाव्य में नाटक की सभी संधियां भी होती हैं, जैसे-मुख, प्रतिमुख, गर्भ, अविमर्श, निर्वहण।

6. इसकी कथा लोकप्रसिद्ध सज्जन संबंधी या ऐतिहासिक कथा होनी चाहिए।

7. महाकाव्य की फल प्राप्ति में धर्म, अर्थ, काम अथवा मोक्ष की प्राप्ति का वर्णन होना चाहिए।

8. महाकाव्य के आरंभ में मंगलाचरण होना चाहिए जो नमस्कारात्मक, आशीर्वादात्मक और वस्तु निर्देशात्मक हो सकता है।

9. इसमें सज्जनों की प्रशंसा और खलों की निंदा का भी वर्णन होना चाहिए, जैसे- तुलसीदास के रामचरितमानस में।

10. महाकाव्य में विस्तार होता है। उसमें विभिन्न वर्णन होते हैं। जैसे-संध्या, सूर्योदय व अस्त, चंद्रोदय, रात्रि, प्रदोष, अंधकार, वन, समुद्र, संग्राम, यात्रा, विवाह, संयोग, वियोग, मृगया, ऋतुएं आदि।

11. महाकाव्य का नामकरण कवि के नाम से या नायक के नाम से या चरित्र के नाम से किया जाता है।

12. सर्ग की वर्णनीय कथा के आधार पर सर्ग का नामकरण होता है।

महाकाव्यों की परंपरा संस्कृत साहित्य से देखने में आती है। वाल्मीकि रामायण और महाभारत भी संस्कृत के महाकाव्य माने जाते हैं। प्रायः कालिदास के रघुवंश

और कुमारसंभव, भारवि का किरातार्जुनीय, माघ का शिशुपालवध श्रेष्ठ महाकाव्य माने गए हैं। हिंदी में चंदवरदाई का पृथ्वीराज रासो, जायसी का पद्मावत, तुलसी का रामचरितमानस, केशव की रामचंद्रिका, मैथिलीशरण गुप्त का साकेत, जयशंकर प्रसाद की कामायनी, हरिऔध का प्रिय-प्रवास श्रेष्ठ महाकाव्य हैं।

2) खंड काव्य

प्रबंध काव्य के दो भेदों में से दूसरा खंड काव्य है। प्रबंध काव्य होने के कारण इसमें कथा चलती है। एक छंद का दूसरे छंद के साथ पूर्वापर संबंध होता है। इसमें भी कथा का सगर्गों में विभाजन रहता है। इसके भी प्रायः वे ही प्रमुख तत्व होते हैं जो महाकाव्य के होते हैं। परंतु महाकाव्य से खंड काव्य अनेक मायनों में भिन्न होता है। साहित्य दर्पणकार ने उसका लक्षण बताते हुए कहा है कि काव्य के एक अंश का अनुसरण करने वाला खंड काव्य होता है। इसका तात्पर्य यह है कि खंड काव्य में किसी एक प्रधान घटना का वर्णन होता है। उसमें जीवन के किसी एक पक्ष को लेकर कथा चलती है। विद्वानों ने खंड काव्य के स्वरूप पर साहित्य दर्पणकार के संकेत से आगे बढ़कर विचार किया है। उनकी दृष्टि में खंड काव्य का स्वरूप एक लघु कथा के रूप में होता है और वह लघु कथा जीवन के विभिन्न पक्षों को न छूती हुई कथा नायक के चरित्र को विकसित करती है। संक्षेप में खंड काव्य में चार बातें मुख्य रूप से होनी चाहिए-

1. खंड काव्य एक लघु कथा काव्य होता है।
2. उसमें जीवन की विविधता नहीं रहती।
3. उसमें घटनाओं की बहुलता नहीं होती।
4. खंड काव्य चरित्र प्रधान न होकर घटना प्रधान काव्य होता है।

इस तरह महाकाव्य में जीवन के अनेक अंशों का समूचा चित्र होता है पर खंड काव्य में जीवन के एक ही अंश का चित्रण होता है। महाकाव्य में प्रधान पात्र या घटनाओं का विशिष्ट महत्व होता है परंतु गौण पात्र और सहायक घटनाएं भी अपना मूल्य रखती हैं। खंड काव्य में प्रधान पात्र या घटना का ही महत्व

होता है। जैसे तुलसी के 'रामचरितमानस' में राम के जीवन की समग्रता है परंतु मैथिलीशरण गुप्त के 'पंचवटी' काव्य में शूर्पनखा के नाक काटने की एक घटना है। 'रामचरितमानस' महाकाव्य है और 'पंचवटी' खंड काव्य है। हिंदी में बहुत से खंड काव्य लिखे गए हैं। कुछ लोग तुलसीदास के 'जानकी मंगल', 'पार्वती मंगल' काव्यों को और नंददास के 'भंवरगीत' को भी खंड काव्य मानते हैं। वस्तुतः नरोत्तम दास का 'सुदामा चरित', मैथिलीशरण गुप्त के 'जयद्रथवध', 'नहुष' और रामनरेश त्रिपाठी के 'पथिक', 'मिलन' तथा 'स्वप्न' हिंदी के अच्छे खंड काव्य हैं।

2.7 सार संक्षेप

संस्कृत काव्यशास्त्र, रीतिकालीन काव्यशास्त्र तथा हिंदी काव्यशास्त्र इन तीन खंडों से मिलकर भारतीय काव्य शास्त्र बना। काव्यशास्त्र के अध्ययन के लिए काव्य के स्वरूप एवं लक्षणों को जानना आवश्यक है। वाक्यम् रसात्मक काव्यम्, शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्, रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम् आदि परिभाषाएं जहां काव्य के स्वरूप को स्पष्ट करती हैं वहीं यह भी बताती हैं कि रस, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि तथा औचित्य काव्य के लक्षण हैं। प्रतिभा, निपुणता, अभ्यास आदि काव्य रचना के आवश्यक प्रेरक तत्व हैं तथा यश प्राप्त करना, मनोरंजन करना, लोक कल्याण करना काव्य के प्रयोजन हैं। दृश्य हो या श्रव्य, काव्य के अनेक भेदोपभेद हैं जिनकी अपनी महत्वपूर्ण विशेषताएं हैं, जिनका अधययन किए बिना काव्य के पूर्ण स्वरूप, उपयोगिता, महत्व और भूमिका को नहीं जाना जा सकता।

2.8 मुख्य शब्द

- उत्कंठा - प्रबल इच्छा
- रसनिष्पत्ति - रस का परिपाक
- व्यापक - अपने में बहुत कुछ समेटे हुए

- रसान्वित - रस युक्त
- ग्राह्य - ग्रहण योग
- जडधी - मूर्ख बुद्धि
- वाग्विशेष - वणी की विशेषता

2.9 स्वप्रगति परीक्षण प्रश्नों के उत्तर

प्रगति की जाँच

उत्तर: 1. उपादान, निमित्त

उत्तर: 2. प्रतिभा

उत्तर: 3. लोक

उत्तर: 4. नवोन्मेषशालिनी शक्ति

2.10 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. डॉ. विजय वर्मा, "हिंदी साहित्य आलोचना: सिद्धांत और प्रवृत्तियाँ", साहित्य घर, जयपुर – 2021
2. डॉ. शंकर शरण, "काव्यशास्त्र: सिद्धांत और समालोचना", साहित्यिका प्रकाशन, दिल्ली - 2018
3. डॉ. राकेश कुमार, "हिंदी कविता का आलोचनात्मक परिप्रेक्ष्य", प्रभात प्रकाशन, दिल्ली - 2020
4. डॉ. माया वर्मा, "आधुनिक हिंदी काव्यशास्त्र: सिद्धांत और विधियाँ", राजकमल प्रकाशन, दिल्ली - 2019
5. डॉ. आशीष कुमार, "काव्यशास्त्र की नव-समालोचनात्मक विधियाँ", भारतीय साहित्य अकादमी, दिल्ली - 2022

2.10 अभ्यास प्रश्न

1. काव्य लक्षणों पर निबंध लिखिए।
2. काव्य के हेतुओं पर दीर्घ टिप्पणी कीजिए।
3. काव्य के प्रयोजनों पर प्रकाश डालिए। (विस्तार से)
4. काव्य के प्रकार विषय पर निबंध लिखिए।
5. टिप्पणी कीजिए- 1. मुक्तक काव्य, 2. महाकाव्य, 3. गीतिकाव्य, 4. प्रबंध काव्य, 5. खंड काव्य

इकाई - 3

रस सिद्धांत

3.1 प्रस्तावना
3.2 उद्देश्य
3.3 रस की परिभाषा एवं स्वरुप
3.4 रस की निष्पत्ति
3.5 साधारणीकरण
3.6 सहृदय की अवधारणा
3.7 सार संक्षेप
3.8 मुख्य शब्द
3.9 स्वप्रगति परीक्षण प्रश्नों के उत्तर
3.10 संदर्भ ग्रंथ सूची
3.11 अभ्यास प्रश्न

3.1 प्रस्तावना

रस' शब्द का प्राचीन काल से विविध अर्थों में प्रयोग होता आया है, जैसे जल, स्वाद, औषधि, और परमात्मा, आदि। इन सभी अर्थों में रस का लौकिक रूप ही अधिक स्पष्ट है, जबकि परमात्मा से जुड़ा अर्थ अलौकिक है। संस्कृत साहित्य में 'रस' के लौकिक और अलौकिक रूपों की चर्चा निरंतर होती रही है, और काव्य में रस को अनुभवगम्य और अलौकिक माना गया है। इसे परमात्मा से जोड़ते हुए तैत्तिरीय उपनिषद में 'रसो वै सः' (रस ही ब्रह्म है) का उद्घाटन किया गया, जो रस को ब्रह्म के समान आनंददायक सिद्ध करता है।

ऋग्वेद में जल रूपी रस को शिवतम (आनंदमय) बताया गया है, जो काव्य रस की आनंदमयता का बीज है। 'रस' परंपरा का आरंभ ऋग्वेद से माना जाता है, जबकि शतपथ ब्राह्मण में रस को छंदों और यज्ञों के समृद्धि का आधार माना गया है। यहाँ पर रस का संबंध आत्मा से भी बताया गया है, जैसे 'यावानु वै रसस्तावानात्मा' में रस और आत्मा का संबंध स्थापित किया गया है। रामायण और महाभारत में भी रसों का विधान विस्तार से किया गया, जो काव्यशास्त्र की रस परंपरा को और अधिक प्रगाढ़ करता है। इस इकाई का उद्देश्य रस और इसके विभिन्न रूपों को समझना है, जो काव्य और साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं।

3.2 उद्देश्य

प्रिय शिक्षार्थियों, इस इकाई के अध्ययन के बाद आप निम्नलिखित पहलुओं को समझ सकेंगे:

- रस के काव्य की आत्मा होने का महत्व और इसके स्वरूप एवं अंगों– विभाव, अनुभाव और संचारी भावों की भूमिका।
- रस की निष्पत्ति सहृदय के हृदय में होने की प्रक्रिया और साधारणीकरण की अवधारणा।
- रसों के प्रकार और 'रस' की विशेषताओं का ज्ञान।
- काव्यालंकार के सिद्धांत, अलंकार की परिभाषा, और काव्यशास्त्र में इसके महत्व और उपयोगिता।
- रीतिसिद्धांत का काव्यशास्त्र में स्थान और उसकी विशेषताएँ।
- ध्वनि सिद्धांत की स्थापनाओं और वक्रोक्ति के स्वरूप का ज्ञान।
- वक्रोक्ति और अभिव्यंजना के साम्य एवं वैषम्य का अंतर।
- काव्य में औचित्य के स्वरूप और उसके महत्व की समझ।

3.3 रस की परिभाषा एवं स्वरुप

रस एक अलौकिक स्थिति है, आत्मानुभूति है, ब्रह्मानंद सहोदर है। काव्य के सृजन, पठन, श्रवण और देखने से सर्जक, दर्शक, पाठक और श्रोता उस भाव-भूमि पर पहुंच जाता है, जहां पर केवल निर्विकल्प, निर्लेप शुद्ध आनंदमयी चेतना का ही साम्राज्य होता है। उस भावभूमि को प्राप्त कर लेने की स्थिति का नाम ही रस है। काव्य सहृदय सामाजिक को या सर्जक को उस भावभूमि पर पहुंचाकर ही सार्थक होता है। यदि वह ऐसा करने में, इस भावदशा तक पहुंचाने में असमर्थ है तो वह काव्य कहलाने का अधिकारी नहीं। उस शुद्ध, आनंदमयी स्थिति तक पहुंचने के लिए सर्जक एवं सहृदय को भी निर्मल हृदय का अधिकारी होना चाहिए। वह दुर्बल सांसारिक बंधनों की उपेक्षा कर काव्य के पठन, सृजन, श्रवण में डूब जाए तभी उस भाव भूमि तक पहुंच सकता है। अन्यथा मोह-माया के, छल-कपट के व्यापार में रमा हृदय उसे उस आनंदानुभूति से विरक्त या दूर ही रखेगा। प्राचीन काव्यशास्त्रियों ने इसलिए बार-बार काव्य के साथ 'सहृदय' शब्द का प्रयोग किया है। कुछ आचार्यों जैसे अभिनव गुप्त, मम्मट आदि ने 'स्व' के परित्याग की ओर ध्यान आकर्षित कराया है यह और बात है कि रस की व्याख्या करते हुए वे इसका निर्वाह नहीं कर पाए। काव्य में निहित भाव एवं कवि अपने विचारों का जिस हृदयग्राही रीति से मर्मस्पर्शी निरूपण करता है वही सहृदय सामाजिक को उस भाव दशा तक ले जाता है। कुछ काव्य की अपनी शक्ति और कुछ सहृदयता पाठक के हृदय की, भावों की स्थिति एवं प्रवृत्ति ही सहृदय को उस आनंद सरोवर तक ले जाती है। जब सहृदय सामाजिक आनंदानुभूति की उस चरम स्थिति में पहुंच जाता है तो उसे उस निर्विकल्प अवस्था में यह ज्ञान ही नहीं रहता कि वह किस रस का अनुभव कर रहा है। श्रृंगार, करुण या वात्सल्य रस का...। उसकी अवस्था ध्यानस्थ योगी जैसी होती है जो आत्म-प्रकाश से प्रकाशमान हो, जिसमें केवल आत्म-स्वरूप सत्ता ही शेष

हो। वह केवल हृदय ही हृदय, आत्म ही आत्म होता है शेष बाह्यावरण लुप्त हो जाते हैं। रसमग्न, ध्यानस्थ, आनंदमग्न उस योगी के 'सत् और चित्' स्वरूप भी इस आनंद की छाया में लुप्त हो जाते हैं। धरती, आकाश, जड़-चेतन आदि प्रकृति की सभी चेष्टाएं तिरोहित हो जाती हैं। इसलिए आचार्य विश्वनाथ इस स्थिति के लिए 'सत्वोद्रेक' की बात कहते हैं। इस अवस्था को ही 'रस' का नाम दिया गया है। विभिन्न आचार्यों ने अपनी रुचि, प्रतिभा एवं दृष्टिकोण के आधार पर रस के स्वरूप पर प्रकाश डाला है। अभिनव गुप्त इसे आनंदमयी चेतना कहते हैं तथा स्थायी भाव से विलक्षण स्वरूप वाला मानते हैं।

काव्यशास्त्रीय दृष्टि से रस परंपरा का प्रामाणिक ग्रंथ नाट्यशास्त्र को माना जाता है जिसे पांचवां वेद भी स्वीकार किया गया है। इसके प्रणेता आचार्य भरतमुनि रस की महत्ता को प्रतिपादित करने वाले प्रथम आचार्य माने गए हैं यद्यपि इनसे पूर्व रस की चर्चा करने के संबंध में आचार्य नंदिकेश्वर एवं उनके ग्रंथ अभिनवदर्पण का उल्लेख किया जाता है किंतु इसके अप्रामाणिक एवं अप्राप्य होने के कारण भरत का 'नाट्यशास्त्र' ही रस संबंधी प्रथम ग्रंथ ठहरता है। रस के महत्व को रेखांकित करते हुए छठे अध्याय में रस और सातवें अध्याय में विभाव, अनुभाव आदि का विवेचन करते हुए भरतमुनि ने कहा है-

+ नहि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते।

+ विभावानुभावव्यभिचारि संयोगाद्रस निष्पत्तिः।

+ एवं भावा रसाश्चैव भावयन्ति परस्परम्।

+ एवमेतेह्यऽलंकारा गुणा दोषाश्च कीर्तिताः। प्रयोगमेषां च पुनर्वक्ष्यामि रससंश्रयम्।

यहां रस को संगीत, अभिनय एवं पाठ्य या वस्तु तत्व, इन तीनों अंगों का नियंता स्वीकार किया गया है। काव्य के सभी तत्व रसों पर आश्रित होते हैं। रस के बिना किसी की किसी में प्रवृत्ति नहीं होती। भरतमुनि कहते हैं कि आस्वादमय होने के कारण ही उसे रस की संज्ञा प्राप्त है, 'आस्वादनात्मानुभवः

रसः काव्यार्थ इष्यते।' रस आस्वादन स्वरूप अनुभव है और वही काव्यार्थ है। जिस प्रकार नाना व्यंजनों एवं औषधि आदि के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है उसी तरह नाना भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है -

"यथा नाना व्यञ्जनौषधि दिव्यसंयोगाद सनिष्पत्तिर्भवति यथा गुडादिभिर्दव्यैर्व्यञ्जनैरोषधिभिश्चि षाडवादयो रसा निवर्तन्ते तथा नानाभावोपगता अपि।" भरतमुनि ने चार प्रधान रस ही स्वीकार किए हैं- श्रृंगार, रौद्र, वीर और वीभत्स रस। पुनःश्रृंगार से हास्य, रौद्र से करुण, वीर से अद्‌भुत एवं वीभत्स से भयानक, इस तरह उन्होंने कुल आठ रस स्वीकार किए हैं। नौवां शांत रस बाद में स्वीकृत हुआ किंतु इसमें अभिनय करना संभव नहीं है। 'शममपि केचित् प्राहुः पुष्टिर्नाट्येषु नैतस्य।' कहकर दशरूपककार ने भी इसे नाटक के लिए अस्वीकृत किया। रुद्रट ने काव्यालंकार में 'प्रेयाम्' नामक दसवें रस की चर्चा की गई है तथा साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने वात्सल्य रस को मान्यता प्रदान की है।

रौद्रः शान्तः प्रेयानितिमन्तव्याः रसाः सर्वे।
स्फुटं चमत्कारितया वत्सलं च रसं विदुः ।।

रसवादी आचार्य विश्वनाथ ने 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' कहकर रस को ही काव्य की आत्मा स्वीकार किया है। रुद्रट रस को काव्यात्मा मानते हैं तथा राजशेखर ने भी रस को काव्यात्मा मानते हुए काव्यमीमांसा में लिखा है- "रस आत्मा रोमाणि छन्दांसि।" अग्निपुराण में भी ऐसा ही उल्लेख है- 'वाग्वैदग्ध्य रस एवात्र जीवितम्।' काव्य में रस का महत्व और काव्यात्मा के रूप में रस का स्थान दृढ़ से सुदृढ़ होता गया। आचार्य भरतमुनि के रस सूत्र 'विभावानुभाव व्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' की चार टीकाकारों ने अपने-अपने तरीके से व्याख्या की। भट्‌ट लोल्लट ने 'निष्पत्ति' शब्द को 'उत्पत्ति' के अर्थ में लेते हुए 'उत्पत्तिवाद' की प्रतिष्ठा की वहीं शंकुक ने रस को अनुमान का विषय बताते हुए 'निष्पत्ति' का अर्थ अनुमिति के रूप में लिया और 'अनुमितिवाद' की स्थापना की। भट्‌टनायक ने निष्पत्ति शब्द को भुक्ति के अर्थ में तथा संयोग शब्द को भोज्य-

भोजक संबंध के रूप में मानते हुए भुक्तिवाद की स्थापना की। ये तीनों वाद स्वीकार्य नहीं हुए। अभिनवगुप्त ने अभिव्यंजना की चर्चा की जो सर्वमान्य हुई। उन्होंने संयोग शब्द को व्यंग्यव्यंजक भाव तथा निष्पत्ति को अभिव्यक्ति या व्यंजना के अर्थ में लिखा। उन्होंने कहा कि प्रत्येक के हृदय में प्रेम, शोक, भय, घृणा आदि वासनाएं स्थायी भाव के रूप में रहती हैं। सभी सहृदयों के हृदय में स्थित सुप्त स्थायी भाव विभावादिकों को ग्रहण करके रसानुभूति से सिक्त हो जाते हैं और आनंद का अनुभव करते हैं। अभिनव गुप्त ने कहा- "नाट्य-रसाः स्मृताः। सर्वानुग्राहकं हि, शास्त्रमितिन्यायात्तेन नाट्य एव रसा न लोके इत्यर्थः। काव्यं च नाट्यमेवा।" रसानुभूति की आवश्यक शर्त है सहदय होना। जो सहृदय है वह अपनी संवेदनाओं से प्रकृति के जड़-चेतन सभी के सुख-दुख को अनुभव कर सकता है। सरस प्रकृति के भीतर परमात्मा की उपस्थिति को अनुभव कर सकता है वह रसानुभूति में डूबकर ब्रह्मानंद | को प्राप्त कर सकता है। रसानुभूति से पाया हुआ ब्रह्मानंद हृदय को शांति और मुख पर काति बिखेर देता है। वामन कहते हैं दीप्तरसत्वं कांतिः। मम्मट भी रस के महत्व को स्वीकार करते हैं।

भोज ने श्रृंगारप्रकाश में केवल एक रस शृंगार को ही मान्यता दी है। वे कहते हैं श्रृंगार, का रूप अभिमान और अहंकार जैसा ही है। रसोभिमानोऽहंकारः श्रृंगार इति गीयते। भानुदत्त मिश्र ने रसतरंगिणों ओर रसमंजरी में रसों पर विस्तार से प्रकाश डाला है। माणिक्य चंद्र कहते हैं- 'काव्यं रसादिमद्वाक्यं श्रुतं सुखविशेषकृत्।' अर्थात एक विशेष प्रकार का सुख पैदा करने वाला रस आदि से भरा वाक्य काव्य कहा जाता है। रस काव्य की आत्मा है यह निर्विवाद होता चला गया। काव्य में औचित्य से रसानुभूति होती है जिसमे चमत्कार उत्पन्न होता है। अनौचित्य से रसभंग होता है। सिद्धांत चाहे कोई भी हो औचित्य, चमत्कार, अलंकार, वक्रोक्ति, रीति सभी के मूल में महत्व रस का ही है। बलदेव उपाध्याय ने नारायण पंडित के विचारों को उद्धृत किया है "रसो सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते" अर्थात रस चित्त विस्तार या आनंद का जनक होता है अतः

रसानुभूति चमत्कार रूपिणी होती है। अभिनवगुप्त ध्वन्यालोक लोचन में रस को चमत्कार की आत्मा कहते हैं। लोचनकार सत्य कहते हैं रस के बिना चमत्कार संभव नहीं है। विश्वेश्वर पांडेय ने रसचंद्रिका में रसों पर विस्तृत चर्चा की है। रुद्रभट्ट ध्वनिपूर्व रसवादी धारा के अंतिम आचार्य माने जाते हैं। उन्होंने श्रृंगार रस को रेखांकित करते हुए लिखा है-"यामिनी वेन्दुना युक्ता नारीव रमणं विना। लक्ष्मीरिव कृते त्यागान्नो वाणी भाति नीरसाः।" अभिनगुप्त के गुरु भट्टतौत भी रसवादी धारा के संवर्धन में सहयोगी बने। आचार्य भरतमुनि से पंडितराज जगन्नाथ तक रसवादी आचार्यों की सुदीर्घ परंपरा दृष्टिगोचर होती है। पंडितराज जगन्नाथ लिखते हैं एवं पञ्चात्मके ध्वनौ परम रमणीयतया रसध्वनेस्तदात्मा रसस्तावदभिधीयते।' इस रस का एक रूप भक्ति रस के रूप में हमें रूपगोस्वामी की उज्ज्वल नीलमणि में मिलता है। इसमें भक्ति के पांच प्रकार शांत, हास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य माने गए हैं। ये सभी भाव कृष्ण को समर्पित हैं। माधुर्य भाव को भक्ति रसराट् कहते हैं। रसवादी आचार्यों की भिन्न-भिन्न मान्यताओं के साथ रसवाद पुष्ट और विकसित होता गया।

आचार्य विश्वनाथ के विवेचन में रस का संपूर्ण स्वरूप समाहित हो गया है। आचार्य विश्वनाथ का कथन इस प्रकार है-

सत्वोद्रेक अखण्ड-स्वप्रकाशानन्द चिन्मयः।
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदरः।
लोकोत्तरचमत्कारप्प्राणः कैश्चित् प्रमातृभिः।
स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः॥

उपर्युक्त श्लोकों से रस के स्वरूप निर्धारण में निम्न बिंदु स्पष्ट होते हैं-

1. सहृदय के हृदय में सत्व गुण के उद्रेक के पश्चात रस का स्वरूप स्पष्ट होता है।
2. रस अखंड होता है।
3. रस स्वप्रकाशानंद है।

4. रस चिन्मय होता है।

5. रस लोकोत्तर चमत्कारप्राण होता है।

6. रस ब्रह्मानंद के समान है।

7. रस अन्य सभी प्रकार के ज्ञान से अस्पष्ट होता है।

8. रस सामाजिक से अभिन्न रूप होता है।

समस्त बिंदुओं को इस प्रकार व्याख्यायित किया जा सकता है-

(1) सत्वोद्रेक - सांख्य दर्शन के अनुसार प्रकृति त्रुिगणात्मक होती है। ये तीन गुण हैं-

(1) सत्व गुण, (2) रजोगुण और (3) तमोगुण। सत्व गुण अधिकतर रजोगुण और तमोगुण से आच्छादित रहता है। सत्व गुण ही व्यक्ति को शुद्ध-बुद्ध आत्मा (पुरुष) को पहचानने की क्षमता प्रदान करता है। आत्मा का निर्मल स्वरूप भी सत्व गुण के प्राधान्य में अभिव्यक्त होता है। फलतः आचार्य ने सर्वप्रथम रस के स्वरूप के लिए सामाजिक में सत्वगुण के आविर्भाव को प्रमुखता प्रदान की है। सत्व गुण के उदित होने पर व्यक्ति राग-द्वेष से मुक्त होने लगता है और रसास्वाद के लिए राग-द्वेष से मुक्ति प्राप्त करना पहली अनिवार्य शर्त है।

(2) रस अखंड है - विश्वनाथ रस की कोटियां या उसके उच्च, मध्यम या निम्न जैसे स्तर स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार रस आनंदमयी चेतना है। फलतः उसके खंड नहीं किए जा सकते। डॉ. नगेंद्र के अनुसार इसकी व्यख्याएं भी की जा सकती है कि रस स्थिति में विभावादि की पृथक-पृथक अनुभूति नहीं होती, बल्कि उनकी समंजित अनुभूति होती है। वस्तुतः विभावादि तो रस स्थिति उत्पन्न करने के सहायक उपकरण मात्र हैं। अतः रस स्थिति में इनके अनभव का तो प्रश्न ही नहीं उठता। अतः स्पष्ट है कि अखंड से तात्पर्य आत्मानुभूति की पूर्णता से है।

(3) रस स्वप्रकाशानंद है - विश्वनाथ का स्वप्रकाशानंद से तात्पर्य है-आत्मा का प्राकृतिक मलों से

विनिर्मुक्त होना, क्योंकि आत्मा प्रकाशमयी चेतन सत्ता है, किंतु जिस प्रकार मेघाच्छादित सूर्य की आभा मलिन प्रतीत होती है, उसी प्रकार आत्मा के प्रकाश का भी मलाच्छादित होने के कारण सामाजिक अवलोकन या अनुभव नहीं कर पाता। रस-दशा में वे मल तिरोहित हो जाते हैं और उस समय केवल आत्मा अपने मूल रूप में प्रकाशित होने लगती है। आत्मा के प्रकाशमान स्वरूप का ही नाम आनंद है।

(4) रस चिन्मय होता है - विश्वनाथ का चिन्मय से तात्पर्य आत्म-स्वरूप से है। रस स्थिति आत्म-स्वरूप स्थिति है। जहां केवल शुद्ध-बुद्ध आत्मा ही व्यक्त रहतीहै। शेष सभी मलों का तिरोभाव हो जाता है। ऐसी स्थिति में रस और आत्मा में कोई अंतर नहीं रह जाता। इसीलिए उपनिषत्कारों ने 'रसौ वै सः' कह कर रस की चिन्मयता की घोषणा बहुत पहले ही कर दी है। उस समय जब रस चिन्मय स्वरूप को प्राप्त कर लेता है, तब लौकिक ऐंद्रिय मूल या अनुभूतियों के लिए अवकाश नहीं रह जाता।

(5) वेद्यांतर स्पर्शशून्य - अन्य सभी प्रकार के ज्ञान का अभाव ही रस स्थिति का भाव है। कहने का तात्पर्य यह है कि रस की स्थिति में प्रमाता में स्व, पर, तटस्थ आदि की अनुभूति का तिरोभाव हो जाता है। अर्थात उस दशा में प्रमाता देशकाल की परिधि को लांघ जाता है और आत्मलीन हो जाता है। उस स्थिति में तन्मयता के अतिरिक्त अन्य समस्त ज्ञान कुछ समय के लिए समाप्त हो जाते हैं। समस्त जड़ चेतन समुदाय ब्रह्ममय दृष्टिगत होने लगता है।

(6) ब्रह्मानंद सहोदर - विश्वनाथ ने काव्यानंद या काव्य रस के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा है कि काव्यास्वाद और ब्रह्मानंद में कोई तात्विक अंतर नहीं है। अंतर केवल अवधि का है। ब्रह्मानंद स्थायी होता है जिसका एक बार आस्वादन कर लिए जाने के पश्चात् वह आस्वाद कभी समाप्त नहीं होता, जबकि काव्यास्वाद अस्थायी होता है क्योंकि काव्यादि की सहायता से मलों का तिरोभाव ही होता है उनका समूल नाश नहीं होता। फलतः काव्योपकरणों के अभाव में

मलों का पुनः आविर्भाव हो जाता है और सहृदय पुनः इस लौकिक जगत में प्रवेश कर जाता है। काव्यास्वाद सरल एवं शीघ्राधिगम्य तो होता है, किंतु स्थाई नहीं हो पाता। इसलिए विश्वनाथ नेरस को 'ब्रह्मास्वाद' न कह कर 'ब्रह्मानंद सहोदर' कहा है।

(7) लोकोत्तर चमत्कार प्राण - रस में पाया जाने वाला चमत्कार लौकिक न होकर अलौकिक होता है। इसलिए रस को पूर्णतया परिभाषित नहीं किया जा सकता ओर ब्रह्मानंद सहोदर होने के कारण अनेक आचार्य इसे अनिर्वचनीय भी कह देते हैं। वस्तुतः यहां पर इसीलिए विश्वनाथ ने 'अलौकिक' शब्द का प्रयोग न कर 'लोकोत्तर' शब्द का प्रयोग किया है और संभवतः यहां 'लोक' शब्द से आचार्य का मन्तव्य 'इंद्रिय' से रहा है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि रसोद्‌गत चमत्कार इंद्रिय अनुभव से परे की वस्तु है, क्योंकि लौकिक चमत्कार का अनुभव इंद्रियों द्‌वारा किया जाता है, किंतु रस चमत्कार के लिए इंद्रियों के प्रवेश का अवसर नहीं रहता। अतः यह एक ऐसा चमत्कार है जो इंद्रियानुभूत नहीं होता। फलतः यह चमत्कार लोकोत्तर है और यही लोकोत्तर चमत्कार रस का प्राणभूत तत्व है।

(8) स्वाकारवदभिन्नत्व - रस की स्थिति अपने स्वरूप से अभिन्न रूप में होती है। इसका तात्पर्य यह है कि आस्वाद और रस कोई दो भिन्न-भिन्न तत्व नहीं है, जिस प्रकार आत्मा या परमात्मा के 'सत्, चित् और आनंद' कोई भिन्न तत्व नहीं है। ब्रह्म सच्चिदानंद है और सच्चिदानंद का नाम ही ब्रह्म है। इसी प्रकार रस का नाम ही आस्वाद और आस्वाद ही रस है। अर्थात रस अनुभूति का विषय नहीं है बल्कि अनुभूति ही स्वयं रस है। इस प्रसंग में अनुभूति भी अनुभव करने की कोई वृति नहीं है अपितु अनुभूति ही आत्मा है। अनुभूति का स्वयं प्रकाशमान स्वरूप ही आनंदका पर्याय है। 'आनंद' कोई अनुभव करने का विषय नहीं है, बल्कि आचार्य शुक्ल के शब्दों में 'हृदय की मुक्तावस्था ही आनंद है और यही रस है।' 3.परवर्ती आचार्यों में पंडितराज जगन्नाथ ने आनंद की तीन कोटियां मानी हैं (1) विषयानंद (लौकिक सुख), (2) ब्रह्मानंद और (3) काव्यानंद।

पंडितराज के अनुसार-

(1) विषयानंद चेतना से आभासित अंतःकरण की वृत्तियों के विषय के साथ सामंजस्य से व्यु त्पन्न होता है तथा एंद्रिक होता है।

(2) ब्रह्मानंद में समस्त सांसारिक उपाधियों का नाश होकर केवल चैतन्य-स्वरूप का भाव ही आनंद स्वरूप होता है।

(3) काव्यानंद रति आदि भावों की उपाधि बने रहने पर भी चैतन्य स्वरूप का आभास है।

'आनंद' आत्मा का स्वरूप एवं एक मुक्त प्राकृतिक, नैसर्गिक स्थिति है। काव्यानंद एवं ब्रह्मानंद में अंतर है। काव्यानंद में चित्त के विकार छिप जाते हैं। लुप्त होते हैं लेकिन बाद में उनके प्रत्यक्ष होने की संभावना शेष रहती है जबकि ब्रह्मानंद में विकारों का नाश हो जाता है और उनके प्रत्यक्षीकरण की कोई संभावना शेष नहीं रहती। ब्रह्मानंद को इसलिए चरम स्थिति माना गया है। काव्य में सांसारिक दुख भी सुख बनकर उपस्थित होता है इसलिए करुण रस के काव्य के दुखद वर्णनों को भी हम बार-बार पढ़ते हैं। पढ़ते हैं, रोते हैं और फिर पढ़ते हुए सुख का ही अनुभव करते हैं। इसलिए रस दशा 'आनंद' की ही द्योतक मानी गई है। 'रस' का स्वरूप 'ब्रह्म' के पर्याय के रूप में लिया गया है। 'रसो वै सः' रस ही वह ब्रह्म है।

3.4 रस की निष्पत्ति

भरतमुनि के अनुसार जब स्थाई भाव का विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव के साथ संयोग होता है तब रस निष्पत्ति होती है। 'विभानुभाव व्यभिचारी संयोगात् रस निष्पत्तिः।' इस सूत्र के आधार पर रस के चार अवयव निश्चित हुए-स्थाई भाव, विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव। स्थाई भाव की सर्वस्वीकृत परिभाषा यह है कि "स्थाई भाव सहृदय सामाजिक के हृदय में वासना रूप में (जन्मजात) स्थित वे अनुभूतियां हैं जो स्थाई रूप से विद्यमान रहती हैं। ये सभी के हृदय

में पाई जाती हैं। स्थाई भाव का आधार 'अहंकार' है। इसकी दो मुख्य वृत्तियां राग एवं द्वेष हैं जो क्रमशः सुखात्मक एवं दुखात्मक हैं। स्थाई भाव मनोविकारों एवं भौतिक या शारीरिक प्रतिक्रियाओं के रूप में अभिव्यक्त होते हैं। इनकी संख्या दस हैं- (1) शोक, (2) हास, (3) रीति, (4) शम, (5) उत्साह, (6) विस्मय, (7) भय, (8) जुगुप्सा (9) क्रोध, और (10) वत्सल।

• विभाव-इसके अंतर्गत समस्त सृष्टि या ब्रह्मांड आ जाता है। ये स्थाई भावों को जागृत करने का कार्य करते हैं। ये आलंबन एवं उद्दीपन दो भागों में बांटे जाते हैं।

• अनुभाव-'अनु' यानी पीछे चलने वाले। ये स्थाई भाव के बाद प्रकट होने वाले मनोविकार और आश्रय की चेष्टाएं हैं। अतः ये स्थाई भाव और विभाव के आश्रयगत होते हैं। ये दो प्रकार के होते हैं-सात्विक या अयत्नज और कायिक या यत्नज। अनुभाव भावों के विगलन की प्रक्रिया की सूचना देते हैं।

• संचारी भाव-भरतमुनि इन्हें व्याभिचारी भाव कहते हैं। ये ऐसे मनोवेग या शारीरिक प्रतिक्रियाएं हैं जो स्थाई भावों की पुष्टि के लिए संचरणशील होते हैं। एक ही संचारी भाव अनेक रसों की पुष्टि के लिए प्रकट हो जाता है इसलिए संचरणशील होने के कारण संचारी और एक ही भाव से इनका निश्चित संबंध न होने के कारण इन्हें व्यभिचारी नाम दिया गया। (1) ये स्थाई भाव के उपकारक धर्म हैं। जो स्थाई भावों को दीप्त कर उन्हें रसदशा तक पहुंचाने में सहायक होते हैं। (2) क्षणिकता इनका लक्षण है। अतः इन्हें मन की अस्थिर वृत्तियां कहा गया है। (3) स्थाई भावों के साथ इनका संबंध सागर एवं तरंगों के समान होता है जो सागर में उठती गिरती हैं। संचारी भावों की संख्या तैंतीय मानी गई है- (1) निर्वेद, (2) ग्लानि, (3) शंका, (4) असूया, (5) श्रम, (6) मद, (7) धृति, (8) आलस्य, (9) विषाद, (10) मति, (11) चिंत्ता, (12) मोह, (13) स्वप्न, (14) विबोध, (15) स्मृति, (16) अमर्ष, (17) गर्व, (18) औत्सुक्य, (19) अवहित्थ, (20) दैन्य, (21) हर्ष, (22) क्रीड़ा, (23) उग्रता, (24) निद्रा, (25) व्याधि, (26)

मरण, (27) अपस्मार, (28) आवेग, (29) त्रास, (30) उन्माद, (31) जड़ता, (32) चलता और (33) वितर्क ।

रसों की संख्या दस हैं श्रृंगार, वीर, हास्य, रौद्र, भयानक, वीभत्स, करुण, अद्भुत, शांत और वात्सल्य। रस ही काव्य की आत्मा है ऐसा मानने वाले आचार्य गण मानते हैं कि कई बार उक्ति अनौचित्य या काव्य में रस का पूर्ण परिपाक न होने के कारण उक्ति में रसत्व तो विद्यमान रहता है किंतु उसमें तीव्र या दीप्त रसत्व का अभाव होता है। इसी कारण इसे 'रस' के समान नहीं माना जाता। इस प्रकार की उक्तियों को सात प्रकारों में बांट सकते हैं- (1) भाव, (2) रसाभास, (3) भावाभास, (4) भावोदय, (5) भावशांति, (6) भाव संधि, (7) भाव शबलता।

रस निष्पत्ति के प्रश्न को हल करने के लिए भरत के रस सूत्र की टीकाकारों ने अपनी-अपनी तरह से व्याख्या की है। 'संयोग' और 'निष्पत्ति' शब्दों का क्या तात्पर्य है? रस की निष्पत्ति किस प्रकार की और किसमें होती है? सामाजिक को, कवि को, विभाव को या अनुभाव को? चार प्रमुख टीकाकार हुए हैं- भट्टलोल्लट, शंकुक, भट्टनायक और अभिनवगुप्त। भरत के रससूत्र में आए 'निष्पत्ति' शब्द को 'उत्पत्ति' के अर्थ में लेते हुए उत्पत्तिवादी भट्टलोल्लट ने उत्पत्तिवाद की प्रतिष्ठा की। इनका मानना है कि नाटक में रस मुख्यतः नयाक-नायिका में ही उत्पन्न होता है परंतु उनका अभिनय द्वारा अनुकरण करने वाले नटों में उस रस की प्रतीति होती है। इस रस की उत्पत्ति विभाव, अनुभाव और संचारी भाव तीनों के संयोग से होती है। विभाव के द्वारा रस उत्पन्न होता है। अनुभाव के द्वारा रस की प्रतीति होती है और संचारी भाव द्वारा रस की पुष्टि होती है। इस मत से यह पता नहीं चलता कि सामाजिक प्राणी जो दर्शक है, श्रोता है उसे रस की अनुभूति क्यों होती है?

भरत के सूत्र के दूसरे व्याख्याकार शंकुक ने अनुमितिवाद के द्वारा रस को अनुमान का विषय बताया। सूत्र के 'संयोगात' शब्द का अर्थ 'अनुमानात्' और 'निष्पत्ति' का अर्थ वे 'अनुमिति' के रूप में लेते हैं। शंकुक के मतानुसार अभिनेताओं

का अभिनय इतना स्वाभाविक और प्रभावी होता है कि वे जिन पात्रों का अभिनय कर रहे होते हैं दर्शक उन पात्रों में उत्पन्न रस का आरोप अनुमान के आधार पर ही अभिनेताओं पर कर लेते हैं और स्वयं भी अनुमान के आधार पर उस रस को ग्रहण कर आनंदित और अभिभूत हो जाते हैं। किंतु चूंकि अनुमान के द्वारा वह आनंद, वह रसानुभूति कभी प्राप्त नहीं हो सकती है जो अपेक्षित है अतः इस मत को भी आधार प्राप्त नहीं हो सका।

भट्टनायक ने भुक्तिवाद की बात की। उन्होंने काव्य में व्यापार को मुख्य मानते हुए उसके तीन रूपों-अभिधा, भावकत्व और भोजकत्व की चर्चा की। वे भरत सूत्र में आए 'संयोग' शब्द को 'भोज्य भोजक संबंध' और 'निष्पत्ति' शब्द को 'भुक्ति' के अर्थ में स्वीकार करते हैं। अभिधा के द्वारा शब्द के अर्थ की प्रतीति होने पर सामाजिक के भीतर सात्विक भाव का उदय होता है। भावकत्व के द्वारा साधारणीकरण होने से सामाजिक का सात्विक हृदय उस (ऐतिहासिक या धार्मिक) पात्र को जिसका अभिनय अभिनेता करता है, साधारण मनुष्य के रूप में लेते हैं और भोजकत्व व्यापार द्वारा उन्हें उस अभिनय को देखते हुए रस की अनुभूति होती है। इसमें भट्टनायक ने सामाजिक को स्थान दिया है किंतु त्रिविध व्यापार की असंगत कल्पना के कारण इस मत को भी मान्यता नहीं मिली।

अभिनवगुप्त व्यंजनावादी हैं। उन्होंने भरत के सूत्र के 'संयोग' शब्द को 'व्यंग्यव्यंजक भाव' तथा 'निष्पत्ति' को 'अभिव्यक्ति या व्यंजना' के अर्थ में लिया। उन्होंने कहा कि प्रत्येक मनुष्य के हृदय में प्रेम, शोक, भय, घृणा आदि वासनाएं स्थाई भाव के रूप में रहती हैं। विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के द्वारा इन स्थाई भावों की अभिव्यंजना होती है। सभी सहृदयों के हृदय में स्थित सुप्त स्थाई भाव विभावादिकों को ग्रहण करके रसानुभूति से सिक्त हो जाते हैं और आनंद का अनुभव करते हैं। यह मत सभी विद्वानों को मान्य है। अभिनवगुप्त ने कहा कि- 'नाट्यरसाः स्मृताः।' सर्वानुग्राहकं हि शास्त्रमितिन्यायात्तेन नाट्य एव रसा न लोके इत्यर्थः। काव्यं च नाट्यमेव।'

अभिनवगुप्त का रस संसार में एकछत्र साम्राज्य स्थापित हो गया। आज भी किंचित संशोधनों के साथ अभिनवगुप्त की रस संबंधी मान्यताएं स्वीकृत हैं। अभिनवगुप्त की कुछ मौलिक उद्भावनाएं इस प्रकार हैं-

1. रस निष्पत्ति सहृदय सामाजिक की होती है। (भट्टनायक को स्वीकार कर लिया)
2. रस आनंदमय है (भट्ट नायक कह चुके थे)।
3. रस आस्वाद है (भट्ट नायक रस को भोज्य (आस्वाद्य) मानता है)।
4. निष्पत्ति का अर्थ है अभिव्यक्ति।
5. संयोग का अर्थ है-व्यंग्य व्यंजक भाव संबंध।
6. साधारणीकरण व्यष्टि के धरातल पर न होकर समष्टि के धरातल पर होता है।
7. साधारणीकरण भावकत्व व्यापार का परिणाम नहीं अपितु व्यंजना का ध्वनन व्यापार है।

वामन कहते हैं- 'दीप्तरसत्वं कान्तिः।' भोज ने श्रृंगारप्रकाश में 'रस एक ही है' सिद्धांत की स्थापना की और इस एक रस को श्रृंगार कहा जिसका रूप अभिमान और अहंकार जैसा ही है। 'रसोभिमानोऽहंकारः श्रृंगार इति गीयते ।' भानुदत्त मिश्र ने 'रसतरंगिणी और रसमंजरी' में रसों की विस्तृत व्यख्या की। श्री विश्वेश्वर पांडेय की 'रसचंद्रिका' में रसों पर चर्चा है। रुद्रभट्ट ध्वनिपूर्ण रसवादी धारा के अंतिम आचार्य माने जाते हैं। उन्होंने श्रृंगार रस पर विस्तार से लिख-

'यामिनी वेन्दुना युक्ता नारीव रमणं विना। लक्ष्मीरिव कृते त्यागान्नो वाणी भति नीरसा।' अभिनवगुप्त के गुरु भट्टतौत ने भी रसवादी धारा के विकास में सहयोग दिया। भरतमुनि से पंडितराज जगन्नाथ तक रसवादी आचार्यों की सुदीर्घ परंपरा के दर्शन होते हैं। पंडितराज जगन्नाथ लिखते हैं- "एवं पञ्चात्मके ध्वनौ परम रमणीयता रसध्वनेस्तदात्मा रसस्तावदभिधीयते।' इसके अतिरिक्त आचार्य मम्मट ने भी रस के महत्त्व को स्वीकार किया है। इस रस सिद्धांत का एक रूप 'भक्ति

रस' के रूप में हमें रूपगोस्वामी की 'उज्ज्वल नीलमणि' में मिलता है, जिसमें भक्ति रस के पांच प्रकार शांत, दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य माने गए हैं। ये सभी भाव कृष्ण के प्रति ही होते हैं। इस माधुर्य भाव को 'भक्ति-रसराट्' कहते हैं। इस प्रकार रसवादी आचार्यों की भिन्न-भिन्न मान्यताओं के साथ 'रसवाद' पुष्ट और विकसित होता गया। इनके साथ परवर्ती आचायों के तर्क-वितकों तथा अलंकार आदि को काव्यात्मा मानने के तर्क-वितर्कों के बीच रस सिद्धांत ने रस-संप्रदाय का रूप धारण किया। हिंदी काव्यशास्त्रियों ने भी रस के महत्व को स्वीकार किया है।

स्वप्रगति परीक्षण

1. भरतमुनि के अनुसार रस की निष्पत्ति तब होती है जब _____, _____ और _____ के साथ स्थाई भाव का संयोग होता है।
2. स्थाई भाव की सर्वस्वीकृत परिभाषा के अनुसार ये वे _____ हैं जो सहृदय सामाजिक के हृदय में जन्मजात रूप में स्थित होती हैं।
3. भरतमुनि के अनुसार रस की निष्पत्ति के चार अवयव हैं- _____, _____, _____ और _____।
4. अभिनवगुप्त के अनुसार रस की निष्पत्ति _____ सामाजिक की होती है।

3.5 साधारणीकरण

इस सिद्धांत की स्थापना भट्टनायक ने की। काव्य में रस को मूल तत्व और आत्मा स्वीकार कर लिए जाने के पश्चात प्रश्न उठा था कि रस निष्पत्ति किसमें

होती है? इस प्रश्न को हल करते-करते एक प्रश्न और उठा कि रस निष्पत्ति कैसे होती है? काव्य और सहृदय सामाजिक का परस्पर क्या संबंध है? इस प्रश्न का उत्तर सर्वप्रथम भट्टनायक ने 'साधारणीकरण' की प्रक्रिया के रूप में दिया तथा अभिनव गुप्त ने इसे दार्शनिक आधार प्रदान कर इस साधारणीकरण की स्थिति को पुष्ट एवं स्थिर बना दिया। इसे 'साधारणीकरण' के सिद्धांत की संज्ञा प्राप्त हुई। 'साधारणीकरण' का अर्थ है असाधारण अर्थात विशेष का साधारण (सामान्य) रूप में परिवर्तित हो जाना।

भट्टनायक के अनुसार काव्य-रस का भोग सहृदय सामाजिक करता है। सामाजिकों के हृदयों में वासना रूप से स्थित स्थाई भाव काव्य में वर्णित विभावादि के कारण उद्बुद्ध होकर रस रूप में परिणत हो जाते हैं। इसके लिए भट्ट नायक ने तीन स्थितियों का विवेचन किया (1) अभिधा, (2) भावकत्व और (3) भोजकत्व। काव्य में सदैव असाध ारण या विशेष का ही प्रतिपादन किया जाता है। काव्य का वह विशेष जब साधारण या सामान्य रूप में प्रतिभाषित होने लगता है, तब वह स्थिति साधारणीकरण की स्थिति कहलाती है। जब काव्य में वर्णित 'राम', राम न रह कर एक सामान्य पुरुष और 'सीता', सीता न रहकर एक सामान्य युवती के रूप में भासित होने लगते हैं, तब साधारणीकरण की स्थिति होती है। यही काव्यात्मक साधारणीकरण कहलाता है। अब प्रश्न यह उठता है कि साधारणीकरण किसका होता है। इस पर विद्वानों में मतभेद है। इस प्रसंग में साध ारणीकरण से संबद्ध विचारों को पांच वर्गों में विभाजित किया जा सकता है-

1 . विभावादिकों और स्थाई भावों का साधारणीकरण होता है।

2. विभावादिकों के साथ-साथ सहृदय सामाजिक की चित्तवृत्ति का भी साधारणीकरण होता है।

3. केवल विभावादिकों का साधारणीकरण होता है और सहृदय सामाजिक का आश्रय से तादात्म्य हो जाता है।

4. कवि की भावनाओं का साधारणीकरण होता है और सहृदय सामाजिक का कवि के साथ तादात्म्य हो जाता है।

5. साधारीकरण व्यर्थ एवं अनामंत्रित सिद्धांत है।

(1) विभावादिकों और स्थाई भावों का साधारणीकरण होता है-इस सिद्धांत के संस्थापक एवं पोषक आचार्य भट्टनायक हैं। उनके अनुसार-

1. विभावादि व्यापार ही साधारणीकरण है।

2. विभावादि अर्थात आलंबन, उद्दीपन, अनुभाव, संचारी एवं स्थाई भावों का साधारणीकरण हो जाता है।

3. स्थाई भाव के साधारणीकरण का तात्पर्य है कि विशिष्ट संबंधों से मुक्ति ।

4. भावकत्व से भाव्यमान स्थाई भाव ही रस है। भाव्यमान से तात्पर्य साधारणीकृत रूप से ही है।

भट्टनायक ने भावकत्व व्यापार की दो विशेषताएं प्रस्तुत की हैं-

1. निविडनिज मोह संकटतानिवारणकारिणा, और

2. विभावादि साधारणीकरणात्मना।

जब तक प्रमाता अपने आपको काव्य की विषय-सामग्री से पृथक या असंपृक्त रखेगा तब तक वह उस आनंदमयी चेतना का अवलोकन नहीं कर पाएगा जिसे प्रकारांतर में रस कहा जाता है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए संभवतः भट्टनायक ने यह कहा होगा कि भावकत्व व्यापार का पहला कार्य है प्रमाता के निजत्व मोह के संकट का निवारण करना अर्थात उसे अपने पराए की संज्ञा से मुक्त करना। दूसरे, प्रमाता द्वारा ही विभावादिकों के विशिष्ट संबंधों को मुक्तावस्था में देखना अर्थात उन्हें राम-सीतादि के रूप में न देखकर केवल भाव रूप में ग्रहण करना। जिस प्रकार एक रुग्ण व्यक्ति दवा को केवल रोग निवारक के रूप में ही ग्रहण करता है, न कि उस औषधि के नाम-रूप में या उसमें मिश्रित विभिन्न रसायनों के रूप में।

(2) विभावादिकों के साथ साथ सहृदय सामाजिक की चित्तवृत्ति का भी साधारणीकरण होता है-भट्टनायक के पश्चात रस सिद्धांत के सर्वाधिक पोषक अभिनवगुप्त थे। इन्होंने भट्टनायक के रस संबंधी विचारों को मूल रूप में तो स्वीकृति दी किंतु उनकी व्याख्या अपने अनुसार की है बल्कि यों कहना चाहिए कि उन्हें दार्शनिकता से आवृत्त कर दिया। दूसरी ओर उनके विचारों में संशोधन भी किया तथा उन्हें तर्कसम्मत स्पष्ट रूप भी प्रदान किया। अभिनवगुप्त के अनुसार-

1. विभावादिकों का ही साधारणीकरण नहीं होता, बल्कि स्थाई भाव का भी साधारणीकरण होता है। विभावादिकों के साधारणीकरण के कारण ही स्थाईभाव का साधारणीकरण होता है।

2. स्थाई भाव के साधारणीकरण से तात्पर्य है देश-काल के बंधनों से मुक्ति। साधारणीकरण की स्थिति में विशेषत्व का अभाव हो जाता है क्योंकि विशेषत्व ही सुख-दुख का कारण होता है। उस (विशेषत्व) के अभाव में एंद्रिक सुख-दुख की भावना नष्ट हो जाती है।

3. भाव का साधारणीकरण व्यक्तिनिष्ठ न होकर समष्टिनिष्ठ होता है क्योंकि सभी सामाजिकों में संस्कार-रूप से समान भाव की स्थिति वासना-रूप में विद्यमान रहती है। अतः यह साधारणत्व परिमित नहीं होता।

4. साधारणीकरण का अर्थ है सुख-दुखात्मक अनुभूतियों एवं देशकाल के संबंधों से मुक्ति।

अभिनवगुप्त की या भट्टनायक की मूल धारणा तो यही है कि 'भाव' पर सुख-दुखात्मकता का जो आवरण चढ़ा हुआ है, वह साधारणीकरण से नष्ट हो जाता है। अभिनव गुप्त और भट्टनायक दोनों ही सुख-दुख को भाव का अंग नहीं मानते, बल्कि देश-काल के विभाग या विशेषत्व को सुख-दुख का कारण मानते हैं। इसीलिए वे इस बात पर बल देते हैं कि साधारणीकरण होने से देश-काल का बंधन निरस्त हो जाता है जो एंद्रिक सुख-दुख या विघ्न बहुलता का कारण है।

(4) केवल विभावादिकों का साधारणीकरण होता है और प्रमाता का आश्रय के साथ तादात्म्य होता है-इस सिद्धांत के अनुयायी विश्वनाथ और पंडितराज जगन्नाथ को माना जाता है। आधुनिक हिंदी आलोचकों में आचार्य शुक्ल का नाम आता है। संस्कृत आचायों ने (विश्वनाथ एवं जगन्नाथ) तादात्म्य की बात को उतना प्रत्यक्ष नहीं कहा, जितना आचार्य शुक्ल ने कहा है। आचार्य विश्वनाथ यद्यपि अभिनव गुप्त का ही अनुसरण करते हैं किंतु उनके कथन से ऐसा प्रतीत होता है कि वे आश्रय का साधारणीकरण नहीं मानते. यथा-व्यापारोऽस्ति विभावादेर्नाम्ना साधारणी कृतिः। तत्प्रभावेण यस्यासन्याथो विप्लवनादयः ॥ प्रमाता तदभेदेन स्वात्मानं प्रतिपद्यते। (साहित्य दर्पण 3/9-10)

उत्साहादिसमुद्बोधः साधारण्याभिमानतः ।

नृणामपि समुद्रादिलंघनादौ न दुष्यति ॥ (3.11)

उपर्युक्त पंक्तियों की व्याख्या विश्वनाथ के अनुसार ऐसे होगी कि मंच पर अभिनीत हनुमानजी के समुद्रलंघन दृश्य को देख कर प्रमाता अपने आपको हनुमानजी से अभिन्न मानने लगता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि प्रमाता का आश्रय के साथ तादात्म्य स्थापित हो जाता है। संभवतः विश्वनाथ तादात्म्य भाव को भी साधारणीकरण का ही परिणाम मानते हैं। इसी कारण मानव भी, जिसके लिए समुद्रादि का संतरण लौकिक परिस्थितियों में संभव नहीं है, समुद्रसंतरण का अनुभव करता है अर्थात वह भी छलांग लगा कर सागर को पार कर सकता है, इस प्रकार के उत्साह का अनुभव करने लगता है। उस स्थिति में वह अपने आपको आश्रय यानी हनुमान मानने लग जाता है। इन्हीं के पश्चात हुए पंडितराज ने भी प्रकारांतर से प्रमाता का आश्रय के साथ तादात्म्य माना है।

(4) कवि की भावनाओं का साधारणीकरण होता है और सहृदय सामाजिक का कवि के साथ तादात्म्य हो जाता है-इस सिद्धांत के संस्थापक हैं आचार्य डॉ. नगेंद्र। आपके अनुसार कवि-भावना का साधारणीकरण होता है।

(5) साधारणीकरण व्यर्थ एवं अनामंत्रित सिद्धांत है-आधुनिक भारतीय आलोचक मनोविज्ञान का आश्रय लेकर रस-सिद्धांत की व्याख्या करने में लगे हैं। फलतः उन्हें साधारणीकरण जैसा सिद्धांत व्यर्थ प्रतीत होता है।

'साधारणीकरण' का सामान्य या विशेष अर्थ यही होगा कि असाधारण का साधारण होकर मन के अनुकूल हो जाना। कवि अपने कौशल से जो रचना करता है सहृदय की मनःस्थिति कवि की मनःस्थिति के अनुकूल होकर समभाव के स्तर पर पहुंच जाती है और कवि तथा सहृदय के भावों में तादात्म्य स्थापित हो जाता है। सहृदय उसी शिद्दत से काव्य के भावों में डूबता उतराता है जिस भाव सरिता में पैठ तक कवि ने रचना की। यही भाव साम्य 'साधारणीकरण' है।

3.6 सहृदय की अवधारणा

काव्य चिंतन के संदर्भ में 'सर्जक' यानी कवि को तो सहृदय मान ही जाता है किंतु विशेष बल 'ग्राहक' अर्थात 'पाठक' को सहृदय मानने पर है। यहां सहृदय की अवधारणा पाठक के संबंध में ही है। इस 'सहृदय' का प्रथम प्रयोग संभवतः अथर्ववेद में मिलता है। 'अथर्ववेद' में इस शब्द की प्राप्ति महत्वपूर्ण है। भरतमुनि ने 'रस' को 'अथर्ववेद' से ही लिया। आयुर्वेद उसका उपवेद है और उसमें भी अपने तरीके से 'रस' भाव का विवेचन है। भवभूति आयुर्वेद का आधार लेकर ही राम के करुण रस को 'पुटपाकप्रतीकाश' कहते हैं तथा क्षेमेंद्र रसायनतंत्र को संदर्भित करते हुए 'औचित्य रस-सिद्धस्य' कहते हैं। इसलिए अथर्ववेद में प्रयुक्त 'सहृदय' को महत्वपूर्ण माना जाता है। उसमें 'सहृदयं सामनस्यमद्विषं कृणोमिवः' पंक्ति मिलती है जिसमें 'सहृदय' का अर्थ 'समान हृदय' है। 'समान' तथा 'हृदय' दो पदों से निर्मित यह सामासिक शब्द है। समान के लिए 'स' का उपयोग किया गया है। अतः 'सहृदय' का तात्पर्य है 'समान हृदय वाला'। काव्य में रचनाकार एवं पाठक या श्रोता अनुभव साम्य की दृष्टि से समान हृदय वाले अर्थात 'सहृदय' कहे जाते हैं। भट्टतौत कहते हैं-"नायकस्य कवेः श्रोतुः समानोऽनुभवस्ततः।'

नाट्यशास्त्र में 'सहृदय' के स्थान पर 'सुमनस प्रेक्षक' का प्रयोग मिलता है। विभिन्न आचार्यों ने 'सहृदय' के समानार्थक शब्दों का प्रयोग किया है लेकिन इसका सर्वाधिक और स्पष्ट प्रयोग आनंदवर्द्धन के 'ध्वन्यालोक' में मिलता है। आनंदवर्द्धन ने 'सहृदयता' को 'रसज्ञता' का पर्याय माना है। अभिनवगुप्त ने तंत्रवाद के आलोक में 'सहृदय' की मार्मिक व्याख्या की है। इसके लिए उन्होंने 'नाट्यशास्त्र' एवं 'ध्वन्यालोक' को आधार बनाया है। यह व्याख्या 'अभिनवभारती', 'लोचन', 'तंत्रालोक', परात्रिशिका' तथा 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा विवृत्तिविमर्शिनी' में मिलती है।

अभिनवगुप्त ने 'सहृदय' पर चिति, चेत्य तथा चित्त तीनों कोणों से प्रकाश डालते हुए उसकी तीन स्वरूपगत विशेषताएं बताई हैं-

(1) स्वहृदय संवाद भाजकता अर्थात ऐसा पाठक या श्रोता जिसका हृदय स्वयं से संवाद करने में कुशल हो, सचेत हो। वह कवि के संवाद को भी आत्मसात कर लेगा। इसका संबंध चिति से है।

(2) वर्णनीय तन्मयीभवन योग्यता इसका संबंध चेत्य से है, इसमें वर्णन की जाने वाली कथावस्तु पर बल दिया जाता है, उसे सुनना और आत्मसात करना।

(3) 'तादात्म्यसमापत्तियोग्यता' इसका संबंध चित्त से है। जब कवि एवं पाठक, श्रोता या सहृदय के चित्त के बीच तादात्म्य स्थापित हो जाता है, वे एक हो जाते हैं। उनकी अनुभूति एकरस हो जाती है।

निष्कर्ष यह है कि 'सहृदयता' हृदय की 'योग्यता', 'उत्कर्ष', 'संवेदनशीलता', 'आत्मसात् करने की क्षमता' का ही नाम है। जो जितना संवेदनशील होगा, योग्य हृदय का, उत्कर्षशील हृदय का स्वामी होगा, वह लोकोत्तर आनंदमय स्थिति को प्राप्त करने का अधिकारी होगा। हृदय की यह योग्यता साहित्य के अध्ययन, चिंतन-मनन की निरंतरता और अभ्यास से आती है। सभी का हृदय इसका अधिकारी नहीं होता। 'सहृदय' होने की योग्यता के लिए लंबे धैर्य और निरंतरता

के साथ काव्यानुशीलनात्मक अभ्यास की आवश्यकता है। तभी तुलसीदास के साथ दशरथ मरण के प्रसंग पर रो सकेंगे।

अभिनवगुप्त तो कहते हैं कि अभ्यास के साथ पूर्व जन्म के पुण्यों का होना भी आवश्यक है तभी चित्त काव्यानुशीलन में रमेगा यदि पुण्य के स्थान पर पाप होंगे तो वे मनुष्य को इस दिशा से विमुख करेंगे। अभिनवगुप्त 'हृदय की निर्मलता' को भी महत्त्व देते हैं। समुन्नत मस्तिष्क वाला, दैहिक आवश्यकताओं की परिधि से उठा हुआ. निर्व्यसन और साथ में सुकुमार यानी कोमल हृदय वाला मनुष्य ही काव्यानुशीलन सच्चा का पथगामी हो सकता है, 'सहृदय' हो सकता है। दूसरी तरह से कहा जाए तो श्रेष्ठ मानवीय संवेदनाओं से परिपूर्ण मनुष्य शिक्षित और परिष्कृत संस्कारों की पूंजी धारण कर 'सहृदय' बन सकता है। 'सहृदय' के भीतर वह प्रतिभा और शक्ति होती है कि वह काव्यार्थ को उसी शिद्दत और गहनता, पूर्णता एवं तीव्रता के साथ अनुभव करता है, जानता है। 'तन्मयीभवन' की योग्यता ही सहृदयता है। पंडितराज जगन्नाथ कहते हैं कि जिस प्रकार समाधिस्थ योगी को स्वरूपानंदाकार चित्तवृत्ति उत्पन्न होती है वह स्वयं आनंद स्वरूप और ब्रह्म रूप हो जाता है उसी प्रकार तन्मयीभवन योग्यता के कारण सहृदय कवि के चित्त के साथ तन्मय होकर काव्यानंद के मर्म तक पहुंच जाता है। 'सहृदय' बाह्य सौंदर्य पर नहीं टिकता वह अंतर्मन का भेदन करता हुआ समभाव पर पहुंचता है। रचना को नहीं रचना के कारण को भी लक्ष्य बनाता है। आत्मप्रकाश से भर उठने वाले हृदय की रचनात्मक सौंदर्य के प्रति दृष्टि गहन होती है। इसलिए आचार्यों ने हृदय को 'विमर्श' भी कहा है। विमर्श या हृदय जो सूखे झुर्रीदार मुख के पीछे छिपी तपस्या के सौंदर्य को अनुभूत कर जगमगा उठता हो उसे रचनात्मक सौंदर्य के नाम से जाना जा सकता है। ऐसा हृदय ही 'सहृदय' हो सकता है। ऐसे हृदय को धारण करने वाला पात्र 'सहृदय' हो सकता है। साहित्य जो काव्य का पर्याय माना जाता था उसमें सहृदय की अवधारणा साभिप्राय हुई थी। जो वर्तमान में भी प्रासंगिक है।

निष्कर्षः काव्य में रसानुभूति के लिए सहृदय का होना आवश्यक है। सहृदय के हृदय में स्थित सुप्त स्थाई भाव विभावादिकों को ग्रहण करके रसानुभूति से सिक्त हो जाते हैं। सहृदय और कवि के बीच तादात्म्य स्थापित हो जाता है जब सहृदय काव्य का पठन या श्रवण करता है उस काव्य में निहित भाव उसे कवि के भावों से तादात्म्य स्थापित करने में सहायक बनते हैं। कवि के भावों से तादात्म्य स्थापित होते ही काव्य के भावों का असाधारणत्व साधारण होने लगता है। साधारणीकरण की इस प्रक्रिया से रस निष्पत्ति होती है और सहृदय काव्यानंद में डूबता हुआ ब्रहमानंद की ओर बढ़ने लगता है। रस सिद्धांत सदैव प्रासंगिक रहा है। रस पंरपरा ऋग्वेद से अद्यतन निरंतर है। जब तक जीवन है, साहित्य है तो रस है। रस है तभी जीवन है। यही चक्र शाश्वत है।

3.7 सार संक्षेप

""प्राचीन काल से 'रस' शब्द का प्रयोग जल, सार, द्रव, स्वाद, धातु, वीर्य, षड्स, औषधि, पारद, सुरा, शोणित एवं परमात्मा आदि अर्थों में किया जाता रहा है। यहां परमात्मा के अतिरिक्त उपरोक्त सभी प्रयुक्त अर्थों में रस का लौकिक स्वरूप है। परमात्मा अलौकिक है, अनुभवगम्य है अतः रस का यहां प्रयुक्त अर्थ अलौकिक हुआ। इस तरह रस के दो रूप प्राप्त हुए-लौकिक एवं अलौकिक। संस्कृत साहित्य में प्राचीन काल से ही 'रस' के लौकिक एवं अलौलिक रूपों की चर्चा होती रही है। काव्य में प्रयुक्त रस अलौकिक एवं अनुभवगम्य होता है। इसलिए इसकी तुलना परमात्मा से की गई है। रस पर आधारित काव्यशास्त्रीय चिंतन एक तरह से ब्रहम से एकात्म होने का प्रयास है इसलिए तैत्तिरीय उपनिषद में कहा गया है-'रसो वै सः' यानी रस ही वह ब्रहम है। इसीलिए वह ब्रहमानंद सहोदर है। काव्य में प्रयुक्त रसों के प्रतिपादन की परंपरा पर दृष्टि डालें तो ऋग्वेद में इसके बीजों की उपस्थिति का भान होता है। कुछ आचार्य रस परंपरा का आरंभ अथर्ववेद के अभिचार मंत्रों से मानते हैं तो कुछ रामायण, महाभारत

से। किंतु ऋग्वेद कहता है- 'यौ वः शिवतमो रसः' यहां जल रूपी रस को शिवतम या आनंदमय बतलाया गया है। वह काव्य रस की आनंदमयता का बीज है। इस तरह रस परंपरा का आरंभ ऋग्वेद से ही माना जा सकता है। शतपथ ब्राह्मण में भी छंद रस या काव्यरस की उपस्थिति के प्रमाण मिलते हैं। इसमें छंद रस को सभी रसों में सर्वश्रेष्ठ एवं उत्कृष्ट मानते हुए कहा गया है कि छंदों के सरस होने पर ही इष्टसिद्धि होती है और यज्ञ का विस्तार होता है। काव्य और नाटक के सरस होने का आधार भी सरस छंद ही है। इसमें काव्य रस का स्पष्ट संकेत है- 'छंदसां रसो लोकानप्येष्यतीति तं परस्ताच्छन्दोभिः पर्यगृह्णात् पुनः छंदः सु रसाद धात्। सरसैर्हास्य छंदोभिरिष्टि भवति सरसैश्छंदोभिर्यज्ञं तनुते।' इसी 'शतपथ ब्राह्मण' में ही 'यावानु वै रसस्तावानात्मा' कहकर जितने रस उतनी आत्माओं का उल्लेख करके रस और आत्मा का संबंध बताया गया है। बाद में इसी आधार पर काव्य-रस को आत्मा कहा गया। रस को अपरिमित मानते हुए 'रसो वै सः' जैसा संकेत प्राप्त हुआ। तैत्तिरीय उपनिषद में स्पष्ट है 'रसो वै सः'। रसं हयेवायं लब्ध्वानन्दी भवित।' परमात्मा रसरूप है एवं आनंद का मूल कारण है। यह रस परंपरा निरंतर अधिकाधिक विस्तार पाती गई। रामायण और महाभारत में अनेक रसों का विधान हुआ।"

3.8 मुख्य शब्द

- लौकिक रस: - भौतिक रूप से अनुभव किए जाने वाले रस, जैसे जल, स्वाद, औषधि आदि।
- अलौकिक रस: - आध्यात्मिक और अनुभवगम्य रस, जो परमात्मा या आत्मा से जुड़ा होता है।
- तैत्तिरीय उपनिषद: - संस्कृत ग्रंथ जिसमें 'रसो वै सः' के माध्यम से रस को ब्रह्म के रूप में बताया गया है।

- ऋग्वेद: प्राचीन वेद जिसमें जल रूपी रस को आनंदमय और शिव के रूप में बताया गया है।
- शतपथ ब्राह्मण: संस्कृत ग्रंथ जिसमें काव्य रस और छंद के महत्व का वर्णन है।
- रामायण और महाभारत: - महाकाव्य, जिसमें काव्य रस की विभिन्न अभिव्यक्तियाँ मिलती हैं।
- काव्यशास्त्र: - साहित्यशास्त्र का वह हिस्सा जो काव्य, रस, अलंकार आदि की संरचना और सिद्धांतों का अध्ययन करता है।
- आत्मा: - काव्य में रस को आत्मा से जोड़ा गया है, जो आनंद और ब्रह्म का स्रोत है।

3.9 स्वप्रगति परीक्षण प्रश्नों के उत्तर

प्रगति की जाँच

उत्तर: 1. विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव

उत्तर: 2. अनुभूतियां

उत्तर: 3. स्थाई भाव, विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव

उत्तर: 4. सहृदय

3.10 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. डॉ. राकेश कुमार, "हिंदी कविता का आलोचनात्मक परिप्रेक्ष्य", प्रभात प्रकाशन, दिल्ली - 2020
2. डॉ. माया वर्मा, "आधुनिक हिंदी काव्यशास्त्र: सिद्धांत और विधियाँ", राजकमल प्रकाशन, दिल्ली - 2019

3. डॉ. आशीष कुमार, "काव्यशास्त्र की नव-समालोचनात्मक विधियाँ", भारतीय साहित्य अकादमी, दिल्ली - 2022
4. डॉ. विजय वर्मा, "हिंदी साहित्य आलोचना: सिद्धांत और प्रवृत्तियाँ", साहित्य घर, जयपुर – 2021

3.11 अभ्यास प्रश्न

1. रस के लौकिक और अलौकिक रूपों के बीच अंतर स्पष्ट करें। उदाहरण सहित समझाएं।
2. काव्यशास्त्र में रस के महत्व और उसकी भूमिका पर प्रकाश डालें। 'रसो वै सः' के सिद्धांत को समझाते हुए इसका संबंध काव्य से कैसे है?
3. 'शतपथ ब्राह्मण' में छंद और रस के संबंध को स्पष्ट करें। इस सिद्धांत का काव्य और नाटक में क्या महत्व है?
4. ऋग्वेद में 'यौ वः शिवतमो रसः' का क्या अर्थ है? काव्य रस की आनंदमयता के संदर्भ में इसका उपयोग कैसे
5. काव्य रस के विभिन्न प्रकारों को परिभाषित करें। प्रत्येक रस के उदाहरण देकर उनके गुण और विशेषताएँ स्पष्ट करें।

इकाई 4

अलंकार सिद्धांत

4.1 प्रस्तावना

4.2 उद्देश्य

4.3 अलंकार की अवधारणा

4.4 अलंकार सिद्धांत की प्रमुख स्थापनाएं

4.5 अलंकारों का वर्गीकरण

4.6 प्रमुख अलंकार

4.7 सार संक्षेप

4.8 मुख्य शब्द

4.9 स्वप्रगति परीक्षण प्रश्नों के उत्तर

4.10 संदर्भ ग्रंथ सूची

4.11 अभ्यास प्रश्न

4.1 प्रस्तावना

अलंकार सिद्धांत काव्यशास्त्र का महत्वपूर्ण और विस्तारपूर्वक अध्ययन है, जो काव्य में सौंदर्य और आकर्षण के तत्वों की भूमिका को समझाता है। इस सिद्धांत के तहत, 'अलंकार' को काव्य की आत्मा माना गया है, जो काव्य को सुंदर और भावनात्मक रूप से प्रभावी बनाता है। भामह, दंडी और वामन जैसे आचार्यों ने अलंकार के विभिन्न पहलुओं को परिभाषित किया और काव्य में इसके महत्व को उजागर किया। भामह ने अलंकार को अतिशयोक्ति और वक्रोक्ति के माध्यम से काव्य के अर्थ और सौंदर्य में विविधता लाने का उपकरण माना। दंडी ने इसे काव्य के सौंदर्य को बढ़ाने वाला एक प्रमुख तत्व माना, जबकि वामन ने अलंकार को काव्य की शोभा में अतिशयता लाने वाले सहायक तत्व के रूप में प्रस्तुत

किया। इस इकाई में हम अलंकार के सिद्धांतों को समझेंगे, उसके प्रकारों का अध्ययन करेंगे और काव्य में उनके महत्व को जानेंगे।

4.2 उद्देश्य

प्रिय शिक्षार्थियों, इस इकाई के अध्ययन के बाद आप निम्नलिखित पहलुओं को समझ सकेंगे:

- 'अलंकार' का काव्य में अर्थ और उसकी परिभाषा।
- भामह, दंडी और वामन द्वारा अलंकार पर प्रस्तुत विचार और उनके सिद्धांत।
- काव्य में अलंकार के महत्व और इसके बिना काव्य के अधूरे होने का बोध।
- भामह द्वारा अलंकार की व्याख्या और वक्रोक्ति की भूमिका।
- दंडी द्वारा अलंकार और वक्रोक्ति के बीच भेद का स्पष्ट ज्ञान।
- काव्य में सौंदर्य को बढ़ाने में अलंकार की भूमिका और इसे प्राप्त करने के विभिन्न तरीके।
- अलंकार के विभिन्न प्रकार, जैसे शब्दालंकार और अर्थालंकार, और उनके काव्य पर प्रभाव।

4.3 अलंकार की अवधारणा

'अलंकार' का सामान्य अर्थ है-गहना या आभूषण जो देह की शोभा बढ़ाते हैं। काव्य के संदर्भ में भी इसे शोभा बढ़ाने वाले धर्म और तत्व के रूप में लिया जाता है। बाह्य तत्व के रूप में काव्य को अलंकृत करने वाले शब्दालंकार तथा धर्म के रूप में शब्द की आत्मा में धारित यानी अर्थ को अलंकृत करने वाले अर्थालंकार। काव्य की आत्मा 'रस' है या अन्य कोई लक्षण इस तर्क-वितर्क के आरंभिक दौर में सर्वप्रथम अलंकार सिद्धांत का जन्म हुआ। काव्य की आत्मा अलंकार है ऐसा मत इस सिद्धांत के अंतर्गत स्थिर हुआ। आचार्य भामह इस

संप्रदाय के प्रवर्तक हैं। आचार्य रुद्रट एवं जयदेव ने इस सिद्धांत को प्रतिष्ठा प्रदान की।

'अलंकार' शब्द की व्युत्पत्ति दो प्रकार से की जाती है- (1) अलंक्रियते अनेन इति अलंकारः और (2) अलंकरोति इति अलंकारः। पहली व्याख्या के अनुसार अलंकार की प्रतिष्ठा एक उपादान या 'करण' के रूप में सिद्ध होती है और यह काव्य के मूल से उसका पार्थक्य बताती है। दूसरी व्युत्पत्ति के अनुसार अलंकार काव्य का वह तत्व है जो उसे (काव्य को) सुंदर बनाता है। अर्थात काव्य का ही एक अंग है जो उसका सौंदर्याधायक तत्व है। अलंकारवादियों ने इन दोनों ही व्युत्पत्तियों को आधार मानकर यथास्थान और यथावश्यकता अलंकार की व्याख्या और उसकी महत्ता का दिग्दर्शन कराया है।

4.4 अलंकार सिद्धांत की प्रमुख स्थापनाएं

अलंकारवादियों ने अलंकार को काव्य की आत्मा स्वीकार करते हुए अलंकार रहित रचना को काव्य मानने से इनकार किया है। ऐसी घोषणा सर्वप्रथम भामह ने की। उनके अनुसार नारी का मुख सुंदर होते हुए भी आभूषणों के बिना शोभा नहीं देता -

'न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनिता मुखम्।' अलंकारवादियों ने 'शोभा' शब्द का प्रयोग काव्य के मुख सौंदर्य के अर्थ में या फिर उसकी आत्मा के अर्थ में किया है। भामह की उक्त पंक्ति से स्वतः सिद्ध होता है कि 'भामह' की दृष्टि में वनिता के स्वाभाविक सौंदर्य का अलंकारों के बिना कोई मूल्य नहीं है। भामह कथन के दो रूप मान कर चलते हैं -

(1) कथन का प्रकृत रूप अर्थात अनलंकृत रूप और (2) रमणीय अर्थात अलंकृत रूप। इनमें प्रथम अकाव्य या वार्ता है तथा दूसरा अपने समग्र रूप में काव्य है और यही अलंकार है। वस्तुतः भामह ने अलंकार और अलंकार्य में भेद नहीं किया, क्योंकि उनकी दृष्टि में समग्र काव्य. ही अलंकार है। अतः उससे भिन्न किसी अन्य तत्व की कल्पना उनकी सीमा से बाहर की वस्तु थी। अलंकार और

अलंकार्य की धारणा का श्रीगणेश ध्वनिवादियों ने किया था। कुंतक की दृष्टि भी इस तथ्य की ओर गई थी किंतु उन्होंने इसे केवल प्रतिपादन का माध्यम मात्र स्वीकार किया, क्योंकि उनकी दृष्टि में 'शब्द' 'अर्थ और अलंकार' की समष्टि का नाम काव्य है। इन्हें एक दूसरे से पृथक करके नहीं देखा जा सकता। भामह ने अलंकार के मूल में अतिशयोक्ति या वक्रोक्ति को माना है। उक्ति की अतिशयता या चमत्कार ही अलंकार है और वक्रोक्ति तथा अतिश्योक्ति में कोई अंतर नहीं है। दोनों का अर्थ ही 'विशिष्ट उक्ति' है। अंत में भामह अपने मंतव्य को पूर्णतः स्पष्ट कर देते हैं, जब यह कह देते हैं कि 'कोऽलंकारोऽनया विना' अर्थात वक्रोक्ति के अभाव में किसी भी अलंकार की कल्पना नहीं कर सकते। वक्रोक्ति के द्वारा ही अर्थ का विभावन होता है अर्थात अर्थ में वैचित्र्य आ जाता है। भामह ने अतिश्योक्ति को 'लोकातिक्रांतगोचरा' अर्थात शब्दार्थ के इतिवृत्त कथन से भिन्न चमत्कारपूर्ण प्रयोग कहा है और उसे ही फिर वक्रोक्ति कह दिया है- 'सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिः' इससे स्पष्ट है कि 'वक्रोक्ति और अतिशयोक्ति' दोनों ही 'लोकातिक्रांत गोचरा' अर्थात लोककथन से भिन्न विशिष्ट अर्थ का द्योतन कराने वाला कथन वक्रोक्ति है।

भामह ने अन्य का संकेत देते हुए 'स्वभावोक्ति' को भी एक अलंकार के रूप में अपनी स्वीकृति दी है, क्योंकि इन्होंने उक्त अलंकार का लक्षण भी दिया है और उदाहरण भी। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि भामह इसे एक अलंकार के रूप में स्वीकार करते हैं।

सर्वप्रथम अलंकारों का क्रमबद्ध वैज्ञानिक विवेचन 'काव्यालंकार' में भामह ने किया। भामह ने अपने पूर्ववर्ती 'मेधाविन' का उल्लेख किया है जिससे यह पता चलता है कि अलंकार परंपरा पहले से चली आ रही है। लेकिन 'मेधाविन' या किसी भी रचनाकार का अलंकार संबंधी कोई ग्रंथ उपलब्ध न होने के कारण 'काव्यालंकार' को ही अलंकार संप्रदाय का प्रथम प्रामाणिक, उपयोगी और महत्वपूर्ण ग्रंथ माना जाता है। भरत ने इससे पूर्व 'नाट्यशास्त्र' में अलंकारों का

वर्णन करते हुए उपमा, रूपक, दीपक और यमक चार अलंकारों को मान्यता दी थी। 'उपमा दीपकं चैव रूपकं यमकं तथा। काव्यस्यैते अलंकाराश्चत्वारः परिकीर्तिताः।' बाद में लगभग सभी आचार्यों ने अलंकारों की सत्ता को स्वीकार किया। किसी ने अलंकारों को काव्य का मुख्य तत्व माना तो कुछ ने काव्य में अलंकारों का महत्व है ऐसा स्वीकार किया। भामह कहते हैं काव्य की आत्मा अलंकार है रस आदि का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है बल्कि वे अलंकारों में ही उनका अंतर्भाव स्वीकार करते हैं। 'वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टावाचामलंकृतिः' अर्थात वे शब्द और अर्थ के वैचित्र्य को अलंकार की संज्ञा देते हैं। यह विचित्रता वक्रोक्ति में भी पाई जाती है अतः कहा जा सकता है कि अलंकार काव्य की आत्मा है और अलंकारों में वक्रोक्ति का स्थान मुख्य है। वक्रोक्ति अलंकारों को जीवन देने वाला तत्व है। भामह की दृष्टि में वक्रोक्ति से रहित कोई अलंकार नहीं होता। भामह कहते हैं- 'सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते। यत्नोऽस्यांकविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना।'

रुद्रट वक्रोक्ति को शब्दालंकार और वामन अर्थालंकार मानते हैं क्योंकि इसमें शब्द और अर्थ दोनों की विचित्रता होती है। भामह के बाद दंडी का मत महत्वपूर्ण है। वे काव्य के सौंदर्य को बढ़ाने वाले धर्मों को अलंकार मानते हैं- 'काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते।'

अलंकार को काव्य का नित्यधर्म मानते हुए उन्होंने अतिश्योक्ति को अलंकारों का सर्वस्व बताया-

'अलंकारान्तराणामप्येकमाहुः परायणम्।
वागीशमहितामुक्तिमिमामतिशयाह्वयाम्।।

दंडी ने काव्य के परिप्रेक्ष्य में अलंकारों को स्पष्ट किया है जबकि भामह ने सिद्ध किया कि "काव्य एक स्वतंत्र एवं अपने में पूर्ण इकाई है।" फलतः दंडी ने काव्य-सौंदर्य के सभी तत्वों को अलंकार के अंतर्गत समाहित करने का प्रयास किया है। आपके अनुसार काव्य का विषयगत सौंदर्य सामान्य अलंकार का अंग

है तो शैलीगत सौंदर्य विशेष अलंकार में समाहित हो जाता है। दंडी ने रसों को भी रसवत् अलंकारों के अंतर्गत सन्निविष्ट कर अलंकार्य और अलंकार की अभिन्नता की घोषणा कर दी। उधर दूसरी ओर दंडी वक्रोक्ति और स्वभावोक्ति में अंतर मान कर चलते हैं किंतु भामह जहां स्वभावोक्ति को अलंकार मान कर उसे वक्रोक्ति के अंतर्गत परिगणित कर लेते हैं, वहां दंडी इसे इससे भिन्न रूप में स्वीकार करते हैं। उन्होंने समस्त वाङ्मय को दो वर्गों-स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति में विभाजित कर स्वभावोक्ति का शास्त्रादि में साम्राज्य बताया है तथा वक्रोक्ति को इससे भिन्न चमत्कारपूर्ण उक्ति का पर्याय कहा है। आपका कथन इस प्रकार है-

आगे चल कर दंडी स्पष्ट कर देते हैं कि 'शास्त्रेष्वस्यैव साम्राज्यम्'। काव्यादर्श की हृदयंगमा टीका में स्पष्ट करते हुए टीकाकार लिखते हैं कि 'वक्रोक्ति शब्देन उपमादयः संकीर्णपर्यन्ता अलंकारा उच्यन्ते।' दंडी ने वक्रोक्ति के मूल में चमत्कार के लिए किसी- किसी रूप में 'श्लेष' का योग माना है- 'श्लेषो सर्वासु पुष्णाति प्रायः वक्रोक्तिषु श्रियम्'।

यहां पर वे चमत्कार का श्रेय अकेली वक्रोक्ति को न देकर 'श्लेष' को भी महत्व प्रदान करते हुए दिखाई देते हैं। दूसरी ओर भामह की तुलना में दंडी स्वभावोक्ति को अलंकार मानते हैं किंतु उसे वक्रोक्ति से भिन्न आद्य अलंकार के रूप में स्वीकार कर उसे शास्त्रीय उक्तियों की प्रयोजक बता कर एक प्रकार से काव्य-जगत् से बहिष्कृत कर देते हैं और स्वभावोक्ति को अनिवार्य न मानकर वांछनीय ही मानते हैं।

वामन की भी गणना एक रूप से अलंकारवादियों में की जाती है। अंतर केवल इतना है कि जहां भामह और दंडी काव्य में अलंकार को कारक धर्म के रूप में स्वीकार करते हैं, वहां वामान अलंकार की शोभा को अतिशयता प्रदान करने वाले एक सहायक तत्व के रूप में प्रतिपादित करते हैं-काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः तदतिशय- हेतवस्त्वलंकाराः। अर्थात काव्य को शोभाकारक धर्म गुण है

और अलंकार उन्हें अतिशयता प्रदान करते हैं। किंतु एक अन्य स्थल पर वे अलंकार को सौंदर्य का पर्यायवाची बता देते हैं, यथा-सौंदर्यालेकारः। साथ ही यह भी कहते हैं कि 'काव्य अलंकार के कारण ही ग्राह्य होता है-'काव्यं ग्राह्यमलंकारात्'। ये दोनों उक्तियां यदि देखा जाए तो पूर्वोक्त कथन 'तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः' और 'रीतिरात्मा काव्यस्य' के विपरीत सी जान पड़ती है। आधुनिक आलोचक तो सौंदर्य को ही काव्य का प्राण मानते हैं और स्वयं वामन भी यह मानते हैं कि काव्य अलंकार के कारण ही ग्राह्य होता है, तब रीति और गुण के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता है। वामन ने भी संभवतः अपने कथन के विरोधाभास को समझ लिया था। फलतः आगे के सूत्रों में उन्हें अपने कथन में सुधार करना पड़ा कि गुण काव्य का नित्य धर्म है और अलंकार अनित्य धर्म है। फलतः 'गुण' काव्य में सौंदर्य की सृष्टि कर सकता है किंतु अकेला अलंकार काव्य में सौंदर्य की सृष्टि नहीं कर सकता।

कुंतक के अनुसार काव्य न तो अलंकार है न अलंकार्य, बल्कि दोनों का समन्वित रूप ही काव्य है अर्थात सालंकार काव्य का ही काव्यत्व है। इससे स्पष्ट है कि कुंतक काव्य में अलंकार के पक्षधर हैं किंतु वे अलंकार को काव्य का शोभाकारक धर्म नहीं मानते। कुंतक ने वक्रोक्ति और स्वभावोक्ति को पृथक-पृथक मान कर स्वभावोक्ति को अलंकार्य और वक्रोक्ति को अलंकार की संज्ञा से अभिहित किया है। कुंतक का कथन है कि स्वभावोक्ति का अर्थ होता है। स्वभाव ही उक्ति का विषय अथवा वर्ण्य विषय है। यदि वही अलंकार हो जाए तो उससे मिले शरीर स्थानीय कौन सी वस्तु रह जाएगी, जो अलंकार्य कहलाएगी अर्थात कुछ नहीं। स्वभाव कथन तो काव्य का शरीर है और यदि वही अलंकार हो जाए तो वह दूसरे को किसको अलंकृत करेगा? कहीं कोई स्वयं अपने कंधे पर भी चढ़ सकता है? इन सबको अधिक स्पष्ट करते हुए कुंतक एक स्थान पर लिखते हैं कि 'अन्य पर्याय शब्दों के रहते हुए भी विवक्षित अर्थ का बोधक केवल एक शब्द ही वस्तुतः शब्द है।' इसी प्रकार सहृदयों के हृदय को आनंदित करने वाला अपने

स्वभाव से सुंदर अर्थ ही वास्तव में अर्थ है। ये दोनों (शब्द और अर्थ) ही अलंकार्य होते हैं। वैदग्ध्य-पूर्ण उक्ति रूप वक्रोक्ति ही उन दोनों का अलंकार है।

आचार्य उद्‌भट का नाम भी अलंकारवादी आचार्यों में आता है। इन्होंने भामह के काव्यालंकार की टीका की तथा 'काव्यालंकार सार संग्रह' ग्रंथ की रचना की। इन्होंने गुण और अलंकार को अभिन्न माना। उद्‌भट अलंकार को काव्य का अभिन्न अंग मान कर चलते हैं और उनकी दृष्टि कुंतक की तरह की 'सालंकारं काव्यता' को ही मान कर चलती है। दूसरी ओर वे गुण और अलंकार को काव्य में चारूता का द्‌योतक मानते हैं। वक्रोक्ति को अलंकार के मूल में होने को अपनी स्वीकृति प्रदान कर देते हैं किंतु दूसरी ओर स्वभावोक्ति को भामह की तरह अकाव्य नहीं मान कर उसे एक अलंकार के रूप में मानते हैं किंतु दंडी की तुलना में वे इसके क्षेत्र को सीमित कर देते हैं। भोजराज ने 'अलंकारैरलंकृतम्' का भी प्रतिपादन किया-

निर्दोषं गुणवत्काव्यमलंकारैरलंकृतम्।
रसान्वितं कविः कुर्वन्कीर्तिप्रीतिं च विन्दति ॥

रुद्रट के अनुसार 'वास्तव' अलंकार है और 'वास्तव' अलंकार का यह लक्षण है- 'वास्तव' में वस्तु के स्वरूप का कथन होता है किंतु इसका पुष्टार्थ (रमणीयार्थ) वैपरीत्य, औपम्य, अतिशय तथा श्लेष आदि पर निर्भर नहीं रहता।' इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि रुद्रट 'वास्तव' अलंकार में अप्रस्तुतविधान को स्वीकार नहीं करते तथा वस्तु के स्वरूप कथन में भी चमत्कार के अभिनिवेश को स्वीकार करते हैं। संभवतः वह वस्तु के प्राकृित सौंदर्य का वाचक है; जैसे -

वास्तवमिति तज्ज्ञेयं क्रियते वस्तु-स्वरूपकथनं यत्।
पुष्टार्थमविपरीतं निरुपममनतिशयम् अश्लेषम्॥

ऐसा प्रतीत होता है कि रुद्रट वस्तु के आकृतिगत प्राकृत सौंदर्य को अधिक महत्व देते हैं। महिम भट्‌ट के अनुसार चारुत्व ही अलंकार है। यह चारुत्व वैचित्र्य का

ही पर्याय है। अतः शब्दार्थ की विच्छिति ही अलंकार है। यहां पर विचारणीय विषय दो हैं- (1) चारूत्व के बिना (वस्तु के अपकर्ष और उत्कर्ष) काव्य आस्वाद्य नहीं होता, किंतु (2) कवि अलंकार की सिद्धि के लिए नहीं अपितु रस या सौंदर्य सिद्धि के लिए काव्य रचना करता है। अलंकार तो स्वतः ही सौंदर्य सिद्धि के लिए काव्य में प्रविष्ट हो जाते हैं, क्योंकि अलंकार रस के साथ बिना किसी प्रयत्न के ही सिद्ध हो जाते हैं। उपर्युक्त कथनों से यह स्पष्ट नहीं हो पाता कि महिम भट्ट की दृष्टि से काव्य में अलंकारों की क्या स्थिति है। वे काव्य के अंग हैं या अंगी हैं। इसके साथ-साथ महिम भट्ट ने स्वभावोक्ति को अलंकारत्व प्रदान करने में अलंकार और अलंकार्य के एकत्व को पुष्ट कर दिया है। इससे रस की स्थिति पुनः डावांडोल हो जाती है अथवा यूं कहें कि अलंकार्यत्व के लिए अवसर नहीं रह जाता क्योंकि वे विशिष्ट स्वरूप कथन को स्वभावोक्ति अलंकार मान लेते हैं।

जयदेव की दृष्टि में अलंकार से रहित उक्ति को काव्य मानना वैसा ही है जैसे अग्नि को उष्णता रहित मानना। ये पंक्तियां ही अलंकारों के प्रति जयदेव के अनुराग को स्पष्ट करने में पर्याप्त हैं। जयदेव की दृष्टि में अलंकारों के बिना काव्य का काव्यत्व हो दांव पर लग जाता है और उसके अस्तित्व के लिए खतरा उत्पन्न हो जाता है। मम्मट द्वारा प्रतिपादित काव्य लक्षण 'शब्दार्थावनलंकृती पुनः क्वापि' का खंडन करते समय जयदेव ने कहा कि जो व्यक्ति अलंकार रहित काव्य को काव्य मानते हैं वे विद्वान अग्नि को भी उष्णता रहित क्यों नहीं मान लेते हैं। इससे स्पष्ट है कि न तो अग्नि उष्णता रहित हो सकती है और न ही काव्य अलंकार रहित हो सकता है -

अंगीकरोतिः यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्माद् अनुष्णमनलंकृती ।।

जयदेव की दूसरी मौलिकता इस तथ्य में निहित है कि वे अतिश्योक्ति या वक्रोक्ति को काव्य का मूल स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार उपमादि अलंकारों

में वक्रता की समानता रहते हुए भी प्रत्येक अलंकार में परस्पर अंतर रहता है, जिस प्रकार मुख के उपांगों में समानता रहते हुए भी प्रत्येक व्यक्ति के मुख में विलक्षणता रहती है।

अलंकारवादियों के अतिरिक्त ध्वनिवादी, वक्रोक्तिवादी रीतिवादी आचार्यों ने भी 'अलंकार' पर अपने विचार व्यक्त किए। किसी ने काव्य में इनके महत्व को स्वीकार किया। किसी ने कहा कि काव्य में अलंकार हों तो ठीक है न हों तो भी ठीक है। काव्य के काव्यत्व में कोई अंतर नहीं आएगा क्योंकि काव्य की आत्मा रस है या काव्य की आत्मा ध्वनि है आदि। कुछ ने ध्वनि, रस, रीति, गुण आदि को भी काव्य के लिए अलंकार माना। किसी ने अलंकारों को रस का सहायक माना, किसी ने रस का आश्रित माना। किसी ने इन्हें रस के उन्मीलक तत्व के रूप में स्वीकार किया तो किसी ने कहा कि ये काव्य की आकर्षण शक्ति बढ़ाते हैं। भावों के स्पष्टीकरण के लिए भी किसी ने इन्हें आवश्यक माना किंतु अंततः भाव ही रस है ऐसा मानते हुए बात अपनी जगह लौट आई। अपनी-अपनी मान्यताओं, विचारों, दृष्टिकोण के अनुरूप अलंकार सिद्धांत की प्रतिष्ठा बनी रही। यह प्रासंगिकता नई कविता तक निरंतर जारी है।

4.5 अलंकारों का वर्गीकरण

काव्यशास्त्र के क्षेत्र में अलंकारों का सर्वप्रथम विवेचन हमें भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में उपलब्ध होता है। भरत ने अपने ग्रंथ में 'उपमा, रूपक, दीप्रक एवं यमक' इन चार अलंकारों का उल्लेख किया है। उपमा के पांच भेदों का उल्लेख भी भरत ने किया है तथा 'अन्य भेद भी हो सकते हैं' का संकेत भी दिया है। 'यमक' के भी अनेक भेदों का उल्लेख मिलता है। भरत के पश्चात भामह और दंडी ने अनेक अलंकारों को चिह्नित किया तथा उनके लक्षणों एवं उदाहरणों का विस्तार से विवेचन किया। इन्होंने अलंकारों की संख्या को चालीस तक पहुंचा दिया। इतना ही नहीं दंडी ने यमक के तीन सौ पंद्रह भेदों का भी उल्लेख किया है तथा उपमा के बत्तीस भेद बताए हैं। भामह की तुलना में दंडी ने अर्थालंकारों

का विस्तार से विवेचन किया थे। दोनों ही आचार्य अलंकार के दो भेद-(1) शब्दालंकार और (2) अर्थालंकार प्रस्तुत कर चुके हैं। इनके पश्चात उद्भट ने सर्वप्रथम अलंकारों का वर्ग विभाजन किया। इन्होंने 'इकतालीस' अलंकारों का विवेचन किया है। रीतिवादी वामन ने केवल बत्तीस अलंकारों का विवेचन किया है। अलंकारवादियों में सर्वप्रथम 'रुद्रट' ने अलंकारों का साधार वर्गीकरण करने का प्रयास किया है। शब्दालंकार एवं अर्थालंकार। रुद्रट ने लगभग छियासठ अर्थालंकारों एवं पांच शब्दालंकारों का विवेचन अपने ग्रंथ में किया है। रुद्रट के पश्चात मम्मट के अलंकार विवेचन को काव्यशास्त्र में अत्यधिक महत्व दिया जाता है। इन्होंने छह शब्दालंकारों और इकसठ अर्थालंकारों का विवेचन किया है। रुय्यक के अनुसार अलंकारों का वर्गीकरण इस प्रकार है- (1) शब्दालंकार, (2) अर्थालंकार। अर्थालंकार को पुनः पांच वर्गों में विभाजित किया गया है- (1) सादृश्य मूलक, (2) विरोध मूलक, (3) श्रृंखला मूलक, (4) न्याय मूलक और (5) गूढ़ार्थप्रतीति मूलक।

4.6 प्रमुख अलंकार

(1) शब्दालंकार-शब्दालंकार वहां होते हैं, जहां कथन का चमत्कार उसमें प्रयुक्त शब्दों की आवृत्ति पर निर्भर करता है। यदि उक्ति में से संबद्ध शब्दों को हटा कर उनके पर्यायवाची शब्द उक्ति में रख दिए जाएं तो उक्ति का वह चमत्कार भी समाप्त हो जाता है। अतः शब्द पर ही आधारित होने के कारण इन्हें शब्दालंकार कहा जाता है। इनमें प्रमुख अलंकार हैं- अनुप्रास, यमक, पुनरुक्तवदाभास, श्लेष, वक्रोक्ति आदि।

(2) अर्थालंकार-अर्थालंकार वहां होते हैं, जहां अलंकार का सौंदर्य शब्द पर निर्भर न कर उसके अर्थ पर निर्भर करता है। किसी शब्द के स्थान पर उसके पर्यायवाची शब्द का प्रयोग कर दिए जाने पर भी उसका अलंकारत्व यथावत् बना रहता है। अतः ऐसे अलंकारों को अर्थालंकार की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। इन अलंकारों को निम्नलिखित पांच वर्गों में विभाजत किया गया है-

• सादृश्यमूलक अर्थालंकार इस वर्ग में वे अलंकार आते हैं जिनमें सादृश्य न होने पर प्रस्तुत और अप्रस्तुत के सादृश्य का निरूपण किया जाता है।

• विरोधमूलक अर्थालंकार जहां प्रस्तुत और अप्रस्तुत में विरोध का चमत्कार पूर्ण कथन होता है वहां विरोध मूलक अलंकार होते हैं। इसमें विरोध कवि कल्पित होता है वास्तविक विरोध नहीं होता। ऐसी उक्तियों में विरोध प्रतीत होते ही शांत हो जाता है और विरोध की शांति ही उक्ति का चमत्कार होता है। यह दृश्य ठीक इस प्रकार का होता है जैसे कि बादलों में क्षण भर को चमक कर बिजली छिप जाती है। जिस प्रकार बिजली की क्षणिक चमक दर्शकों को चमत्कृत कर देती है, उसी प्रकार अप्रस्तुत का क्षणिक विरोध काव्य रसिकों को चमत्कृत कर देता है।

(2) उपमेयोपमा-जहां पर उपमेय और उपमान परस्पर एक दूसरे के उपमेय और उपमान बन जाते हैं. वहां उपमेयोमपा अलंकार होता है। वस्तुतः यहां पूर्व कथित उपमेय उत्तर कथन में उपमान और पूर्व कथित उपमान उत्तर कथन में उपमेय बन जाता है अर्थात लेखक की दृष्टि में उन दोनों के अतिरिक्त उनकी समता के लिए कोई तीसरी वस्तु नहीं होती, जैसे 'वे तुम सम तुम उन सम स्वामी।' उक्त पद के पूर्व कथन में वे उपमेय हैं और तुम उपमान किंतु उत्तर कथन में तुम उपमेय बन जाता है और 'उन' उपमान बन जाता है। इस कारण यह उपमेयोपमा अलंकार है। अन्य उदाहरण-राम के समान, शंभू, शंभू सम राम है।

(3) अनन्वय-अनन्वय अलंकार वहां होता है, जहां उपमेय को ही उपमान के रूप में प्रस्तुत किया जाए। इसका तात्पर्य यह है कि रचनाकार कार्य विषय की उत्कृष्टता सिद्ध करने के लिए यह बताना चाहता है कि विश्व में दूसरी ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जो उस वस्तु की समता कर सके। इसलिए उपमेय को ही उपमान बना दिया जाता है। उदाहरण-

'उपमान विहीन रचा विधि ने, बस भारत के सम भारत है।'

उक्त पद्य में भारत की उत्कृष्टता सिद्ध करने के लिए कवि ने भारत उपमेय के लिए भारत उपमान का ही वर्णन किया है अतः यहां अनन्वय अलंकार है।

अन्य उदाहरण-

'सुंदर नंदकिशोर से, सुंदर नंदकिशोर ।'

(4) उदाहरण-जहां पहले किसी सामान्य बात का कथन किया जाए और फिर उसे स्पष्ट करने के लिए उसी सामान्य के एक अंश विशेष का वाचक शब्दों के द्वारा निरूपण कर उनका अवयवावयवी भाव प्रकट किया जाए वहां उदाहरण अलंकार होता है। इसमें उपमेय वाक्य प्रधान होता है-

नीकी पै फीकी लगै, बिन अवसर की बात।

जैसे वर्णन युद्ध में, रस श्रृंगार न सुहात ।।

(5) प्रतीप 'प्रतीप' का अर्थ होता है विपरीत। इसका अर्थ यह हुआ कि यह अलंकार उपमा से विपरीत अर्थात् उलटा होता है। अतः इसको इस प्रकार परिभाषित किया जा सकता है कि जहां प्रसिद्ध उपमान का उपमेय की तुलना में अपकर्ष दिखाया जाता है वहां प्रतीप अलंकार होता है। उदाहरण-उस तपस्वी से लंबे ये देवदारू दो चार खड़े। कामयानी (6) व्यतिरेक-जहां गुणाधिक्य के कारण उपमान की तुलना में उपमेय का उत्कर्ष वर्णित होता है, वहां व्यतिरेक अलंकार होता है। वयतिरेक का अर्थ होता है उत्कर्ष या आधिक्य। अतः इस अलंकार के माध्यम से उपमेय का उत्कर्ष प्रदर्शित किया जाता है। जैसे-

सिय मुख सरद कमल जिमि किमि कहि जाय। निसि मलिन वह, निसि दिन यह विगसाय ।।

(बरवै रामायण)

(7) स्मरण-जहां पहले से देखी हुई या अनुभव की हुई वस्तु का उसी के सदृश किसी अन्य वस्तु को देखकर या अनुभव कर, स्मरण हो आने का वर्णन हो, वहां स्मरण अलंकार होता है। जैसे-

भएउ कोलाहलु नगर मंझारी
आवा कपि लंका जेहि जारी।

(8) असम-जहां उपमेय के समान किसी उपमान के निषेध का वर्णन हो, वहां असम अलंकार होता है। 'असम' का अर्थ होता है जिसके समान कोई अन्य न हो। जैसे-

फलराज रसाल समान कहीं। फल और, मनोहर एक नहीं।।

(9) रूपक-जहां उपमेय का कथन कर उसका उपमान के साथ अभेद आरोपित किया गया हो, वहां पर रूपक अलंकार होता है। रूपकं अलंकार में उपमेय पर उपमान का आरोप कर दिया जाता है अर्थात उपमेय को ही उपमान बता दिया जाता है या समझ लिया जाता है। जैसे-मुख चांद है। इस वाक्य में मुख को चांद बता दिया गया है। रूपक अलंकार

के तीन भेद होते हैं- (1) निरंग रूपक, (2) सांग रूपक (3) परंपरित रूपक।

• निरंग रूपक जहां केवल उपमेय में उपमान का आरोप किया जाता है, वहां निरंग रूपक अलंकार होता है। प्रत्येक वस्तु मूल होती है और उसके अंग भी होते हैं। मूल वस्तु को 'अंगी' कहा जाता है। 'निरंग' शब्द का अर्थ ही होता है 'अंग रहित'। कुछ विद्वान इसे निरवयव रूपक भी कहते हैं। जैसे-

विधु वदनी सब भांति संवारी। सोह न वसन बिना वर नारी।

• सांग रूपक-जहां पर उपमेय के सभी अंगों अथवा अवयवों पर उपमान के सभी अंगों या अवयवों का आरोप वर्णित हो, वहां पर सांग रूपक अलंकार होता है। इस अलंकार-रूप में अंगों सहित अंगी उपमेय पर अंगों सहित अंगी उपमान का आरोप किया जाता है। इसमें

अनेक आरोप वर्णित होते हैं, जैसे-

बीती विभावरी जाग री,
अंबर पनघट में डुबो रही।
तारा-घट ऊषा-नागरी।

इन पंक्तियों में अंबर में पनघट का, तारे में घट का और ऊषा में सुंदरी का आरोप किया गया है। यहां पर प्रातःकाल के आकाश, तारा और ऊषा का कुएं के पनघट, घट और नागरी पर आरोप कर रात्रि के बीतने और प्रातः काल के आगमन का वर्णन किया गया है। अतः समस्त अंगों पर आरोप कथित होने से यहां पर सांग रूपक अलंकार है। सांग रूपक के पुनः दो भेद किए जाते हैं- (1) समस्त वस्तु विषय और (2) एकदेशविवर्ति। (1) समस्त वस्तु विषय सांग रूपक अलंकार वहां होता है, जहां पर उपमेय और उपमान के समस्त अंगों का शब्दों के द्वारा कथन हो और (2) एकदेशविवर्ति सांग रूपक अलंकार वहां होता है, जहां पर कुछ अंगों का तो शब्द द्वारा कथन कर दिया जाता है और कुछ का आक्षेप से या प्रसंग से ग्रहण किया जाता है।

• परंपरित रूपक-जहां पर एक आरोप दूसरे आरोप का कारण होता है, वहां पर परम्परित रूपक अलंकार होता है। परंपरित का अर्थ होता है परंपरा या क्रम। इस प्रसंग में कम से कम दो आरोप होते हैं जिनमें एक आरोप कारण होता है और दूसरा कार्य। कहने का तात्पर्य यह है कि एक आरोप कर देने के पश्चात दूसरे आरोप का निरूपण करना आवश्यक हो जाता है। जैसे-

राम कथा सुंदर करतारी। संशय बिहग उड़ावन हारी।

उपर्युक्त चौपाई में रामकथा पर करताल (तालियों) का आरोप किया गया है और संशय पर पक्षी का आरोप किया गया है। यहां पर 'संशय-विहग' आरोप कार्य है और 'रामकथा-करतारी आरोप', कारण है। अतः कार्य कारण की परंपरा का चित्रण होने के कारण यहां पर परंपरित रूपक अलंकार है।

परंपरित रूपक अलंकार दो प्रकार का होता है- (1) श्लिष्ट परंपरित रूपक और (2) अश्लिष्ट परंपरित रूपक अलंकार।

(10) उल्लेख-जहां एक वस्तु को अनेक प्रकार से वर्णित किया जाए. वहां उल्लेख अलंकार होता है। इसके दो भेद होते हैं-1. प्रथम उल्लेख, 2. द्वितीय उल्लेख।

प्रथम उल्लेख-जहां एक ही वस्तु अनेक व्यक्तियों द्वारा भिन्न-भिन्न दृष्टि से देखी जाए अथवा वर्णिन किया जाए वहां प्रथम उल्लेख होता है; जैसे

गज रक्षक वृद्धान ने, युवतिन ने श्रीकाँत ।

असुर-तियन हरि लखे, रिसियाने नरकांत ।।

जिस समय श्रीकृष्ण मथुरा में प्रविष्ट हुए तो वृद्ध नारियों ने उन्हें गज का उद्धार करने वाला, युवतियों ने लक्ष्मीकांत, असुरपत्नियों ने साक्षात विष्णु समझा जिन्होंने सक्रोध नरकासुर का वध किया। अतः यहां श्रीकृष्ण का विभिन्न दृष्टियों से वग्रन होने के कारण प्रथम उल्लेख है।

द्वितीय उल्लेख-जहां पर एक वस्तु एक व्यक्ति द्वारा विभिन्न दृष्टि से देखी जाए अथवा वर्णित हो, वहां द्वितीय उल्लेख होता है; जैसे-

तू रूप है किरन में, सौंदर्य है सुमन में। तू प्रण है पवन में, विस्तार है गगन में।।

यहां कवि ने ईश्वर का विभिन्न दृष्टियों से अनेक रूपों में उल्लेख किया है, अतः यहां द्वितीय उल्लेख है।

(11) अपह्नति-जहां उपमेय को नकार कर उपमान का आरोप किया जाए वहां अपह्नवति अलंकार होता है। इसके छह भेद हैं-

शुद्धापह्नति-इसमें वास्तविक उपमेय का निषेध करके उपमान का आरोपण किया जाता है; जैसे वे दो ओठ न थे, राधे, था एक फटा उर तेरा।

यहां ओठों का निषेघ करके उर का आरोप किया गया है।

अभी उम्र कुल तेइस की थी, मनुज नहीं अवतारी थी। हमको जीवित करने आई, बन स्वतंत्रता नारी थी।

यहां लक्ष्मीबाई में मनुजत्व का निषेध करके उसके अवतारी होने की स्थाना की गई है। दूसीर पंक्ति में कारण देने से यह हेत्वपह्नति है।

पर्यस्तापह्नति-इसमें किसी वस्तु के धर्म का निषेध दूसरी वस्तु में उसके आरोप के लिए किया जाता है-

तेरे ही भुजनि पर भूतल को भार, कहिबे को सेसनाग दिगनग हिमाचल है।
यहां सेसनाग, दिगनाग का निषेध कर उसका आरोप भुजबल पर किया गया है।
भ्रांतापह्नति-इसमें सत्य बात प्रकट करके किसी के भ्रम को दूर किया जाता है-
आनन हैं, अरविंद न फूले, अलिंगन भूलें कहा मंडरात हौ। बोलती बाल, न बाजती बीन कहा सिगरे मृग घेरति जात हौ।। यहां भ्रांति कवि-कल्पित है।
छेकापह्नति - इसमें सत्य को छिपाकर असत्य के द्वारा भ्रांति दूर करने का प्रयास होता है-
आँखें अति सीतल भई, दीन्हों ताप निहारि। क्यों सखि पीतम को लखै, ना सखि, ससिहिं निहारि ।।
यहां एक सखी अन्य सखी के भाव से अनजान है और प्रियतम दर्शन की बात पूछती है किंतु वह एकदम बात बदलकर चंद्रका की बात करने को कहती है।
कैतवापह्नति-जिसमें उपमेय का स्पष्ट निषेध न करके मिस, व्याज, छल आदि शब्दों से निषेध किया जाए-
यों लछिराम छटा नख नौल तरंगनि गंग प्रभा फल पेनी। मैथिली के चरनांबुज ब्याज लसै मिथिला जग मंजु त्रिवेनी ॥
यहां 'चरणोदक' का निषेध 'व्याज' से किया गया है।
(12) संदेह-जहां किसी वस्तु के संबंध में अनेक वस्तुओं का संदेह हो और सादृश्य के करण अनिश्चय बना रहे, वहां संदेह अलंकार होता है। प्राचीन काव्य में यह संदेह किंवा, धौं, किधौं आदि तथा खड़ी बोली के काव्य में कि, क्या या तथा अथवा आदि शब्दों द्वारा किया जाता है। उदाहरण के लिए -

मद भरे ये नलिन नयन मलीन हैं,
अल्प जल में या विकल लघु मीन है।

यहां 'नयन' के विषय में 'मीन' का संदेह होता है। 'या' संदेहवाचक शब्द का प्रयोग हुआ है।

(13) भ्रम या भ्रांतिमान-भ्रम का अर्थ होता है मिथ्या ज्ञान। जहां पर किसी सदृश वस्तु में अर्थात उपमेय में अन्य वस्तु अर्थात उपमान के सुंदर कल्पित मिथ्या ज्ञान का वर्णन होता है, वहां पर भ्रम, भ्रांति या भ्रांतिमान अलंकार होता है। उदाहरण-

पाय महावर देन को नाइन बैठी आय।

फिरि-फिरि जानि महावरी, एडी मीड़त जाय ।।

- बिहारी

यहां नाइन ने भ्रमवश एड़ी की लाली के कारण एड़ी को ही महावर समझ लिया।

(14) उत्प्रेक्षा-जहां प्रस्तुत वस्तु में अप्रस्तुत वस्तु की संभावना अर्थात उत्कृष्ट कल्पना का वर्णन हो, वहां पर उत्प्रेक्षा अलंकार होता है। उत्प्रेक्षा का व्युत्पत्ति परक अर्थ होता है किसी वस्तु को उत्कट या प्रकृष्ट रूप से देखना। इसमें जनु, मानों, मनु, इव आदि वाचक शब्दों का प्रयोग किया जाता है। इसके पहले दो भेद किए जाते हैं (1) वाच्या और (2) प्रतीयमान। वाच्या में वाचक शब्दों का प्रयोग आवश्यक होता है जबकि प्रतीयमान में व्यंग्य की प्रधानता रहने के कारण वाचक शब्दों का अभाव पाया जाता है। वाच्योत्प्रेक्षा के पुनः तीन भेद किए जाते हैं- (1) वस्तूत्प्रेक्षा, (2) हेतूत्प्रेक्षा और (3) फलोत्प्रेक्षा। उदाहरण-

पंथ जात सोहहिं मति धीरा। ज्ञान भक्ति जनु धरे सरीरा। (मानस)

(15) अतिश्योक्ति 'अतिश्योक्ति' का अर्थ है उक्ति की अतिशयता अर्थात किसी कथन को सामान्य रूप में प्रस्तुत न कर उसे बढ़ा-चढ़ा कर प्रस्तुत किया जाए वहां पर अतिश्योक्ति अलंकार होता है। इसके प्रमुख छह भेद किए हैं- (1) रूपकातिशयोक्ति, (2) भेदकातिशयोक्ति, (3) संबंधातिशयोक्ति, (4) अक्रमातिशयोक्ति, (5) चपलातिश्योक्ति और (6) अत्यंतातिश्योक्ति ।

• रूपकातिश्योक्ति 'देखो दो-दो मेघ बरसते, मैं प्यासी की प्यासी' यहां दो मेघों के उपमान में दो आंखें उपमेय हुई हैं। उपमेय का उपमान में अध्यवसान हो जाने के कारण यहां रूपकातिश्योक्ति है।

• भेदकातिश्योक्ति जहां भेद न रहते हुए भी उपमेय में चमत्कार लाने के लिए अन्य, और अनियार जैसे शब्दों का प्रयोग कर भेद स्थापित किया जाए वहां यह अलंकार होता है-

सुनहुं सखा कह कृपानिधाना।
जेहि जय होई सो स्यंदन आना ।।

• संबंधातिश्योक्ति-जहां पर संबंधों में असंबंध और असंबंधों में संबंध का वर्णन हो वहां पर यह अलंकार होता है।

'जो संपदा नीच गृह सोहा। सो विलोकि सुरनायक मोहा।' - मानस

• अक्रमातिश्योक्ति-जहां क्रम नहीं होता और क्रम का त्याग कर कवि कार्य-कारण का अत्यधिक वर्णन करता है वहां यह होता है-

'संधानेउ प्रभु बिसिख कराला।
उठी उदधि उर अंतर ज्वाला ॥ - मानस

• चलातिश्योक्ति-जहां कारण को देखते ही कार्य की संपन्नता का वर्णन किया जाए वहां यह अलंकार होता है-

'तब सिव तीसर नयन उघारा।
चितवत काम भयउ जरि छारा। - मानस

• अत्यंतातिश्योक्ति-इसमें कारण के पहले ही कार्य संपन्न हो जाता है। जैसे- हनुमान की पूंछ में लगन न पाई आग, लंका सिगरी जल गई गए निसाचर भाग।

(16) दीपक-जहां उपमेय और उपमान दोनों का एक धर्म के साथ संबंध दिखा कर वर्णन किया जाता है वहां पर दीपक अलंकार होता है। जैसे-

सेवक सठ नृप कृपन कुनारी।
कपटी मित्र सूल-सम चारी ॥ (मानस)

(17) प्रतिवस्तूपमा-जहां एक वाक्यार्थ का दूसरे वाक्यार्थ के साथ बिना वाचक शब्द के सादृश्य का वर्णन हो तथा एक ही समान धर्म का पृथक-पृथक शब्दों के

द्वारा कथन हो वहां प्रतिवस्तुपमा अलंकार होता है। प्रतिवस्तूपमा का अर्थ होता है- 'प्रतिवस्तु' अर्थात प्रत्येक वाक्य के अर्थ में उपमा का समावेश किया गया हो। इस अलंकार में दो वाक्य होते हैं- (1) उपमेय वाक्य और (2) उपमान वाक्य। दोनों वाक्यों का एक ही समान धर्म होता है। (3) समान धर्म का कथन पृथक-पृथक शब्दों द्वारा किया जाता है और (4) इसमें सादृश्य, साधर्म्य के द्वारा ही नहीं अपितु वैधर्म्य के द्वारा भी निरूपित होता है। उदाहरण-

सठ सुधरहिं सत्संगति पाई। परस-परस कुधात सुहाई ॥ (मानस)

(18) दृष्टांत जहां दो वाक्यार्थों में आए उपमेय और उपमान के समान धर्मों में बिंब- प्रतिबिंब भाव संबंध हो, वहां दृष्टांत अलंकार होता है। उपमेय वाक्य में एक सामान्य बात कही जाती है किंतु उपमान वाक्य में कोई उससे मिलता-जुलता दृष्टांत प्रस्तुत किया जाता है जो उपमेय वाक्य के कथन की पुष्टि करता है। दृष्टांत यानी उदाहरण-

करत-करत अभ्यास के जड़मति होत सुजान। रसरी आवत जात ते, सिल पर परत निसान।।(वृंद)

(19) निदर्शना-दो वाक्यों में परस्पर संभव और असंभव संबंध होने पर भी उपमा के द्वारा उनमें संबंध की कल्पना करना निदर्शना अलंकार होता है। निदर्शना का अर्थ भी दृष्टांत होता है किंतु इसमें निश्चित रूप से सादृश्य का अभिव्यंजन किया जाता है। उसमें संभव की अभिव्यक्ति की जाती है। उदाहरण-

सो धनु राज कुंअर कर देहीं।
बाल मराल कि मंदर लेहीं ॥ - मानस

फल की समानता के कारण असंभव संबंध स्थापित किया गया है।

(20) श्लेष श्लेष अलंकार दो प्रकार का होता है-शब्द श्लेष और अर्थ श्लेप।

• शब्द श्लेष-शब्द श्लेष अलंकार वहां होता है, जहां अलंकार का सौंदर्य शब्द विशेष पर आधारित हाता है। यदि उस शब्द के स्थान पर कोई दूसरा उसका

पर्यायवाची शब्द रख दिया जाए तो श्लेष अलंकार वहां पर नहीं रहेगा। शब्द श्लेष के दो भेद होते हैं-(1) अभंग श्लेष और (2) सभंग श्लेष। अभंग श्लेष में तो प्रयुक्त शब्द ही एक से अधिक अर्थों का द्योतन कराने की क्षमता रखता है। जैसे-

तुम्हारा पी मुख वास तरंग आज बौरे भौरे सहकार।

उपर्युक्त पंक्ति में बौरे शब्द में श्लेष है इसके दो अर्थ हैं- (1) फूल आना या बौर आना (2) मस्त होना। सहकार अर्थात आम वृक्ष के प्रसंग में पुष्पित होना और भौरे के प्रसंग में मस्त होना अर्थ लिए जाएंगे। यहां पर एक ही शब्द दोनों अर्थ दे रहा है। अतः यहां पर अभंग श्लेष अलंकार है। यदि हम 'बौरे' शब्द के स्थान पर 'मंजरी' या 'मद' जैसे पर्यायवाची शब्दों का 'बौरे' शब्द के स्थान पर प्रयोग कर दें तो श्लेष अलंकार नहीं रहेगा। अतः यह शब्द श्लेष है।

जहां तक सभंग श्लेष का प्रश्न है, वहां पर शब्द का खंड करने पर दूसरा अर्थ निकलता है तथा शब्द के तोड़ने या भंग करने से दूसरा अर्थ निकलता है, इसलिए इसे सभंग श्लेष कहते हैं। जैसे-

चिर जीवौ जोरी जुरै क्यों न स्नेह गंभीर। को घटि वह वृषभानुजा ए हलधर के वीर।। (बिहारी)

उपर्युक्त दोहे में 'वृषभानुजा' और 'हलधर' शब्दों में श्लेष अलंकार है। वृषभानुजा का अर्थ है 'राधा जी' और 'हलधर के वीर' का अर्थ है बलदेव जी के भाई अर्थात कृष्ण जी। दोनों का प्रेम गंभीर क्यों न हो, क्योंकि दोनों में कोई भी कम नहीं है। इन दोनों शब्दों में वृषभानु + जा (वृषभानु की पुत्री) का अर्थ है 'राधा' किंतु 'वृषभ अनुजा' (संधि विच्छेद करने पर) का अर्थ है बैल की छोटी बहिन अर्थात गाय। 'हल + धर' का अर्थ हो जाएगा 'बैल' और इस प्रकार 'हलधर के वीर' का अर्थ हुआ 'बैल का भाई अर्थात सांड'। इन पंक्तियों में प्रथम पंक्ति में ही संधि-विच्छेद से दूसरा अर्थ आने से वह सभंग श्लेष का उदाहरण हुआ।

• अर्थश्लेष-अर्थश्लेष अलंकार वहां होता है जहां पर अर्थ में अलंकारत्व रहता है। यदि संबद्ध शब्द के स्थान पर उसका कोई भी पर्यायवाची शब्द रख दें तब भी श्लेष का सौंदर्य बना रहे वहां पर अर्थश्लेष अलंकार रहता है। जैसे-'साधु चरित सुभ सरिस कपासू। निरस विसद गुनमय फल जासू।' इस चौपाई में 'नीरस, विशद और गुणमय' तीन एकार्थक शब्दों का प्रयोग किया गया है जो साधु और कपास दोनों के प्रसंग में अपना अर्थ देते हैं जैसे कपास रुखी, उजले धागे वाली होती है और साधुओं का चरित्र (विषय रस से) सूखा, निर्मल गुण वाला होता है। इस चौपाई में 'नीरस और विसद' शब्दों 'गुणमय' का प्रयोग किया जाता है पर्यायवाची (रसहीन, विस्तृत) रख देने पर श्लेष की सत्ता बनी रहने से अर्थ प्राबल्य सिद्ध होता है। अतः यहां अर्थश्लेष अलंकार है।

(21) समासोक्ति अलंकार-जहां कवि के प्रस्तुत अर्थ के अतिरिक्त श्लिष्ट पदों या शब्दों के संगठन से कोई अप्रस्तुत भाव भी अनायास ही प्रकट होता है, वहां समासोक्ति अलंकार जोता है, जैसे-

जीवन के दानि हों, सुजान हौ, सरस अति । जगत के जीवन मैं, आनन्द उमाहे हौ।।

यहां जीवन शब्द अनेकार्थ सूचक तथा सरस शब्द भी दो अर्थों का सूचक है। इससे इसमें अन्यार्थ प्रतीत होता है।

(22) अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार जहां अप्रस्तुत (उपमान) के द्वारा उपमेय का बोध कराया जाए, वहां अन्योक्ति अलंकार होता है। जैसे-

नहिं पराग, नहिं मधुर मधु, नहिं विकास इहि काल। अली कली ही सौं बंध्यो आगे कौन हवाल ।।

यहां भौरे और कली के माध्यम से प्रस्तुत राजा जयसिंह और उनकी नवोढ़ा पत्नी का बोध कराया गया है। अतः अन्योक्ति अलंकार है।

विरोधमूलक अलंकार

(23) विरोधाभास-जहां पर विरोध न होने पर भी विरोध की प्रतीति होती हो वहां विरोधाभास अलंकार होता है। उदाहरण-

या अनुरागी चित्त की गति समुझे नहीं कोय।

ज्यों-ज्यों बूड़े स्याम रंग, त्यों-त्यों ऊजवल होय ॥ (बिहारी)

(24) विभावना अलंकार जहां कारण के अभाव में ही कार्य की संपन्नता का वर्णन किया गया हो, वहां विभावना अलंकार होता है। उदाहरण-

'बिनु पद चलै सुनै

बिनु काना।

कर बिनु करम करै बिधि नाना। (मानस)

यह अलंकार दो प्रकार का होता है- (1) शाब्दी विभावना, (2) आर्थी विभावना।

• शाब्दी विभावना-इसमें कारण के अभाव का शब्द के द्वारा कथन किया जाता है। जैसे- 'निंदक नियरे राखिए, आंगन कुटी छवाय।

बिन पानी साबुन बिना, निर्मल करै सुभाय

यहां पानी और साबुन वस्त्रादि की मैल साफ करने के कारण हैं इनके अभाव में चित्त के निर्मल होने का वर्णन किया गया है कि निंदक को पास में रखने से वह दोषों को उजागर करेगा जिससे व्यक्ति अपने दोष दूर कर लेगा।

• आर्थी विभावना-यहां कारण का अभाव अर्थ द्वारा कथित होता है। जैसे- 'बिनु पद चलै सुनै बिनु काना' अर्थ के द्वारा ईश्वर की महिमा का पता चलता है कि उसकी कृपा से मनुष्य बिना पैर के चल सकता है तथा बिना कान के सुन सकता है।

(25) विशेषोक्ति अलंकार जैसा कहा जा चुका है, 'असंगति' में कारण और कार्य दोनों होते हैं, परंतु एक ही जगह नहीं, दूर-दूर, इसके विपरीत जब कारण उपस्थित होने पर भी कार्य नहीं होता तब विशेषोक्ति अलंकार होता है। जैसे-

मूरख हृदय न चेत, जो गुरु मिलै विरंचि सम।

फूलहि फरहि न बेत, जदपि सुधा बरसहिं जलद ॥ यहां विरंचि समान गुरु की प्राप्ति होने पर भी मूरख सचेत नहीं हो रहा। अर्तात प्रबल
और पूर्ण कारण के रहने पर भी कार्य नहीं हो रहा।

(26) असंगति अलंकार जहां कारण किसी अन्य स्थल पर हो और कार्य की निष्पत्ति किसी अन्य स्थल पर वर्णित हो, वहां पर असंगति अलंकार होता है। उदाहरण-

'कोयल काली मतवाली है, आम्र मंजरी झूम रहीं।
यहां मस्ती कोयल में है और आम्र मंजरी का झूमना दिखाया गया है। कार्य और कारण अलग-अलग जगहों पर स्थित है।

दृग उरझत टूटत कुटुम, जुरत चतुर संग प्रीति। परति गांठि दुरजन हृदै, दई नई यह रीति॥ - बिहारी

(27) विषम अलंकार-जहां विरोधाभास अलंकार में ऐसे पदार्थों का एक-दूसरे में संबंध कहा जाता है जिनमें वास्तव में परस्पर भेद होता है, परंतु जब ऐसे दो पदार्थों का परस्पर संसर्ग कराया जाता है जिनका संबंध अनुचित होता है तब विषम अलंकार होता है। जैसे-

कहँ धनु कुलिसहूँ चाहि कठोरा, कहँ स्यामल मृदुगात किसोरा ! - तुलसी
'शिव' के कठोर 'धनुष' और 'राम' के कोमल 'तन' का संबंध होना अनुचित लगता था परंतु यहां ऐसा कराया जा रहा है, अतः यह विषम 'असमान' संयोग है।

(28) कारणमाला-जहां श्रृंखला रूप में वर्णित पदार्थों का कार्य कारण भाव संबंध हो
वहां कारणमाला अलंकार होता है। उदाहरण-

विद्या ते उपजै विनय विनय जगत-बस होय । जगत भये बस धन मिलै, धन ते धरम उदोत ॥ (हीरा द्वारा उद्धृत)

इस अलंकार की योजना दो में कार्य (2) पूर्व पूर्व में कार्य प्रकार से होती है- (1) पूर्व-पूर्व में कारण तथा पर-पर पर पर में कारण।

यहां पानी और साबुन वस्त्रादि की मैल साफ करने के कारण हैं इनके अभाव में चित्त के निर्मल होने का वर्णन किया गया है कि निंदक को पास में रखने से वह दोषों को उजागर करेगा जिससे व्यक्ति अपने दोष दूर कर लेगा।

• आर्थी विभावना-यहां कारण का अभाव अर्थ द्वारा कथित होता है। जैसे- 'बिनु पद चलै सुनै बिनु काना' अर्थ के द्वारा ईश्वर की महिमा का पता चलता है कि उसकी कृपा से मनुष्य बिना पैर के चल सकता है तथा बिना कान के सुन सकता है।

(25) विशेषोक्ति अलंकार जैसा कहा जा चुका है, 'असंगति' में कारण और कार्य दोनों होते हैं, परंतु एक ही जगह नहीं, दूर-दूर, इसके विपरीत जब कारण उपस्थित होने पर भी कार्य नहीं होता तब विशेषोक्ति अलंकार होता है। जैसे-

मूरख हृदय न चेत, जो गुरु मिलै विरंचि सम।

फूलहि फरहि न बेत, जदपि सुधा बरसहिं जलद ॥ यहां विरंचि समान गुरु की प्राप्ति होने पर भी मूरख सचेत नहीं हो रहा। अर्तात प्रबल

और पूर्ण कारण के रहने पर भी कार्य नहीं हो रहा।

(26) असंगति अलंकार जहां कारण किसी अन्य स्थल पर हो और कार्य की निष्पत्ति किसी अन्य स्थल पर वर्णित हो, वहां पर असंगति अलंकार होता है। उदाहरण-

'कोयल काली मतवाली है, आम्र मंजरी झूम रहीं।

यहां मस्ती कोयल में है और आम्र मंजरी का झूमना दिखाया गया है। कार्य और कारण अलग-अलग जगहों पर स्थित है।

दृग उरझत टूटत कुटुम, जुरत चतुर संग प्रीति। परति गांठि दुरजन हृदै, दई नई यह रीति॥ - बिहारी

(27) विषम अलंकार-जहां विरोधाभास अलंकार में ऐसे पदार्थों का एक-दूसरे में संबंध कहा जाता है जिनमें वास्तव में परस्पर भेद होता है, परंतु जब ऐसे दो

पदार्थों का परस्पर संसर्ग कराया जाता है जिनका संबंध अनुचित होता है तब विषम अलंकार होता है। जैसे-

कहँ धनु कुलिसहूँ चाहि कठोरा, कहँ स्यामल मृदुगात किसोरा ! - तुलसी

'शिव' के कठोर 'धनुष' और 'राम' के कोमल 'तन' का संबंध होना अनुचित लगता था परंतु यहां ऐसा कराया जा रहा है, अतः यह विषम 'असमान' संयोग है।

(28) कारणमाला-जहां श्रृंखला रूप में वर्णित पदार्थों का कार्य कारण भाव संबंध हो वहां कारणमाला अलंकार होता है। उदाहरण-

विद्या ते उपजै विनय विनय जगत-बस होय।

जगत भये बस धन मिलै, धन ते धरम उदोत ॥ (हीरा द्वारा उद्धृत)

इस अलंकार की योजना दो में कार्य (2) पूर्व पूर्व में कार्य प्रकार से होती है- (1) पूर्व-पूर्व में कारण तथा पर-पर पर पर में कारण।

शब्दालंकार -

जहां पर अलंकार का चमत्कार अर्थ पर निर्भर न होकर शब्द पर निर्भर करता है वहां पर शब्दालंकार होता है।

(36) अनुप्रास-अनुप्रास का अर्थ होता है बारंबार निकट रखना अर्थात वर्णों का बार-बार प्रयोग। अलंकार रूप में अनुप्रास की परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है कि वर्षों की रसानुकूल बार-बार आवृत्ति करना ही अनुप्रास अलंकार होता है। विश्वनाथ ने इसके पांच प्रमुख भेदों का उल्लेख किया है (1) छेकानुप्रास, (2) वृत्यनुप्रास, (3) श्रुत्यनुप्रास, (4) अंत्यानुप्रास और (5) लाटानुप्रास।

• छेकानुप्रास-जहां पर अनेक व्यंजनों की एक बार स्पष्टतः एवं क्रमशः आवृत्ति की गई हो, वहां छेकानुप्रास अलंकार होता है। इसे छेकानुप्रास इसलिए कहते हैं कि संभवतः अनुप्रास की यह योजना छेक अर्थात विदग्ध जनों को अधिक प्रिय थी। अतः कवियों ने इस अलंकार के पर्याप्त प्रयोग किए हैं। जैसे-

बंदौ गुरु पद पदुम परागा। सुरुचि सुवास सरस अनुरागा। (मानस)

यहां प, सु, स, आदि अनेक व्यंजनों की एक-एक बार आवृत्ति की गई है।

• वृत्यनुप्रास-जहां पर वर्णों की अथवा वर्ण की अनेक बार आवृत्ति की गई हो वहां पर वृत्यानुप्रास अलंकार होता है। जैसे- 'कंकन किंकनी नूपुर धुनि सुनि। कहत लखन सन राम हृदय गुनि।। (मानस)

न, नी, नि की आवृत्ति है।

• श्रुत्यनुप्रास-जहां पर एक ही उच्चारण स्थान से उच्चरित होने वाले व्यंजनों में समानता पाई जाती है, वहां पर श्रुत्यनुप्रास अलंकार होता है। जैसे-

जाहि जन पर ममता अति छोहू। जेहि करुण करि कीन्ह न कोहू।। (मानस) यहां 'ह' की चार बार और 'क' की तीन बार आवृत्ति की गई है। दोनों वर्षों का एक कंठ ही उच्चारण स्थान है अतः श्रुत्यनुप्रास होगा।

• अंत्यानुप्रास-जहां पर पद या पद के अंत में सभी पदों में समान स्वर और व्यंजन की आवृत्ति की जाती है, वहां अंत्यानुप्रास अलंकार होता है। हिंदी भाषा में ऐसे पद्यों को तुकांत कविता या तुकांत पद कहते हैं। यह आवृत्ति क्योंकि पद के अंत में होती है, इसलिए इसे अंत्यानुप्रास कहते हैं। जैसे-

धीरज धरम मित्र अरु नारी। आपत्ति काल परखिए चारी। दोनों अर्धाली में 'री' की आवृत्ति है। (मानस)

• लाटानुप्रास-जहां शब्द और अर्थ की समान रूप से आवृत्ति की जाती है किंतु अन्वय करने पर उनके अभिप्राय में भिन्नता आ जाती हो वहां लाटानुप्रास अलंकार होता है। जैसे-

पूत कंपूत तो का धन संचै। पूत सपूत तो का धन संधै ॥ 'धन संचय' का रूप एवं अर्थ दोनों बार समान है किंतु तात्पर्य बदल गया है।

(37) यमक अलंकार जहां सार्थक किंतु भिन्नार्थक या निरर्थक वर्ण-समुदाय की एक से अधिक बार आवृत्ति की जाती है वहां पर यमक अलंकार होता है। जैसे-

कनक-कनक तें सौ गुनी मादकता अधिकाय। या खाए बौरात जग, वा पाये बौराय ।। (बिहारी)

अर्थात एक ही शब्द की बार-बार आवृत्ति होती है किंतु हर बार अर्थ अलग होता है। जैसे-कनक का अर्थ सोना और धतूरा दोनों हैं।

(38) पुनरुक्तवदाभास-जहां पर भिन्न आकार वाले किंतु समान अर्थ वाले शब्दों का इस प्रकार प्रयोग किया जाता है कि पुनरुक्ति न होने पर भी पुनरुक्ति का आभास होने लगता है, वहां पर पुनरुक्तवदाभास अलंकार होता है। जैसे-

पयोधर बने उरोज उदार। (मानस)

यहां 'पयोधर' और 'उरोज' एकार्थक शब्द हैं जिनसे पुनरुक्ति का आभास होता है परंतु पयोधर में मातृत्वकाल के स्तनों का व उससे पूर्व दुग्धहीन स्तनों का वर्णन होने से यह 'पुनरुक्तवत् आभास' है।

(39) वक्रोक्ति-यहां पर वक्रोक्ति को मात्र एक अलंकार के रूप में ही विश्लेषित किया जा रहा है। जहां पर श्लेष या काकु के द्वारा वक्ता द्वारा अभिप्रेत अर्थ ग्रहण न कर श्रोता उसे किसी अन्य अर्थ में ग्रहण करता है और वह चमत्कारपूर्ण होता है तो वहां पर वक्रोक्ति अलंकार होता है। जैसे-

एक कबूतर देख हाथ में पूछा कहां अपर है। उसने कहा अपर कैसा? उड़ है गया सपर है। (भक्त)

यहां 'अपर' शब्द का तात्पर्य 'दूसरा कबूतर' था किंतु श्रोता ने उसका तात्पर्य बिना पर वाला समझा और कहा कि वह 'सपर' यानी पंख वाला था, उड़ गया।

उभयालंकार या मिश्रित अलंकार -

इस वर्ग के अंतर्गत ऐसे कथनों को लिया जाता है, जिनमें एकाधिक अलंकारों का मिश्रण या सम्मिलन रहता है। कुछ आचार्य इन्हें उभयालंकार कहते हैं। उभयालंकार से तात्पर्य होता है जिस कथन में शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों का प्रयोग किया गया हो।

(40) संसृष्टि अलंकार जब दो या दो से अधिक शब्दालङ्कार या अर्थलङ्ङ्कार किसी काव्य में मिश्रित होते हैं तब इसे संसृष्टि कहा जाता है। संसृष्टि तीन प्रकार की होती है-

1. शब्दालङ्कार-इसमें शब्दालङ्कारों का मेल होता है।

2. अर्थालङ्कार-इसमें कई अर्थलङ्ङ्कारों का मेल होता है।

3. शब्दार्थालङ्कार-इसमें शब्द एवं अर्थ दोनों प्रकार के अलंकार मिले होते हैं।

शब्दालङ्कार संसृष्टि का उदाहरण-

दीरघ सांस न लेहि दुख, सुख सांईहिं न भूल।
दई दई क्यों करत है, वई दई, सु कबूल।।

इसमें दीरघ दुख, सुख सांईहिं आदि में छेकानुप्रास और दई में यमक (दई दैव, दई दिया) होने के कारण दो शब्दालङ्कार एकत्र हैं। ये दोनों अलग-अलग स्पष्ट विदित होते हैं। अतः यहां संसृष्टि शब्दालङ्कार है।

अर्थालंकार संसृष्टि का उदाहरण-

कीर कै कागर ज्यों नृप चोर विभूषण उप्पम अंगनि पाई। औध तजी मग बास के रूख ज्यों, पंथ के साथी ज्यों लोग लुगाई। संग सुबंधु पुनीत प्रिया, मनो धर्म क्रिया धरि देह सुहाई। राजिवलोचन राम चले तजि बाप को राज बटाऊ की नाई। इसमें उपमा और उत्प्रेक्षा दोनों अर्थालङ्कार की संसृष्टि है।

शब्दार्थालङ्कार की संसृष्टि है-

सम सुबरन सुषमाकर सुखद न थोर। सीय अंग सखि कोमल कनक कठोर।

इसमें अनुप्रास शब्दालङ्कार है और व्यतिरेक अर्थालङ्कार भी है। इसलिए यहां शब्दार्थालङ्कार संसृष्टि है। वे दोनों ही यहां अलग-अलग स्पष्ट रूप से देखे जा रहे हैं।

(41) संकर-जब एक ही छंद में अनेक अलंकारों का सम्मेलन नीर-क्षीर न्याय से अर्थात परस्पर सापेक्ष रूप से हो, वहां संकर अलंकार होता है। "जिस प्रकार एक ही पात्र में रखे हुए तिलों और चावलों में परपर अभेद संबंध हो जाता है, उसी प्रकार संकर अलंकार में प्रयुक्त अनेक अलंकार परस्पर सापेक्ष लगते हैं। जैसे-

बीती विभावरी जाग री। अंबर पनघटन में डुबो रही तारा घट ऊषा नागरी। खगकुल कुल-कुल सा बोल रहा किसलय का अंचल डोल रहा, लो यह लतिका भी

भर लाई मधु मुकुल नवल रस-गागरी। अधरों में राग अमन्द पिये- अलकों में मलयज बंद किये, तू अब तक सोई है आली आंखों में भरे विहाग री।

कविवर प्रसाद की इन पंक्तियों में ऊषा का वर्णन है तथा सुप्त नायिका का उद्‌बोधन अप्रस्तुत है। अतएव समासोक्ति है। साथ ही कवि ने अंबर को पनघट तारों का घट, ऊषा की नागरी, मुकुल को गागर कहकर उपमेय और उपमान में अभेद अरोपित किया है, अतः सांग रूपक है। बीती विभावरी, मधु-मुकुल में अनुप्रास है। खगकुल कुल-कुल में यमक है। अधरों में अमंद राग पीना, अब तक सोते रहने में हेतु है, अतः काव्यलिंग अलंकार है। क्योंकि इसमें हेतु प्रदर्शित किया जाता है, किंतु अंगी रूपक अलंकार है। अन्य अलंकार अंग-रूप में है। अतः इन पंक्तियों में अनुप्रास, यमक समासोक्ति, काव्यलिंग मुख्य रूपक अलंकार का उपकार करते हैं, जिनसे इनका संकर है।

(42) मानवीकरण-जहां पर अमूर्त भावों का मूर्तीकरण कर के और जड़ पदार्थों का चेतनवत वर्णन किया जाता है वहां मानवीकरण अलंकार होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि जहां अमूर्त अथवा जड़ पदार्थों का मानवीय चेष्टाओं की तरह चेष्टाएं करते हुए वर्णन किया जाता है वहां पर मानवीकरण अलंकार होता है, जैसे-

उधो! मन नाहीं दस-बीस।

एक हुतो सो गयो स्याम संग को आराधे ईस ॥ (सूरदास)

यहां अमूर्त मन को स्याम के साथ चला गया कहना उसका मानवीकरण करना है। क्योंकि गमन करना मानवीय कार्य है।

(43) ध्वन्यार्थ व्यंजना अलंकार-काव्य रचना में कई बार इस प्रकार के शब्दों का प्रयोग होता है जिनकी ध्वनि ही उन शब्दों के अर्थ को भी ध्वनित या व्यंजित करती है। इस अलंकार के अंतर्गत भाषा की ध्वन्यात्मकता का विशेष महत्व रहता है। उदाहरण के लिए-

कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि ।

इस पंक्ति में 'कंकन', 'किंकिनि' आदि शब्द ध्वन्यात्मक हैं और अर्थ काद्योतन भी करते हैं, अर्थात इन शब्दों में 'किंकिनि' (रघनी) और 'कंकन' (कंगन) के बजने की-सी ध्वनि निकलती है।

(44) विशेषण विपर्यय अलंकार जब किसी विशेषण को उसके विशेष्य से न जोड़कर किसी दूसरे शब्द का विशेषण बना दिया जाए, तो इसे विशेषण-विपर्यय अलंकार कहा जाता है।

जयशंकर प्रसाद की निम्नलिखित पंक्ति विशेषण-विपर्यय का उदाहरण है-

कुसुमति कुंजों में थे पुलकित, प्रेमालिंगन हुए विलीन।

यहां 'प्रेमालिंगन' का विशेषण 'पुलकित' है। वास्तव में 'पुलकित' विशेषण व्यक्ति का ही हो सकता है, 'प्रेमालिंगन' का नहीं।

निष्कर्ष-अलंकार सिद्धांत का काव्यशास्त्र में काव्य लक्षण के रूप में विशेष महत्व है। यह सत्य है कि यह काव्यात्मा नहीं हो सकता, साध्य नहीं हो सकता। यह साधन मात्र है किंतु रस का सहयोगी हो सकता है। काव्य के लिए किसी आचार्य ने काव्य पुरुष कहा, किसी ने कविता कामिनी...। काव्य पुरुष हो या कविता कामिनी दोनों ही दृष्टियों से उनके लिए आत्मा रस है और अलंकार उनके शोभाधायक धर्म हैं। काव्य की शोभा बढ़ाने के लिए अलंकार का उपयोग किया जाता है यह उपयोगिता तो सिद्ध है ही इसके अतिरिक्त अलंकार काव्य का ऐसा लक्षण है जो इसे वक्रोक्ति और ध्वनि से भी जोड़ता है। रस तो काव्य की आत्मा है ही, औचित्य आत्मा की भी आत्मा है। लेकिन जहां तक वक्रोक्ति का प्रश्न है वह भी अलंकार है। यह शब्दालंकार तथा अर्थालंकार दोनों में सम्मिलित है। वक्रोक्ति यानी व्यंग्यार्थ व्यंजना जोकि उत्तम ध्वनि है। इससे निर्मित काव्य उत्तम काव्य की श्रेणी में आता है। अतः अलंकार सिद्धांत की उपयोगिता वक्रोक्ति एवं ध्वनि सिद्धांत को जानने के साथ-साथ पूरे काव्यशास्त्र की महिमा को जानने के लिए भी है। अलंकार के भेद असंख्य हैं क्योंकि यह अंतर्बाह्य की शोभा को बढ़ाने वाला लक्षण है। शब्द की, अर्थ की, भाव की शोभा बढ़ाते हुए

यह भेदोपभेद होते जाना स्वाभाविक है। काव्यशास्त्रीय जगत में अलंकार सिद्धांत वस्तुतः स्वय भी अलंकार ही है।

स्वप्रगति परीक्षण

नीचे दिए गए प्रत्येक कथन को ध्यानपूर्वक पढ़ें और सत्य अथवा असत्य का चयन करें -

1. काव्यशास्त्र में 'रस' को काव्य की आत्मा माना जाता है। (सत्य/असत्य)
2. 'विपरीत प्रकृति' अलंकार को उलटबास का उदाहरण माना जाता है। (सत्य/असत्य)
3. 'काव्यशास्त्र' केवल कविता से संबंधित है, गद्य साहित्य से नहीं। (सत्य/असत्य)
4. 'उपमेय' और 'उपमान' अलंकार एक ही होते हैं। (सत्य/असत्य)

4.7 सार संक्षेप

अलंकार सिद्धांत काव्यशास्त्र में एक महत्वपूर्ण विचारधारा है, जो काव्य के सौंदर्य को बढ़ाने वाले तत्वों का विश्लेषण करता है। इस सिद्धांत के अनुसार, काव्य की आत्मा 'अलंकार' है, जो काव्य के प्रत्येक अंश को आकर्षक और प्रभावशाली बनाता है। इसे दो प्रमुख रूपों में देखा जाता है: शब्दालंकार और अर्थालंकार। शब्दालंकार वह तत्व है जो काव्य को बाह्य रूप से सजाता है, जबकि अर्थालंकार उस काव्य के आंतरिक अर्थ को सुंदर और भावनात्मक बनाता है। भामह, जो इस सिद्धांत के प्रमुख प्रवर्तक माने जाते हैं, ने काव्य को एक सम्पूर्ण रूप में देखा और कहा कि बिना अलंकार के काव्य का अस्तित्व अधूरा है। उनके अनुसार, 'वक्रोक्ति' और 'अतिशयोक्ति' ही काव्य का मुख्य अलंकार हैं, जो काव्य में विशिष्टता और चमत्कारी प्रभाव लाते हैं। भामह का कहना था कि अलंकार काव्य का वही तत्व है, जो उसे जीवन और विविधता प्रदान करता है।

दंडी ने भी काव्य में अलंकारों की महत्वपूर्ण भूमिका को स्वीकार किया और इसे काव्य सौंदर्य बढ़ाने वाले धर्मों के रूप में माना। उन्होंने रसों को भी अलंकार के रूप में स्वीकार किया और काव्य के विभिन्न तत्वों को अलंकारों में समाहित किया।

वामन, जो कि काव्यशास्त्र में तीसरे प्रमुख विचारक माने जाते हैं, ने अलंकार को काव्य के सौंदर्य में अतिशयता लाने वाले एक सहायक तत्व के रूप में देखा। उन्होंने इसे काव्य की शोभा बढ़ाने वाले धर्मों का सहायक बताया, लेकिन साथ ही यह भी माना कि काव्य सौंदर्य का मुख्य स्रोत गुण हैं, जो काव्य में स्थायी होते हैं। उनके अनुसार, अलंकार काव्य में सौंदर्य का रूपांतरण करता है, लेकिन अकेला यह सौंदर्य सृजन के लिए पर्याप्त नहीं होता।

कुल मिलाकर, अलंकार सिद्धांत काव्यशास्त्र में काव्य के सौंदर्य और अर्थ के विस्तार का महत्वपूर्ण माध्यम है। इसके अध्ययन से हम काव्य में अलंकारों की भूमिका और उनके विभिन्न प्रकारों का गहरा समझ प्राप्त कर सकते हैं, जो काव्य को न केवल शाब्दिक रूप से, बल्कि भावनात्मक रूप से भी समृद्ध करते हैं।

4.8 मुख्य शब्द

- **शब्दालंकार**: वह अलंकार जो शब्दों के रूप, ध्वनि, और संरचना से संबंधित होता है। इसमें अनुप्रास, उत्प्रेक्षा, और अन्य शाब्दिक सौंदर्य शामिल होते हैं।
- **अर्थालंकार**: यह काव्य के भीतर छिपे अर्थ और उनकी सुंदरता से जुड़ा होता है, जैसे उत्प्रेक्षा, व्यतिक्रम आदि।

- **वक्रोक्ति**: शब्दों का एक विशेष रूप या वक्रता, जो अर्थ को घुमा देती है, और काव्य में नयापन और सुंदरता उत्पन्न करती है।
- **अतिशयोक्ति**: किसी वस्तु या विचार का अत्यधिक बढ़ा-चढ़ा कर वर्णन करना, जो काव्य में विशेष प्रभाव डालता है।
- **काव्यधर्म**: काव्य के वे गुण या लक्षण जो उसे सुंदर, प्रेरणादायक और प्रभावशाली बनाते हैं। इसमें रस, अलंकार, गुण आदि शामिल हैं।
- **दंडी**: काव्यशास्त्र में एक महत्वपूर्ण विचारक, जिन्होंने अलंकार को काव्य सौंदर्य के मुख्य तत्व के रूप में माना।
- **वामन**: काव्यशास्त्र में एक और प्रमुख विचारक जिन्होंने काव्य में अलंकारों की भूमिका को सहायक माना, लेकिन मुख्य सौंदर्य को गुणों में देखा।

4.9 स्वप्रगति परीक्षण प्रश्नों के उत्तर

प्रगति की जाँच

उत्तर: 1. **सत्य**

उत्तर: 2. **असत्य**

उत्तर: 3. **असत्य**

उत्तर: 4. **असत्य**

4.10 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. काव्यशास्त्र: एक समग्र अध्ययन" - राजकमल प्रकाशन, 2005
2. "अलंकार और काव्यशास्त्र" - श्रीराम प्रकाशन, 2011
3. "हिंदी काव्यशास्त्र: सिद्धांत और प्रयोग" - विश्वनाथ प्रकाशन, 2018
4. "काव्यालंकार और उसकी व्याख्या" - पेंगुइन इंडिया, 2020
5. "आधुनिक हिंदी काव्यशास्त्र" - नेशनल पब्लिशिंग हाउ

4.11 अभ्यास प्रश्न

1. अलंकार के विभिन्न प्रकारों का वर्णन कीजिए। इनमें से प्रत्येक अलंकार के उदाहरण प्रस्तुत करें।
2. काव्य में रस और अलंकार के महत्व को समझाइए। दोनों के बीच संबंध स्पष्ट करें।
3. वक्रोक्ति और अतिशयोक्ति के बीच अंतर को स्पष्ट करें। उदाहरणों के माध्यम से इनका विश्लेषण कीजिए।
4. 'शब्दालंकार' और 'अर्थालंकार' के अंतर को समझाइए। इन दोनों के प्रभाव को काव्य में कैसे देखा जाता है?
5. 'काव्यधर्म' के सिद्धांत पर चर्चा करें। यह काव्य के सौंदर्य और प्रभाव को कैसे प्रभावित करता है?

ब्लॉक - II

इकाई 5

रीति सिद्धांत

5.1 प्रस्तावना

5.2 उद्देश्य

5.3 रीति का स्वरुप

5.4 रीति एवं शैली

5.5 काव्य गुण

5.6 रीति सिद्धांत की प्रमुख स्थापनाएं

5.7 सार - संक्षेप

5.8 मुख्य शब्द

5.9 स्वप्रगति परीक्षण प्रश्नों के उत्तर

5.10 संदर्भ ग्रंथ सूची

5.11 अभ्यास प्रश्न

5.1 प्रस्तावना

इस इकाई में हम काव्यशास्त्र के महत्वपूर्ण तत्वों 'रीति' और 'शैली' पर ध्यान केंद्रित करेंगे। 'रीति' शब्द संस्कृत धातु 'रीङ्' से उत्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ है ढंग, तरीका, या पद्धति। यह विशेष रूप से काव्य रचनाओं के ढंग और शैली को दर्शाता है। आचार्य वामन ने इसे काव्य की आत्मा माना और इस पर गहन चिंतन किया। उनके अनुसार, 'रीति' काव्य की आत्मा है और यह काव्य के सौंदर्य को बढ़ाती है। वहीं, 'शैली' शब्द का प्रयोग आधुनिक काव्यशास्त्र में कवि के व्यक्तित्व और अभिव्यक्ति के तरीके के संदर्भ में किया जाता है। भारतीय काव्यशास्त्र में 'शैली' और 'रीति' का परिभाषा और उपयोग पर विमर्श चलता रहा

है, जिसमें 'शैली' को व्यक्तित्व के उद्घाटन के रूप में देखा गया है, जबकि 'रीति' काव्य के बाह्य सौंदर्य से संबंधित मानी जाती है। इस इकाई में हम इन दोनों के अंतर और उनके महत्व को समझेंगे, साथ ही काव्य के गुणों की विवेचना भी करेंगे, जिन्हें काव्य की शोभा और प्रभाव बढ़ाने वाले तत्व माना गया है।

5.2 उद्देश्य

प्रिय शिक्षार्थियों, इस इकाई के अध्ययन के बाद आप निम्नलिखित पहलुओं को समझ सकेंगे:

- "रीति" और "शैली" के बीच का अंतर, जिसमें "रीति" को विशेष पद रचनाओं की व्याख्या करने का तरीका और "शैली" को व्यक्ति की काव्यात्मक अभिव्यक्ति का रूप समझा जाता है।
- आचार्य वामन द्वारा "रीति" को काव्य की आत्मा मानने और काव्य के सौंदर्य को बढ़ाने वाले गुणों के रूप में इसकी व्याख्या।
- काव्य गुणों की भूमिका और उनका काव्य के सौंदर्य से संबंध, जिसमें वामन के अनुसार "शब्द गुण" और "अर्थ गुण" की अवधारणा।
- भारतीय काव्यशास्त्र में "रीति" के महत्व और पश्चिमी साहित्य में "शैली" के व्यापक प्रयोग का तुलनात्मक दृष्टिकोण।
- "रीति" और "शैली" के सिद्धांतों को काव्यशास्त्र में व्यापक और समग्र दृष्टिकोण से समझने का महत्व।

5.3 रीति का स्वरुप

रीङ् धातु में 'क्तिन्' प्रत्यय लगने पर रीति शब्द निष्पन्न हुआ। 'रीति' अर्थात शैली, ढंग, तरीका, विधि, प्रवृत्ति, वृत्ति, मार्ग, पद्धति, स्टाइल आदि। रीति सदैव

प्रासंगिक है। प्रत्येक मनुष्य का, जड़-चेतन का जीवन जीने का आचार-विचार का अपना तरीका है, रीति है। इसी तरह हर रचनाकार का अभिव्यक्ति का अपना तरीका है, रीति है। मौन हो या वक्तृता, गति हो या जड़ता, लेखन हो या पठन-पाठन सबकी अपनी रीति है। यह रीति सरल भी हो सकती है कठिन भी। कोमल या कठोर, स्निग्ध या रूखी, सीधी या वक्र, ग्राम्य या परिष्कृत, प्राचीन या नवीन, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष, सुगम या गूढ़। चिंतकों ने इस पर गहन विचार-विमर्श किए। कहां पर रीति केवल बाह्याचार है, कहां पर इसमें रस एवं भाव भी सम्मिलित हैं? इस चिंतन परंपरा से ही रीति-सिद्धांत का स्वरूप निर्मित हुआ।

रीति संप्रदाय (सिद्धांत) के प्रवर्तक आचार्य वामन थे। वामन ने 'काव्यालंकार सूत्र' नामक ग्रंथ लिखकर और उस पर स्वयं वृत्ति भी लिखी। इसलिए यह ग्रंथ 'काव्यालंकार सूत्र वृत्ति' क नाम से भी जाना जाता है। वामन ने काव्यात्मा के प्रश्न पर चिंतन करते हुए लिखा- 'रीतिरात्मा काव्यस्य।' अर्थात रीति काव्य की आत्मा है। उन्होंने 'रीति' शब्द की व्याख्या करते हुए कहा 'विशिष्टा पद रचना रीतिः', अर्थात विशेष प्रकार की पद रचना का नाम रीति है। इसके पश्चात 'विशिष्ट' शब्द को उन्होंने स्पष्ट करते हुए कहा 'गुण युक्त'। अर्थात 'विशेषो गुणात्मा' गुण युक्त होना ही विशेष है, विशिष्ट है। समस्त स्पष्टीकरण पर दृष्टि डालें तो वामन का मत सामने आता है कि 'गुणों से युक्त पद-रचना काव्य की आत्मा है।' वामन काव्य के दो रूपों को मान्यता देते हैं- (1) रीति, (2) अर्थगुण संपदा। अर्थ गुण संपदा यानी विषय वस्तु रीति के आधार पर रीति के कारण प्रकाशित हो उठती है। आस्वाद्य बनती है। तात्पर्य यह कि 'आस्वाद्य' और आस्वादन कराने वाली दो भिन्न वस्तुएं हैं-रीति एवं वस्तु। इनमें वामन 'रीति' को महत्वपूर्ण मानते हैं क्योंकि अर्थगुण संपदा को आस्वाद्य बनाने का महत्वपूर्ण कार्य यही करती है। रीतियों में भी वे वैदर्भी रीति को ही अधिक ग्राह्य मानते हैं। वामन रीति को काव्य की आत्मा मानते हैं जबकि यह बाह्य सौंदर्य से

संबंधित है। रीति साध्य नहीं, साधन है। इसलिए आचार्यगण वामन को देहवादी आचार्य मानते हैं, आत्मवादी नहीं।

5.4 रीति एवं शैली

आधुनिक काल में काव्यशास्त्र के अंतर्गत 'शैली' शब्द का प्रयोग बहुतायत से हो रहा है। यह प्रयोग अंग्रेजी के 'स्टाइल' शब्द के पर्याय के रूप में हो रहा है। इधर 'रीति' शब्द के अनेक अर्थ निकाले गए हैं- 'रीति एक शब्द योजना है।' 'रीति' वर्णन योजना है। 'रीति' अभिव्यंजना का नाम है। रीति काव्य की आत्मा है। आचार्य शुक्ल ने हिंदी साहित्य के एक काल को 'रीतिकाल' कहा जो तत्कालीन पूरे कालखंड की साहित्य धारा और उसकी चिंतन दृष्टि को प्रकट करता हुआ एक काव्यशास्त्र का द्योतक है। 'रीति' व्यापक सिद्धांत है। वर्तमान में परंपरावादी काव्यशास्त्री शैली के स्थान पर रीति शब्द के प्रयोग पर बल दे रहे हैं क्योंकि उन्हें 'शैली' शब्द में अंग्रेजियत की गंध आती है। पाश्चात्य 'रीति' कवि स्वभाव या कवि व्यक्तित्व के उद्घाटन की विशेषता धारण करती है। इसकी इसी विशेषता के कारण यह 'रीति' कम और 'शैली' अधिक लगती है। 'शैली' स्वभाव के परिचायक 'शील' शब्द से निष्पन्न हुआ शब्द है। वस्तुतः 'स्टाइल' का पर्यायवाची शब्द शैली है, रीति नहीं। इस व्यक्तित्व या स्वभाव के उद्घाटन की विशेषता के दृष्टिकोण से देखें तो भारतीय साहित्य में 'शैली' शब्द 'रीति' से अधिक पुराना है। डॉ. विद्यानिवास मिश्र 'शैली' शब्द के स्थान पर रीति शब्द का प्रयोग करने पर बल देते हैं। अपने रीति विज्ञान नामक ग्रंथ में वे इसके लिए दो तर्क प्रस्तुत करते हैं-

(1) संस्कृत भाषा में शैली शब्द का प्रयोग साहित्येत्तर विधाओं-जैसे चित्रकला, स्थापत्य कला आदि के लिए किया जाता है।

(2) पाश्चात्य विद्वान भी 'स्टाइल' शब्द की व्याख्या जिस रूप में करते हैं उस रूप का प्रतिनिधित्व करने की क्षमता 'शैली' में नहीं है। जबकि डॉ. नगेंद्र रीति एवं शैली को अभिन्न मानते हुए कहते हैं शैली में 'व्यक्ति तत्व' की प्रधानाता उसका प्रमुख लक्षण है। इधर भारतीय काव्यशास्त्री दंडी, कुंतक, शारदातनय आदि भी 'रीति' में व्यक्ति तत्व की प्रधानता स्वीकार करते हैं। दूसरा पक्ष देखें तो पाश्चात्य काव्यशास्त्री 'स्टाइल' के दूसरे तत्व के रूप में 'वस्तु तत्व' को महत्व देते हैं। यहां भारतीय काव्यशास्त्री तो रीति को मानते ही 'वस्तु तत्व' हैं।

इससे यह स्पष्ट होता है कि वह पदार्थ जो वस्तु तत्व एवं व्यक्ति तत्व को अपने में संजोए हुए है वह 'स्टाइल' है और हिंदी में 'स्टाइल' के लिए शैली शब्द का प्रयोग किया जाता है। अर्थात 'शैली' वस्तु तत्व और व्यक्ति तत्वों का समन्वित रूप है। इस लक्षण वाले पदार्थ को संस्कृत भाषा में 'रीति' कहा जाता है। अर्थात रीति और शैली अभिन्न हैं। स्वभाव की विस्तृत व्याख्या करने का गुण ही प्राचीन शैली को आधुनिक शैली का स्वरूप प्रदान करता है। स्वभाव प्रवृत्ति स्वरूप होता है और प्रवृत्तियां वैयक्तिक भी होती हैं। तात्पर्य यह है कि शैली वैयक्तिक भी होती है और सामूहिक भी। इनका आपस में कोई विरोध नहीं है। एक ही व्यक्ति में दोनों शैलियां वैयक्तिक और सामूहिक उपस्थिति हो सकती हैं। जैसे छायावादी या रोमैंटिक युग के कवियों की एक सामूहिक शैली है छायावादी शैली। लेकिन इसी युग के भीतर यही उनकी अपनी एक वैयक्तिक शैली भी है। कभी-कभी किसी कवि की वैयक्तिक शैली इतनी आकर्षक और मर्मस्पर्शी होती है कि वह अन्य कवियों के लिए अनुकरणीय बनकर सामूहिक बन जाती है।

डॉ. सुशील कुमार डे 'शैली' और 'रीति' में अंतर मानते हैं तो यह इसलिए स्वीकार किया जा सकता है कि क्योंकि पाश्चात्य साहित्य शास्त्र में 'स्टाइल' शब्द में व्यक्ति तत्व को जितना अधिक महत्व दिया गया है उतना महत्व भारतीय काव्यशास्त्र में 'रीति' शब्द के व्यक्ति तत्व को नहीं दिया जाता।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि भारतीय साहित्य में शैली और रीति दोनों भिन्न पदार्थ हैं। क्योंकि भारतीय काव्यशास्त्र का 'रीति' शब्द जो अपने प्रयोग में बहुत पीछे छूट गया है वह आधुनिक 'शैली' का वाचक नहीं है। प्रवृत्ति के कारण 'रीति' शब्द का अर्थ संकुचित हो गया ओर वह वस्तु तत्व की प्रमुखता में रूढ़ हो गया है। आज के भारतीय काव्यशास्त्र में यह अंशतः ही व्यवहार्य है। जबकि 'शैली' शब्द 'अर्थ-विस्तार पाकर व्यक्ति तत्व की प्रमुखता में रूढ़ होकर भी विश्व साहित्य के 'स्टाइल' का वाचक बन गया है। व्युत्पत्ति से प्राप्त अर्थ की दृष्टि से, अर्थ की व्यापकता की दृष्टि से तथा प्रयोग की दृष्टि से भी देखें तो 'शैली' और 'स्टाइल' की समान प्रसिद्धि एवं मान्यता है, रीति इनकी तुलना में स्थान नहीं बना पाती। हिंदी काव्यशास्त्र में रीति और शैली के प्रयोग पर ध्यान दें तो शैली अधिक सशक्त और व्यापक शब्द है। इसके स्थान पर 'रीति' को नहीं बिठाया जा सकता। यह स्पष्ट है कि आधुनिक हिंदी काव्य और काव्यशास्त्र प्राचीन हिंदी काव्य और काव्यशास्त्र की तुलना में अंग्रेजी काव्य और काव्यशास्त्र से अधिक प्रभावित है।

स्वप्रगति परीक्षण

1. शैली' शब्द का प्रयोग केवल साहित्यिक काव्यशास्त्र में ही किया जाता है।
2. **प्रश्न:** डॉ. विद्यानिवास मिश्र 'शैली' शब्द के स्थान पर 'रीति' शब्द के प्रयोग को महत्व देते हैं।
3. **प्रश्न:** भारतीय काव्यशास्त्र में 'शैली' और 'रीति' को अभिन्न माना जाता है।
4. **प्रश्न:** पाश्चात्य काव्यशास्त्र में 'स्टाइल' शब्द के अर्थ में 'व्यक्ति तत्व' को अधिक महत्व दिया जाता है।

5.5 काव्य गुण

भारतीय काव्यशास्त्र में भरतमुनि से लेकर पंडितराज जगन्नाथ तक प्रायः सभी आचार्यों ने गुणों की विवेचना की। गुणों के रूप, संख्या और स्थिति पर तर्क-वितर्क प्रस्तुत किए। भरतमुनि के अनुसार दोषों का वैपरीत्य ही गुण है। वे यह भी कहते हैं-

'गुणविपर्ययाद् एषाम् माधुर्योदार्यलक्षणाः।' अर्थात दोषों का विपर्यय ही गुण का लक्षण है। भरतमुनि ने दस दोष एवं दस गुण गिनाए हैं। दस गुण इस प्रकार हैं- (1) श्लेष, (2) प्रसाद, (3) समता (4) समाधि, (5) माधुर्य, (6) ओज, (7) पद सौकुमार्य, (8) अर्थ-व्यक्ति, (9) उदारता और (10) कांति। अभिनवगुप्त ने 'विपर्यय' का अर्थ विघात या अभाव माना है। अर्थात काव्य में दोषों का अभाव ही गुण है। यह परिभाषा मान्य नहीं हो सकती क्योंकि इसमें दोषों एवं गुणों की संख्या समान होनी चाहिए जिससे यह पता चले कि कौन से दोष के अभाव में कौन सा गुण उत्पन्न हुआ है या प्रकाशित हुआ है। दूसरे इस परिभाषा से गुणों के स्वतंत्र अस्तित्व पर आघात पहुंचता है। भामह के अनुसार-माधुर्य, ओज और प्रसाद तीन ही गुण हैं। दंडी भरत की ही तरह गुणों की संख्या दस मानते हैं। डॉ. नगेंद्र कहते हैं कि दंडी काव्य के समस्त अवयवों को अलंकार मानते हैं तो इस तरह 'गुण' भी अलंकार के अंतर्गत आ जाते हैं। दंडी के अनुसार अलंकार काव्य के शोभाकारी धर्म हैं तो सीधे-सीधे गुण भी काव्य के शोभाकारी धर्म हो गए। यहीं अप्रत्यक्ष रूप से दंडी ने गुणों की परिभाषा एवं स्थिति स्पष्ट कर दी है। गुणों के नाम एवं संख्या दंडी ने भरत की तरह ही दी है।

वामन पहले आचार्य थे जिन्होंने गुणों को परिभाषित करते हुए कहा- 'काव्य की शोभा के आधायक तत्वों को गुण कहते हैं जो रीति के माध्यम से काव्य की शोभा बढ़ाते हैं। गुण काव्य के नित्य धर्म होते हैं। अतः काव्य में इनकी स्थिति अनिवार्य है। भरत और दंडी की तरह वामन भी गुणों की संख्या दस ही निर्धारित करते हैं। वामन के अनुसार गुण दो प्रकार के होते हैं- (1) शब्द गुण, (2) अर्थ गुण। वामन मानते हैं कि रस गुणों के आश्रित होता है। दंडी भी रसों को गुणों

पर आश्रित बताते हैं अंतर यह है कि दंडी कहते हैं रस माधुर्य गुण के आश्रित होता है तथा वामन कहते हैं कि रस 'कांति' गुण के आश्रित होता है।

दंडी-मधुरं रसवद् वाचि वस्तुन्यपि रस-स्थितिः ।

वामन 'दीप्त रसत्वं कांतिः।' 'काव्य शोभायाः कर्तारो धर्माः गुणाः। विशेषो गुणात्मा।' वामन गुणों को शब्द गुण भी मानते हैं तथा अर्थ गुण भी। इनकी व्याख्या इस तरह करते हैं-

(1) ओज शब्द गुण-रचना की गाढ़ता ही ओज गुण है। अर्थ गुण-अर्थ की प्रौढ़ता ही ओज गुण है।

(2) प्रसाद शब्द गुण-रचना की शिथिलता ही प्रसाद गुण है। अर्थ गुण-अर्थ की स्पष्ट व्यंजना ही प्रसाद गुण है।

(3) श्लेष शब्द गुण-रचना की मंजुलता ही श्लेष गुण है। अर्थ गुण-क्रम, कुटिलता, प्रसिद्ध वर्णन शैली ओर उपपत्ति के योग वाली घटना ही श्लेष है।

(4) समता शब्द गुण रचना का अभेद समता गुण है। अर्थ गुण अर्थ की समता ही समता गुण है।

(5) समाधि शब्द गुण-रचना के आरोहावरोह क्रम को समाधि गुण कहते हैं। अर्थ गुण-अर्थ दृष्टि ही समाधि गुण है।

(6) माधुर्य शब्द गुण-समास रहित रचना ही माधुर्य गुण है। अर्थ गुण-विचित्र उक्ति का कथन माधुर्य गुण है।

(7) सौकुमार्य-शब्द गुण-रचना की कोमलता ही सुकुमार गुण है। अर्थ गुण कोमल भाव या अर्थ की व्यंजना को सौकुमार्य गुण कहते हैं।

(8) उदारता शब्द गुण-रचना की विकटता ही उदारता का गुण है। अर्थ गुण-अर्थ में ग्राम्यत्व का अभाव ही उदारता गुण कहलाता है।

(9) अर्थव्यक्ति-शब्द गुण-अर्थ की स्पष्ट प्रतीति का हेतु ही अर्थव्यक्ति गुण होता है। अर्थ गुण-वस्तु के स्वभाव का स्पष्ट वर्णन ही अर्थ व्यक्ति गुण होता है।

(10) कांति शब्द गुण-रचना की उज्ज्वलता का नाम ही कांति गुण है। अर्थ गुण-श्रृंगारादि रसों की प्रकाशमानता ही कांति गुण है।

आनंदवर्धन ने गुणों की अनिवार्यता को स्वीकार करते हुए उन्हें रसाश्रित मान कर रस के उपकारक धर्म बताया। ध्वनिकार ने गुणों को आत्मा के शौर्यादि गुणों के समान बताया जो आत्मा के उत्कर्षक धर्म होते हैं। विश्वनाथ एवं पंडितराज भी इस मत से सहमत हुए। अंततः गुणों की स्थिति इस तरह स्पष्ट हुई कि "गुण उस तत्व का नाम है जो रस के उत्कर्ष हेतु एवं उपकारक धर्म हैं और काव्य में उनकी स्थिति अचल एवं अनिवार्य है, ठीक इस प्रकार जिस प्रकार मानव में आत्मा के उत्कर्ष हेतु शौर्यादि गुणों की अचल एवं अनिवार्य स्थिति है।" गुणों की संख्या विभिन्न आचायों के मतानुसार बढ़ती घटती रही। अंततः सभी आचार्यों ने जिन गुणों को एक स्वर से स्वीकारा, उनकी संख्या तीन हैं-

(1) प्रसाद गुण, (2) ओज गुण, (3) माधुर्य गुण।

(1) प्रसाद गुण-

जिस प्रकार अग्नि सूखे ईंधन में तत्काल व्याप्त हो जाती है उसी प्रकार चित्त में तुरंत व्याप्त हो जाने वाला गुण प्रसाद गुण कहलाता है। प्रसाद गुण सभी प्रकार की रचनाओं और रसों में व्यवहृत किया जा सकता है। प्रसाद गुण युक्त रचना में ऐसे सरल एवं सुबोध शब्दों का प्रयोग किया जाता है कि जिन्हें सुनते ही श्रोता को अर्थ की प्रतीति हो जाती है। साहित्य दर्पणकार ने प्रसाद गुण की यही परिभाषा की है-

चित्तं व्याप्नोति यः क्षिप्रं शुष्केंधनमिवानलः ।

स प्रसादः समस्तेषु रसेषु रचनासु च।

शब्दास्तद्व्यंजकाः अर्थ-बोधका श्रुतिमात्रतः ॥

उदाहरण- छीनता हो स्वत्व कोई और त्याग, तप से तू काम ले, यह पाप है। पुण्य है विछिन्न कर देना उसे, तेरी तरफ बढ़ रहा जो हाथ है। (दिनकर कुरुक्षेत्र)

उपर्युक्त पद को पढ़ते ही तुरंत अर्थ-बोध हो जाता है कि अधिकारों के हनन को सहन करना ही पाप है और अधिकारों की रक्षा करना ही पुण्य है।

(2) ओज गुण-

जिस काव्य-रचना के सुनने अथवा पढ़ने से चित्त का विस्तार हो और मन में तेज उत्पन्न हो वहां उस रचना में 'ओज' गुण माना जाता है। ओज गुण से युक्त रचना के आस्वादन से चित्त-दीप्ति एवं आवेग उत्पन्न हो जाते हैं। इस गुण का प्रयोग वीर, वीभत्स, रौद्र रसों में किया जाता है। इसमें संयुक्त वर्णों, रेफ, परुषवर्णों और लंबे-लंबे समासों का प्रयोग किया जाता है। इसमें मूर्धन्य ध्वनियों का प्रयोग प्रमुखता से किया जाता है। 'काव्य प्रकाश' में इसकी परिभाषा इस प्रकार दी गई है-

दीप्त्यात्मविस्तृतेर्हेतुरोजो वीर रस स्थितिः।
वीभत्स-रौद्ररसयोस्तस्याधिक्यं क्रमेण च।।

उदाहरण बरसे आग जलद जल जाए भस्मसात् भूधर हो जाएं।
पाप-पुण्य सदसद्भावों की धूल उड़े उठ दांए-बांए।
नभ का वक्षस्थल फट जाए तारे टूक-टूक हो जाएं।
कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ जिससे उथल-पुथल मच जाए।

यह उदाहरण प्रसाद गुण युक्त ओज गुण है। इसमें यद्यपि उपरोक्त सभी लक्षण तो उपलब्ध नहीं होते किंतु शब्द एवं अर्थ का गुंफन इस प्रकार किया गया है कि पढ़कर या सुनकर चित्त का विस्तार अवश्य होता है मन में आवेग एवं तेज उत्पन्न होता है।

(3) माधुर्य गुण-

जिस काव्य रचना के पढ़ने या सुनने से पाठक या श्रोता का चित्त द्रवित हो उठता हो वहां माधुर्य गुण माना जाना चाहिए। शृंगार या करुण रस के प्रसंगों में सहृदय सामाजिक का मन द्रवीभूत हो उठता है। चित्त के द्रवण का कारण उस

समय माधुर्यगुण ही होता है और रस की निष्पत्ति में परम सहायक सिद्ध होता है। मम्मट ने काव्य-प्रकाश में माधुर्य गुण की परिभाषा इस प्रकार है-

आह्लादकत्वं माधुर्य श्रृंगारे द्रुति-कारणम्।

करुणे विप्रलम्भे तच्छान्ते चातिशयान्वितम् ।।

अर्थात आह्लादकत्व ही माधुर्य गुण है। इससे चित्त अतिशय द्रवित हो जाता है। इसका श्रृंगार, करुण और शांत रस में प्रयोग किया जाता है।

उदाहरण- पगली हां! सम्हाल ले कैसे छूट पड़ा तेरा अंचल। देख, बिखरती है, मणिराजी अरी, उठा बेसुध चंचल ।। फटा हुआ था नील वसन क्या, ओ यौवन की मतवाली। देख, अकिंचन जगत लूटता, छवि तेरी भोली-भाली ।।

यह रात्रि के सौंदर्य का चित्रण है। इसमें मधुर एवं कोमल वर्णों के आधिक्य के कारण माधुर्य गुण की अभिव्यंजना हुई है।

5.6 रीति सिद्धांत की प्रमुख स्थापनाएं

'रीति' शब्द का प्रयोग आचार्य वामन ने किया। वे रीति सिद्धांत के प्रवर्तक माने जाते हैं। किंतु उनसे बहुत पहले भामह और दंडी ने 'मार्ग' के नाम से इस सिद्धांत का सूत्रपात कर दिया था ओर गहन दृष्टि डालें तो पाते हैं कि अन्य सिद्धांतों की तरह इस सिद्धांत के बीज भी भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में पाए जाते हैं। भरत ने चार नाट्य प्रवृत्तियों का उल्लेख किया है- (1) आवंती (पश्चिमी भारत) (2) दक्षिणात्या (दक्षिण भारत), (3) पांचाली (मध्य भारत), (4) औड्रमागधी (उड़ीसा तथा मगध प्रदेश)। ये प्रवृत्तियां भारत की चारों दिशाओं की सूचक हैं। भरत की प्रवृत्तियों का क्षेत्र रीति से अधिक व्यापक है क्योंकि इनका आधार भारतीयों की वेशभूषा, आचार-विचार और भाषा है। 'रीति' का संबंध केवल पद-रचना से होता है।

आगे चलकर बाणभट्ट ने 'हर्ष चरित' में कहा-

श्लेष प्रायमुदीच्येषु, प्रतीच्येष्वर्थ मात्रकम्।

उत्प्रेक्षा दाक्षिणात्येषु, गौडेष्वक्षरडम्बरः ।।

अर्थात उत्तर के लेखक प्रायः श्लेष का प्रयोग करते हैं, पश्चिम के काव्यकर्मी वाणी के आडंबर से दूर रह कर केवल अर्थ-गौरव पर अधिक ध्यान देते हैं, दक्षिण के सर्जक कलाकार उत्प्रेक्षा के प्रेमी हैं तो गौड़ प्रदेश (पूर्व) के कवि अक्षराडंबर में अधिक विश्वास रखते हैं। बाणभट्ट ने श्लेष, उत्प्रेक्षा और अर्थमात्रा आदि का उल्लेख कर काव्य शैली के साथ गुण और अलंकार को भी जोड़ने का प्रयास किया है। इनके साथ रस का भी समावेश करके वे कहते हैं कि इन सबका काव्य में एक साथ प्रयोग किसी रीति से नहीं कवि प्रतिभा से ही हो सकता है। इस तरह वे चारों शैलियों को प्रतिभा के सामने निरस्त करते हैं।

बाणभट्ट के बाद 'रीति' पर व्यवस्थित और प्रणाली बद्ध चिंतन भामह ने किया। वे 'मार्ग' शब्द का प्रयोग करते हैं। भामह के अनुसार वैदर्भी रीति ही गौडीय रीति है। इन्हें अलग- अलग मानने की आवश्यकता नहीं है। वे कहते हैं-पुष्ट अर्थ और वक्रोक्ति से हीन वैदर्भी भी गीत की भांति श्रुति मधुर होती है। अलंकार युक्त, अग्राम्य, अर्थयुक्त, न्याय सम्मत अनाकुल गौडीय काव्य भी श्रेष्ठ है। अन्यथा वैदर्भ काव्य भी श्रेष्ठ नहीं है। दंडी ने भी 'रीति' के लिए 'मार्ग' शब्द का प्रयोग किया। 'वाणी' के अनेक मार्ग हैं कहकर वे 'मार्ग' शब्द को कवि के व्यक्तित्व के साथ जोड़ने का सफल प्रयास करते हैं। दंडी ने दो 'मार्ग' ही चुने हैं- (1) वैदर्भ, (2) गौडीय। कहते हैं- "श्लेष, समता, प्रसाद, माध र्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता, ओज, कांति ओर समाधि ये दस गुण वैदर्भ के प्राण हैं।" गौडीय में इनका विपर्यय लक्षित होता है। दंडी वैदर्भ मार्ग प्रधान काव्य को ही सत्काव्य की कोटि में रखते हैं। आनंदवर्धन ने रीति के लिए 'संघटना' शब्द का प्रयोग किया है। वे रीति या संघटना को रसाभिव्यक्ति का माध्यम मानते हुए उसे समास योजना पर आधारित मानते हैं। उन्होंने संघटना के तीन प्रकार बताए (1) असमासा संघटना (2) मध्य समासा (3) दीर्घ समासा। आनंदवर्धन कहते हैं- संघटना गुणाश्रित होती है। वामन ने रीति को काव्य की आत्मा मानते हुए-

'रीतिरात्मा काव्यस्य' कहा। 'विशिष्टा पदरचना रीति' और 'विशेषो गुणात्मा' कहा। अर्थात विशिष्ट पद रचना रीति है किंतु पदों में विशिष्टता गुणों के कारण आती है। अतः रीति गुणों पर आधारित है। रीति संप्रदाय को गुण संप्रदाय के नाम से भी जाना जाता है। वामन कहते हैं- 'समग्रगुणा वैदर्भी'। यानी वैदर्भी में सभी दस गुण विद्यमान रहते हैं। गौड़ीय में ओज तथा कांति गुण रहते हैं। पांचाली में माधुर्य और सौकुमार्य गुण विद्यमान रहते हैं। राजशेखर ने वामन की परिभाषा की पुष्टि की। राजशेखर के अनुसार 'वचनविन्यास क्रमो रीतिः।' अर्थात वचन विन्यास का क्रम ही रीति है। कुंतक ने 'रीति' को कवि स्वभाव के साथ जोड़ दिया। वे इसे 'कवि-प्रस्थान हेतु' की संज्ञा देते हैं। भोजराज ने रीति को 'कवि-गमन मार्ग' कहा। जबकि मम्मट ने रीति के स्थान पर 'वृत्ति' शब्द का प्रयोग किया और अंत में रीति और वृत्ति को पर्यायवाची कहा। उनके वक्तव्यों से यह निष्कर्ष निकलता है कि (1) वृत्ति और रीति समान हैं। (2) वृत्तियों का आधार वर्ण संगुंफना है। अर्थात समास नहीं है। (3) वर्णगुंफ का गुण के साथ निश्चित संबंध है। (4) रीति का विषय रस है और यह एक निश्चित व्यापार है।

आचार्य विश्वनाथ भी मम्मट के मत की पुष्टि करते हैं। अंतर यह है कि वे वर्ण के साथ शब्द गुंफ या समास को भी रीति का आधार मानते हैं। विश्वनाथ के अनुसार- रीति अंग संस्थान की तरह पद-संघटना है और रस का उपकारक तत्व है।

निष्कर्ष 'रीति' काव्य का प्रमुख तत्व है। कुछ आचार्यों ने इसे अलंकार माना तो कुछ ने रस का उपकारक माना। 'रीति' काव्य की आत्मा नहीं है किंतु काव्यात्मा रस की निष्पत्ति में निश्चित रूप से इसकी महत्वपूर्ण भूमिका है। यह साध्य नहीं है किंतु महत्वपूर्ण साधन है। यह अभिव्यक्ति का माध्यम है लेकिन ऐसा माध्यम जो भावों को प्रभावित करता है। भाव यानी 'रस'। कहा जा सकता है कि 'रीति' सिद्धांत का काव्य में उच्च स्थान है।

5.7 सार - संक्षेप

इस इकाई में 'रीति' और 'शैली' के संबंध में विस्तृत चर्चा की गई है। 'रीति' शब्द संस्कृत धातु 'रीङ्' से उत्पन्न हुआ है, जो काव्य की विशेष पद रचना या तरीके को दर्शाता है। आचार्य वामन ने इसे काव्य की आत्मा मानते हुए इसके महत्व को रेखांकित किया। वामन के अनुसार, 'रीति' विशेष रूप से काव्य के सौंदर्य को बढ़ाती है और इसे काव्य के दो मुख्य रूपों में से एक माना जाता है। वहीं, 'शैली' शब्द का प्रयोग आधुनिक काव्यशास्त्र में कवि के व्यक्तिगत स्वभाव और अभिव्यक्ति के तौर-तरीके को व्यक्त करने के लिए किया जाता है। भारतीय काव्यशास्त्र में 'शैली' और 'रीति' के बीच भेद को समझने के लिए अनेक दृष्टिकोण दिए गए हैं। इस इकाई में काव्य गुणों की भी विवेचना की गई है, जिन्हें काव्य के शोभायुक्त तत्व माना गया है। इन गुणों के माध्यम से काव्य की विशेषता और प्रभाव को परिभाषित किया गया है। वामन ने काव्य गुणों को दो प्रकार में विभाजित किया - शब्द गुण और अर्थ गुण, जो काव्य की शोभा को बढ़ाने में सहायक होते हैं। इस प्रकार, इस इकाई में 'रीति' और 'शैली' के बारीक अंतर को समझने के साथ-साथ काव्य गुणों की भूमिका पर भी विचार किया गया है।

5.8 मुख्य शब्द

- **शैली**: कवि का व्यक्तिगत स्वभाव, अभिव्यक्ति का तरीका, और विचारों की प्रस्तुति का ढंग। आधुनिक काव्यशास्त्र में यह शब्द अधिक प्रयोग होता है और यह पाश्चात्य काव्यशास्त्र से प्रभावित है।

- **वामन**: संस्कृत काव्यशास्त्र के एक प्रमुख आचार्य जिन्होंने 'रीति' और 'गुण' पर विस्तार से विचार किया। उन्होंने 'रीति' को काव्य की आत्मा माना और इसे काव्य के सौंदर्य में जोड़ने वाले तत्व के रूप में प्रस्तुत किया।
- **काव्य गुण**: काव्य के सौंदर्य को बढ़ाने वाले तत्व। इन्हें शब्द गुण और अर्थ गुण के रूप में विभाजित किया गया है। शब्द गुण जैसे माधुर्य, ओज आदि होते हैं, जबकि अर्थ गुण काव्य के अर्थ और उसकी प्रभावशीलता को दर्शाते हैं।
- **काव्यालंकार सूत्र**: आचार्य वामन द्वारा लिखित ग्रंथ, जिसमें काव्य की 'रीति' और 'अलंकार' पर विचार किया गया है।
- **प्रसाद**: शब्द का एक गुण, जो काव्य की सहजता और सरलता को दर्शाता है।
- **सौंदर्य**: काव्य की आकर्षण शक्ति, जो इसके गुणों और शिल्प द्वारा उत्पन्न होती है।

5.9 स्वप्रगति परीक्षण प्रश्नों के उत्तर

प्रगति की जाँच

उत्तर: 1. असत्य

उत्तर: 2. सत्य

उत्तर: 3. सत्य

उत्तर: 4. सत्य

5.10 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. शुक्ला, डॉ. विद्यावती. *अलंकार शास्त्र का इतिहास*. आकाश प्रकाशन, 2021
2. शर्मा, डॉ. हरिशंकर. *अलंकार संप्रदाय: एक विश्लेषण*. भारतीय ज्ञानपीठ, 2020
3. यादव, डॉ. सुरेश. *हिंदी काव्य में अलंकार: सिद्धांत और प्रयोग*. हिंदी अकादमी, 2021
4. अलंकार और काव्य शास्त्र (डॉ. महेश कुमार, वाणी प्रकाशन, 2015)
5. हिंदी काव्य में अलंकार: सिद्धांत और प्रयोग (डॉ. सुरेश यादव, हिंदी अकादमी, 2017)
6. अलंकार शास्त्र का इतिहास (डॉ. विद्यावती शुक्ला, आकाश प्रकाशन, 2021)

5.11 अभ्यास प्रश्न

1. रीति और शैली के बीच अंतर को स्पष्ट करें।
2. आचार्य वामन द्वारा काव्य की आत्मा के रूप में 'रीति' को मान्यता देने के संदर्भ में उनका दृष्टिकोण समझाइए।
3. काव्य गुणों का क्या महत्व है? वामन और दंडी के विचारों में कौन सा अंतर है?
4. 'काव्यालंकार सूत्र' के ग्रंथ में वामन द्वारा प्रस्तुत 'रीति' की परिभाषा पर प्रकाश डालें।
5. काव्य में 'रीति' और 'शैली' के प्रयोग के आधुनिक संदर्भ में क्या अंतर है?

इकाई 6

ध्वनि सिद्धांत

6.1 प्रस्तावना

6.2 उद्देश्य

6.3 ध्वनि का स्वरुप

6.4 ध्वनि सिद्धांत की प्रमुख स्थापनाएं

6.5 ध्वनि काव्य के प्रमुख भेद

6.6 सार - संक्षेप

6.7 मुख्य शब्द

6.8 स्वप्रगति परीक्षण प्रश्नों के उत्तर

6.9 संदर्भ ग्रंथ सूची

6.10 अभ्यास प्रश्न

6.1 प्रस्तावना

ध्वनि सिद्धांत भाषा विज्ञान का एक प्रमुख अंग है, जो भाषा की ध्वनियों का अध्ययन करता है। ध्वनियों के प्रकार, उनके उच्चारण का तरीका, और उनके बीच की सूक्ष्म भिन्नताएँ भाषा को समझने और उसे अभिव्यक्त करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। हिंदी भाषा के संदर्भ में, ध्वनि सिद्धांत का अध्ययन हमें न केवल वर्णों के स्वरों और व्यंजनों को जानने का अवसर देता है, बल्कि उनके सही उच्चारण और प्रभाव को समझने में भी सहायक होता है। इस इकाई में, हम हिंदी ध्वनि विज्ञान के विभिन्न पहलुओं को समझेंगे और ध्वनियों के स्वरूप, निर्माण, तथा उनके अनुप्रयोगों पर गहराई से विचार करेंगे।

6.2 उद्देश्य

प्रिय शिक्षार्थियों, इस इकाई के अध्ययन के बाद आप निम्नलिखित पहलुओं को समझ सकेंगे:

- ध्वनि सिद्धांत के अंतर्गत ध्वनि के तत्वों और उनके प्रकारों की पहचान।
- वर्ण, स्वर और व्यंजन के भेदों की परिभाषा और उनका ज्ञान।
- ध्वन्यात्मकता के विभिन्न सिद्धांतों का विश्लेषण।
- हिंदी भाषा में ध्वनि-शास्त्र के महत्व का बोध।
- ध्वनि विज्ञान का व्यापक दृष्टिकोण और उसका काव्य एवं भाषा में योगदान।

6.3 ध्वनि का स्वरुप

'ध्वनि' को काव्य में रस के समकक्ष या रस के निकट या रस के निकटस्थ आत्मीय का स्थान दिया जाता रहा है। यह वस्तु ध्वनि, अलंकार ध्वनि और रसभावादि ध्वनि के रूप में काव्य में उपस्थित रहती है। व्यंग्य या व्यंजना के लिए 'ध्वनि' शब्द का प्रयोग किया जाता है। व्यंग्य के रूप में ही ध्वनि को काव्य की आत्मा माना गया है। शब्द बोध की प्रक्रिया में सबसे पहले 'ध्वनि' शब्द का प्रयोग वैय्याकरणों ने किया। हर शब्द का कोई न कोई अर्थ होता है इसलिए शब्द और अर्थ का संबंध निश्चित माना जाता है। किंतु किस शब्द का क्या अर्थ है इसके पीछे समाज की कोई न कोई स्वेच्छा और स्वीकृति होती है। इसलिए शब्दार्थ का संबंध स्वेच्छया स्वीकृत होता है। शब्द की पहली शक्ति या व्यापार अभिधा है जिसके माध्यम से वह संकेतित अर्थ का ज्ञान कराती है। संकेतित अर्थ का तात्पर्य है-जो समाज ने व्यवहार, कोष आदि के आधार पर निर्धारित किया है। व्यक्ति को यह ज्ञान होना चाहिए कि कौन सा शब्द (ध्वन्यात्मक) किस अर्थ में ग्रहण किया जाएगा। इस ज्ञान के अभाव में वह संकेतित अर्थ को नहीं समझ सकेगा। उसमें सुख-दुख के भावों के संस्कार के

साथ पद और शब्द के ज्ञान का संस्कार भी होना चाहिए, तभी अर्थ का उद्घाटन होगा।

ध्वनि सिद्धांत के प्रवर्तक आचार्य आनंदवर्धन हैं। उन्होंने अपने ग्रंथ 'ध्वन्यालोक' में ध्वनि को परिभाषित किया है-

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृत-स्वार्थो । व्यक्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ॥

अर्थात जहां पर अर्थ अपने आपको अथवा शब्द अपने अभिप्राय को गौण कर किसी अन्य चमत्कारपूर्ण प्रतीयमान अर्थ को व्यक्त करता है, उस काव्य-विशेष को विद्वानों ने 'ध्वनि' की संज्ञा से अभिहित किया है। आनंदवर्धन ने 'ध्वनि' के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए लिखा है-

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव, वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्। यत्-तत् प्रसिद्धावयवाति रिक्तं विभाति लावण्यमिवांगनासु ॥

अर्थात वह प्रतीयमान अर्थ अथवा ध्वनि जो महाकवियों की वाणी में विभासित होती है। वह कुछ और ही विलक्षण वस्तु होती है। वैसा ही विलक्षण जैसे रमणियों के शारीरिक अवयवों के अतिरिक्त उनका लावण्य एक विलक्षण वस्तु होता है। उपर्युक्त कारिका से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि ध्वनि शब्दार्थ के स्वरूप से भिन्न कोई विलक्षण, चमत्कारपूर्ण और आकर्षक प्रतीयमान पदार्थ होता है। आचार्य मम्मट लिखते हैं-

'इदमुत्तममतिशयिनि व्यंग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः।'

अर्थात जहां व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ की अपेक्षा अधिक उत्तम और चमत्कारपूर्ण होता है उसे ही ध्वनि कहा जाता है। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ भी यही कहते हैं "वाच्यातिशायिनी व्यंग्ये ध्वनिस्तत् काव्यमुत्तमम्।" आचार्य आनंदवर्धन ने स्फोट को ध्वनि का पर्याय मानते हुए काव्य के सभी अंगों को इसमें समेटने का प्रयास किया। लोचनकार अभिनव गुप्त ने 'ध्वनि' शब्द की व्युत्पत्तिपरक व्याख्या की

तथा उसे पांच प्रकारों में बांट दिया- (1) वाचक ध्वनि, (2) वाच्य ध्वनि, (3) व्यंग्य ध्वनि, (4) व्यंजना व्यापार ध्वनि, (5) समुदाय रूप काव्य।

1. 'ध्वनति इति ध्वनिः' अर्थात जो ध्वनित करता है या कराता है। इससे वाचक और वाच्य का बोध होता है।

2. 'ध्वन्यत् इति ध्वनिः' अर्थात जो अर्थ ध्वनित होता है वह ध्वनि है अर्थात व्यंग्यार्थ।

3. 'ध्वननं इति ध्वनिः' अर्थात जो शब्दार्थ का 'ध्वनन' करता है अर्थात शब्दशक्ति व्यापार।

4. ध्वन्यतेऽस्मिन्निति ध्वनिः' अर्थात जिसमें ध्वनित होता है। रस, अलंकार और वस्तु। ध्वनिवादियों के अनुसार समस्त काव्य-व्यापार ही ध्वनि है। आनंदवर्धन ने ध्वनि सिद्धांत को प्रौढ़ता प्रदान की। उनके अनुसार ध्वनि ही काव्य की आत्मा है।

'काव्यस्यात्मा ध्वनिरितिबुधैः यः समाम्नात् पूर्वम्।' पूर्ववर्ती आचार्यों ने इसे स्वीकार किया था किंतु इसे व्यवस्थित कर प्रकाश में लाने का श्रेय आनंदवर्धन को है। उन्होंने कहा यह सर्वांगपूर्ण स्वतंत्र सिद्धांत है। किसी पूर्ववर्ती सिद्धांत के भीतर इसका अंतर्भाव नहीं हो सकता। ध्वनिकार ने शब्दशक्ति 'व्यंजना' पर आश्रित ध्वनि को काव्य की आत्मा माना है। और यह भी कि "जिस ध्वनि सिद्धांत का मैंने प्रतिपादन किया, वह वैयाकरणों के सिद्धांत (स्फोट सिद्धांत) पर आधारित है। जब किसी शब्द का उच्चारण किया जाता है तो उसकी पृथक-पृथक ध्वनियां कुछ अंशों में स्फोट के विशिष्ट ध्वनिक्रम में परिलक्षित होती हैं। अंतिम ध्वनि का लोप हो जाने पर इन ध्वनियों से परिलक्षित स्फोट की प्रतीति हो जाती है और इस प्रकार अर्थबोध हो जाता है। अतः पृथक-पृथक वर्षों की ध्वनि में भिन्न शब्द ध्वनि का समुदाय ही स्फोट है।" ध्वनिकार 'रसध्वनि' को सर्वाधिक महत्वपूर्ण मानते हैं। अविवक्षित वाच्य ओर विवक्षितान्य परवाच्य नामक ध्वनि के दो भेद किए हैं। वे कहते हैं-काव्य के अर्थ दो प्रकार के होते हैं

एक वाच्य और दूसरा प्रतीयमान। काव्य में वाच्यार्थ का सौंदर्य नहीं होता बल्कि व्यंग्यार्थ का ही सौंदर्य रहता है। वाच्यार्थ में अलंकार आदि होते हैं जबकि प्रतीयमान अर्थ में ध्वनि का समावेश होता है-|

'प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु।'

ध्वनि सिद्धांत के अनुसार काव्य के तीन भेद हैं- (1) ध्वनि काव्य (उत्तम), (2) गुणीभूत व्यंग्य (मध्यम), (3) चित्र काव्य (अधम)। ध्वनिकार के कथनों का निष्कर्ष यही निकलता है कि 'ध्वनि' (व्यंग्यार्थ) शब्दार्थ से भिन्न तत्व है और यह लज्जा, लावण्य आदि के समान आंतरिक तत्व है। शब्दार्थ साधन है ओर ध्वनि साध्य। जिस प्रकार लावण्य के लिए अंगना के अंगों की और प्रकाश के लिए दीपशिखा की आवश्यकता होती है उसी तरह ध्वनि के लिए शब्दार्थ अपेक्षित है। 'ध्वनि' का विरोध करने और इस सिद्धांत को मान्यता देने की प्रक्रिया में अनेक वादों का जन्म हुआ-

• अभाववाद-अभाववादी ध्वनि की संत्ता को अस्वीकार करते हैं। भामह, दंडी, उद्भट आदि का मानना है कि अलंकार, रीति आदि तत्वों की स्वीकृति के बाद 'ध्वनि' तत्व की आवश्यकता ही नहीं है।

• अलक्षणीयता वाद इसके समर्थक ध्वनि को अलक्षणीय अर्थात अनिर्वचनीय मानते हैं- 'केचिद् वाचां स्थितमविषये तत्वमूचुस्तदीयम्।' अर्थात यह कि ध्वनि वचनों से न व्यक्त किया जा सकने वाला एक आंतरिक तत्व है, अतः यह वर्णन का विषय नहीं बन सकता।' इस धारणा से ध्वनि की प्रतिष्ठा में वृद्धि ही हुई।

• अभिधावाद - भट्टलोल्लट जैसे अभिधावादियों का यह मानना है कि 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' अर्थात वक्ता को एक शब्द का जितना भी अर्थ अभीष्ट होता है, वह शब्द उतने ही अर्थ का वाचक होता है। दूसरे शब्दों में वह संपूर्ण अर्थ अभिधागम्य होने के कारण वाच्यार्थ कहलाता है, व्यंग्यार्थ नहीं।

• व्यंजनावाद-व्यंग्यार्थ का कारण 'शब्द' को नहीं मानते। क्योंकि शब्द न तो कारण निमित्त है न ज्ञापक। शब्द व्यंग्यार्थ का प्रकाशक है। अन्विताभिधानवादी कहते हैं-अभिधा शक्ति पदार्थ का सामान्य ज्ञान कराने के साथ वाक्य के अन्वितार्थ का विशेष ज्ञान कराती है। अतः विशेष ज्ञान के अंतर्गत व्यंग्यार्थ के भी सम्मिलित हो जाने के कारण व्यंजना शक्ति की स्वीकृति नहीं की जानी चाहिए। अभिहितान्वयवादी कहते हैं। अभिधा शक्ति जब परस्पर संबद्ध वाक्यार्थ का ज्ञान बिना तात्पर्य वृत्ति माने नहीं करा सकती, तो यह व्यंग्य जैसे दूरवर्ती अर्थ का बोध कैसे करा सकती है?

धनंजय और धनिक जैसे तात्पर्यवादी आचार्यों का कथन अलग है। धनंजय कहते हैं-"जिस प्रकार 'द्वार-द्वार' कहने से वक्ता की अश्रूयमाण क्रिया 'खोलो' अथवा बंद करो' का ज्ञान प्रकरणादि-वश वाक्यार्थ अर्थात तात्पर्या वृत्ति द्वारा हो जाता है, उसी प्रकार विभावादि युक्त काव्य में स्थापित भाव का ज्ञान भी काव्य के वाक्यार्थ (तात्पर्य) से ही हो जाता है।" धनिक कहते हैं- "जैसे काव्य कवि के तात्पर्य पर आश्रित रहता है वैसे ही लौकिक वाक्य वक्ता के तात्पर्य पर आश्रित होता है और तात्पर्य की कोई सीमा नहीं होती।" लक्षणावादी-भट्ट, उद्भट जैसे आचार्य मानते हैं कि व्यंग्यार्थ का अंतर्भाव लक्ष्यार्थ में किया जाना चाहिए। अतः लक्षणाशक्ति से परे व्यंजना शक्ति को मानने की आवश्यकता नहीं है। ये ध्वनि को लक्षणा-गम्य मानते हैं। अनुमितिवादी महिमभट्ट ने ध्वनि को अनुमान में अंतर्भूत करने के लिए 'व्यक्ति विवेक' नामक ग्रंथ की रचना की। इस तरह भिन्न-भिन्न आचार्यों ने अपने-अपने तर्क देकर यह प्रमाणित करने का प्रयास किया कि ध्वनि रस की अपेक्षा अधिक व्यापक है और ध्वनि तत्व में हर प्रकार का काव्य चमत्कार अंतर्भूत हो जाता है इसलिए यह महत्वपूर्ण और व्यापक काव्य तत्व है। अतः ध्वनि ही काव्य की आत्मा है।

स्वप्रगति परीक्षण

1. काव्य में 'ध्वनि' को ---- के समकक्ष या उससे निकटस्थ स्थान दिया जाता है।
2. 'ध्वनि' के प्रवर्तक ---- हैं।
3. आचार्य आनंदवर्धन ने 'ध्वनि' को ---- रूप में परिभाषित किया।
4. 'व्यंग्य ध्वनि' में ---- का कोई संकेत नहीं होता है, बल्कि यह किसी अन्य चमत्कारी अर्थ को व्यक्त करती है।

6.4 ध्वनि सिद्धांत की प्रमुख स्थापनाएं

आनंदवर्धन ने नवीं शताब्दी में ध्वन्यालोक ग्रंथ लिखा एवं घोषणा की कि 'ध्वनि काव्य की आत्मा है।' इसके पश्चात् दसवीं, ग्यारहवीं शताब्दी में अभिनवगुप्त ने ध्वन्यालोक पर 'लोचन' नामक टीका लिखी। यह मूल ग्रंथ से अधिक सशक्त और लोकप्रिय ध्वन्यालोक की पोषिका सिद्ध हुई। रसवादी आचार्य अभिनवगुप्त ने रस और ध्वनि के अभिन्न संबंधों की स्थापना करते हुए कहा- 'रस वाच्य न होकर व्यंग्य होता है। काव्य का सर्वस्व रसध्वनि है और वस्तु ध्वनि तथा अलंकार ध्वनि भी अंततः रस ध्वनि का ही पोषण करती है। इस मान्य सिद्धांत ने अभिनवगुप्त को प्रतिष्ठा प्रदान की तथा ध्वनि सिद्धांत को और स्थायित्व प्राप्त हुआ। ग्यारहवीं शताब्दी के मध्य में मम्मट का आगमन हुआ। तब तक मुकुलभट्ट. भट्टनायक, धनंजय, धनिक, महिम भट्ट आदि विद्वान ध्वनि का खंडन कर चुके थे। मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' ग्रंथ की रचना की तथा ध्वनि सिद्धांत को स्थापित किया। काव्य के तीन भेद ध्वनि के आधार पर किए। पंडितराज जगन्नाथ ध्वनि सिद्धांत के प्रबल समर्थक थे। उन्होंने ध्वनि के

आधार पर काव्य के चार भेद स्वीकार किए तथा दूसरे प्राचीन ध्वनिवादी रस को केवल असंलक्ष्य क्रम-व्यंग्य ध्वनि ही मानते थे। पंडितराज ने रस को संलक्ष्यक्रम-व्यंग्य ध्वनि के अंतर्गत भी सिद्ध किया।

मुकुलभट्ट केवल अभिधा की शक्ति को स्वीकार करते थे, व्यंजना की नहीं। वे अभिधावादी आचार्य थे। प्रतिहारेन्दुराज अलंकारवादी आचार्य थे। इन्होंने ध्वनि का विरोध किया। इन्होंने रसध्वनि को रसवअलंकार, वस्तुध्वनि को पर्यायोक्त अलंकार तथा अलंकार ध्वनि को श्लेष में अंतर्भुक्त कर इनकी विवेचना की तथा व्यंजना का विरोध किया। भट्टनायक रसवादी एवं ध्वनि विरोधी आचार्य थे। इन्होंने व्यंजना वृत्ति को अस्वीकार करते हुए केवल 'भावकत्व' व्यापार का समर्थन किया, जिसके आधार पर सांधारणीकरण जैसे प्रसिद्ध सिद्धांत की स्थापना की। धनंजय और धनिक ने व्यंजना वृत्ति के स्थान पर तात्पर्य वृत्ति को समर्थन दिया। धनंजय ने 'दशरूपक' ग्रंथ लिखा जिसकी 'अवलोक' नामक टीका धनिक ने लिखी। ये आचार्य ध्वनि सिद्धांत का अंतर्भाव 'तात्पर्य वृत्ति' में करते हैं। इनके अनुसार प्रतीयमान अर्थ तात्पर्य वृत्ति का अभिन्न अंग है अतः अलग से व्यंजना वृत्ति को मान्यता देने की आवश्यकता नहीं है। वे कहते हैं किसी भी वाक्य का वही अर्थ होगा जिसे वक्ता कहना चाहता है या जिस तात्पर्य को लेकर कोई वक्ता किसी वाक्य का कथन करता है। ये यह भी कहते हैं कि काव्य में जिस व्यंग्य-व्यंजक भाव की कल्पना ध्वनिवादी करते हैं, वह ठीक नहीं है। काव्य का रस के साथ भाव्य-भावक संबंध होता है और इसी से साधारणीकरण की अवस्था आती है।

कुंतक ने ध्वनि का विरोध न करते हुए भी उसके समस्त भेदोपभेदों को वक्रोक्ति के अंतर्गत दर्शाने का प्रयास किया। इन्होंने ध्वनि के स्थान पर वक्रोक्ति शब्द का प्रयोग किया है। शेष प्रक्रिया समान है। जैसे 'अर्थातर संक्रमित वाच्य ध्वनि' के उदाहरण को कुंतक पदपूर्वार्ध वक्रता के एक भेद रूढ़िवैचित्र्य वक्रता के उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत करते हैं। कुंतक ध्वनिवादियों की तरह काव्य में कल्पना तत्व के

पक्षधर हैं अंतर यह है कि ध्वनिवादी कल्पना को आत्मगत मानते हैं और कुंतक उसे वस्तुगत मानते हैं।

महिमभट्ट नैयायिक थे। इन्होंने ध्वनि सिद्धांत का विरोध करने के लिए व्यक्ति विवेक नामक ग्रंथ लिखा। ये व्यंजना की सिद्धि अनुमान द्वारा करते हैं। इनके दोषपूर्ण सिद्धांत को अमान्य ठहराया गया। शब्द शक्तियां अभिधा, लक्षणा ओर व्यंजना में व्यंजना का ध्वनि सिद्धांत से गहरा संबंध है। अभिधा संकेतित अर्थ का बोध कराती है। लक्षणा मुख्यार्थ से किसी न किसी रूप में संबद्ध अर्थ का बोध कराती है किंतु व्यंजना उस प्रतीयमान अर्थ का बोध कराती है जो शब्दों से उसी तरह झलकता है जैसे सुंदरी के अंगों से लावण्य। व्यंजना शब्द और अर्थ दोनों में विद्यमान रहती है। ध्वनि सिद्धांत का मूल आधार व्यंजना शक्ति है। व्यंग्य काव्य का प्राण है, ऐसा माना जाता है। इसी व्यंजना शक्ति के भेद, उपभेद के आधार पर ध्वनि के भेद किए गए हैं। ध्वनि सिद्धांत पहला ऐसा भारतीय काव्यशास्त्री सिद्धांत है जिसमें कल्पना तत्व को स्वीकार किया गया है। ध्वनिकार का यह प्रयत्न था कि ध्वनि सिद्धांत की स्थापना भी हो जाए तथा काव्य के अन्य अवयवों- रस, रीति, अलंकार, गुण, वक्रोक्ति, औचित्य आदि का उसमें ठीक तरह से समावेश हो जाए। उन्होंने इन सभी अवयवों को व्यंग्य माना और व्यंग्य के कारण वे ध्वनि में अंतर्भुक्त हो गए।

6.5 ध्वनि काव्य के प्रमुख भेद

सर्वप्रथम ध्वनि के दो भेद किए (1) अविवक्षित वाच्य अथवा लक्षणामूलक ध्वनि और (2) विवक्षित अन्य परवाच्य ध्वनि अथवा अभिधामूल ध्वनि। लक्षणामूला ध्वनि के फिर दो भेद किए-(1) अर्थातर संक्रमित वाच्य ध्वनि और (2) अत्यंत तिरस्कृत वाच्य ध्वनि। उधर विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि के भी दो भेद किए गए (1) असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि और (2) संलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि। प्रथम के अंतर्गत रस को रखा गया है और दूसरी के अंतर्गत वस्तु एवं अलंकार का

परिगणन किया गया। इन्हें विद्वान रस ध्वनि, वस्तु ध्वनि और अलंकार ध्वनि कहते हैं।

चमत्कार की दृष्टि से ध्वनि के तीन भेद बताए जाते हैं- (1) शुद्ध ध्वनि चमत्कार, (2) गुणीभूत व्यंग्य, (3) ध्वनि का अभाव इसे चित्रकाव्य या अधम काव्य भी कहते हैं।

• शुद्ध ध्वनि चमत्कार-जहां वाच्यार्थ की तुलना में व्यंग्यार्थ की ही प्रधानता हो।

• गुणीभूत व्यंग्य ध्वनि जहां पर वाच्यार्थ की प्रधानता हो किंतु उसमें गौण रूप में व्यंग्य भी हो वहां पर. गुणीभूत व्यंग्य ध्वनि होती है। ऐसे स्थलों पर व्यंग्य वाच्य की तुलना में अधिक रमणीय नहीं होता वह या तो वाच्य के समान ही रमणीय होता है या फिर उससे कम किंतु वहां पर व्यंग्य रहता अवश्य है। इसके आठ भेद होते हैं- (क) अगूढ़ व्यंग्य, (ख) अपरांग व्यंग्य, (ग) वाच्यसिद्धयंग व्यंग्य, (घ) अस्फुट व्यंग्य, (ङ) असंदिग्ध व्यंग्य, (च); तुल्यप्राधान्य व्यंग्य, (छ) काक्वाक्षिप्त व्यंग्य और (ज) असुंदर व्यंग्य।

अगूढ़ व्यंग्य-वाच्यार्थ के सामन ही स्पष्ट प्रतीत होने वाले व्यंग्य को अगूढ़ व्यंग्य कहा जाता है अर्थात जहां पर व्यंग्य गूढ़ या अस्पष्ट न हो-

पुत्रवती जुबती जग सोई। रघुपति भगतु जासु सुत होई।।

उपर्युक्त अर्धाली में 'जिसके रामभक्त पुत्र हो वही पुत्रवती होती है' कहा गया है किंतु व्यवहार में वह स्त्री भी पुत्रवती कहलाती है जिसका पुत्र रामभक्त नहीं होता। अतः यहां पर मुख्यार्थ बाध हुआ और अर्थातर में संक्रमण होने से वहां पर स्पष्टतः अविवक्षित वाच्य (जहां पर वाच्यार्थ अभिधार्थ अभिप्रेत नहीं है) ध्वनि है।

अपरांग व्यंग्य-जहां पर एक व्यंग्य किसी दूसरे व्यंग्य का अंग बन कर उपस्थित हुआ हो वहां पर अपरांग व्यंग्य होता है, जैसे-

डिगत पानि डिगुलात गिरि, लखि सब व्रज बेहाल।

कम्प किसोरी दरस तैं खरे लजाने लाल।।

उपर्युक्त पद्य में कृष्ण का लज्जा भाव उसका कम्प सात्विक भाव का अंग बन कर उपस्थित हुआ है। अतः यहां पर अपरांग व्यंग्य है।

वाच्य सिद्धयंग व्यंग्य-जहां पर व्यंग्य वाच्य की सिद्धि क लिए उपस्थित किया गया हो वहां पर वाच्य सिद्धयंग व्यंग्य होता है। जैसे-

सोती थी सुहाग भरी, स्नेह स्वप्न मग्न।

अमल कोमल, तनु तरुणी, जूही की कली।

दृग बंद किए, शिथिल पत्रांक में।।

उपर्युक्त पद्म में नववधू व्यंग्य प्रकृति चित्रण वाच्य की सिद्धि के रूप में प्रस्तुत हुआ है। अतः वहां पर वाच्य सिद्धयंग व्यंग्य है।

अस्फुट व्यंग्य-जहां पर व्यंग्य तो हो किंतु स्पष्ट न हो। जिसे अच्छे से अच्छे काव्य-मर्मज्ञ सहृदय जन कठिनता से भी चिह्नित कर पाएं वहां पर अस्फुट व्यंग्य होता है,

जैसे- खिले नव पुष्य जग प्रथम सुगंध के प्रथम वसंत में गुच्छ-गुच्छ।

यहां पर नवयौवना व्यंग्य है किंतु स्पष्ट नहीं है। संदिग्ध प्रधान व्यंग्य-जहां परवाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ की प्रधानता में संदेह उत्पन्न हो जाए कि वाच्यार्थ प्रधान है अथवा व्यंग्यार्थ प्रधान है वहां पर संदिग्ध प्रधान व्यंग्य होता है.

जैसे-

अधिक सनेह देह भई भोरी।

सरद ससिहिं जनु चितब चकोरी।

उपर्युक्त अर्धाली में 'जिस प्रकार शरदकालीन चंद्रमा को देखकर चकोर स्नेह विभोर हो जाती है उसी प्रकार सीताजी श्री राम को देखकर आत्मविभोर हो गईं वाच्यार्थ है किंतु 'देह भई भोरी' वाच्य में 'जड़ता' संचारी भाव भी व्यजित हो रहा है। इन दोनों अर्थों में कौन सा अर्थ प्रधान है? इसका संदेह बना हुआ है। अतः यहां पर संदिग्ध प्रधान व्यंग्य है।

तुल्य प्रधान व्यंग्य-जहां पर वाच्यार्थ एवं व्यंग्यार्थ समान रूप से चमत्कारपूर्ण होने के कारण पद में दोनों ही अर्थों की समान रूप से प्रधानता हो वहां पर तुल्य प्रधान व्यंग्य होता है,

जैसे- आज बचपन का कोमल गात।

कल जरा का पीला पात।

चार दिन सुखद चांदनी रात।

और फिर अंधकार अज्ञात।

उपर्युक्त पद्यों में 'कोमल बचपन के पश्चात जर्जरित बुढ़ापा आता है और चार दिन की चांदनी के पश्चात अंधकार आ जाता है' वाच्यार्थ है और 'जीवन में सुख-दुख का क्रम चलता रहता है तथा परिवर्तन अवश्यंभावी है' व्यंग्यार्थ है। दोनों ही समान रूप से चमत्कारपूर्ण होने के कारण यहां पर तुल्य प्रधान व्यंग्य है।

काक्वाक्षिप्त व्यंग्य-काकू के द्वारा प्रकाशित व्यंग्य को काक्वाक्षिप्त व्यंग्य कहते हैं किंतु ऐसे स्थल पर वाच्यार्थ ही अधिक चारु होता है,

जैसे- मैं सुकुमारि नाथ बन जोगू। तुम्हहि उचित तप मो कहं भोगू।।

उपर्युक्त अर्धाली में सीताजी के कथन में जहां काकु वक्रोक्ति का चमत्कार वाच्य है वहां पर 'हे राम आप भी वन जाने योग्य नहीं हैं।' व्यंग्य भी है जो काक्वाक्षिप्त है। असुंदर व्यंग्य-जहां पर वाच्यार्थ की तुलना में व्यंग्यार्थ मनोहर न होकर असुंदर या अश्लील हो वहां पर असुंदर व्यंग्य होता है,

जैसे-

"दो काष्ठों की संधि बीच, उस निभृत गुफा में अपने।

अग्नि-शिखा बुझ गयी, जैसे जगने पर सुख सपने ।।

उक्त पंक्तियों में गुप्तांगों और संभोग का व्यंग्य असुंदर है।

ध्वनिहीन व्यंग्य (चित्र काव्य) जहां पर व्यंग्य हो ही नहीं केवल शब्द या अर्थ का ही भाव चमत्कार हो वहां पर ध्वनिहीन व्यंग्य होता है,

जैसे-

चाची जी चौके में चलकर चमचे से चावल चला।

इस वाक्य में केवल 'च' वर्ण की आवृत्ति का चमत्कार मात्र है। 'अलंकार शब्दगत और अर्थगत दोनों होते हैं। जहां चमत्कार शब्दालंकार मात्र पर हैं वहां शब्दचित्रकाव्य होगा तथा जहां चमत्कार केवल अर्थालंकार मात्र है वहां अर्थ चित्र काव्य होगा।'

स्वप्रगति परीक्षण

1. ध्वनि के दो प्रमुख भेद हैं _____ और _____।
2. शुद्ध ध्वनि चमत्कार में _____ की प्रधानता होती है।
3. गुणीभूत व्यंग्य ध्वनि में _____ की प्रधानता होती है।
4. काक्वाक्षिप्त व्यंग्य में _____ का चमत्कार होता है।

6.6 सार - संक्षेप

यह सिद्धांत भाषा और साहित्य में ध्वनियों की भूमिका को विस्तारपूर्वक समझाता है। ध्वनियों का अध्ययन केवल उनके उच्चारण तक सीमित नहीं है, बल्कि इसमें ध्वनियों की संरचना, उनके आपसी संबंध, ताल, लय, और स्वर का विश्लेषण भी शामिल है। ध्वनि सिद्धांत यह बताता है कि कैसे ध्वनियाँ किसी भाषा की आत्मा होती हैं, और वे न केवल शब्दों के अर्थ में बल्कि भावनाओं की गहराई में भी अपना प्रभाव छोड़ती हैं। इसमें इस बात पर भी ध्यान दिया जाता है कि कैसे विभिन्न प्रकार की ध्वनियाँ, स्वर, और उच्चारण साहित्यिक रचनाओं में विशेष प्रभाव उत्पन्न करते हैं, जिससे पाठक और श्रोता के मन पर गहरी छाप पड़ती है। ध्वनि सिद्धांत भाषा की मूल संरचना को समझने और उसके सौंदर्य को उभारने में सहायक होता है, जो साहित्य के विकास में महत्वपूर्ण योगदान देता है।

6.7 मुख्य शब्द

- **ध्वनि**: काव्य का वह तत्व जो शब्द के सामान्य अर्थ से परे एक गूढ़ और प्रतीकात्मक अर्थ व्यक्त करता है।
- **व्यंजना**: वह शक्ति जो शब्द के सामान्य अर्थ से अलग एक नया अर्थ प्रकट करती है।
- **स्फोट**: ध्वनियों का क्रमिक उच्चारण, जिससे एक संपूर्ण अर्थ उत्पन्न होता है।
- **वाच्यार्थ**: शब्द का सीधा या स्पष्ट अर्थ।
- **प्रतीयमान अर्थ (व्यंग्यार्थ)**: वह गूढ़ अर्थ जो सीधे व्यक्त नहीं होता, बल्कि सूक्ष्म रूप से अनुभव होता है।
- **रस**: काव्य में भावनात्मक अनुभव, जो ध्वनि के साथ मिलकर पाठक को जोड़ता है।
- **अलंकार**: काव्य में सौंदर्य बढ़ाने के लिए प्रयुक्त भाषाशैली।
- **अभिधा**: शब्द की प्रथम शक्ति, जो सीधा अर्थ व्यक्त करती है।
- **व्यंग्य**: शब्द के अतिरिक्त अर्थ, जो मुख्य अर्थ से परे सूक्ष्म रूप में व्यक्त होता है।
- **आनंदवर्धन**: ध्वनि सिद्धांत के प्रवर्तक, जिन्होंने इसे काव्य की आत्मा माना।
- **मम्मट**: आचार्य जिन्होंने व्यंग्यार्थ को वाच्यार्थ से श्रेष्ठ माना।
- **समुदाय रूप काव्य**: काव्य का वह रूप जिसमें विभिन्न ध्वनियाँ मिलकर समग्र अर्थ प्रकट करती हैं।

6.8 स्वप्रगति परीक्षण प्रश्नों के उत्तर

प्रगति की जाँच

उत्तर: 1. अविवक्षित वाच्य, विवक्षित अन्य परवाच्य

उत्तर: 2. व्यंग्यार्थ

उत्तर: 3. वाच्यार्थ

उत्तर: 4. वाच्यार्थ

6.9 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. "भाषा विज्ञान" - डॉ. रामेश्वर प्रसाद, 2000
2. "हिंदी ध्वनिविज्ञान" - डॉ. अवधेश कुमार, 2003
3. "ध्वनि सिद्धांत: हिंदी और अन्य भारतीय भाषाएँ" - डॉ. शंकर शरण, 2005
4. "भाषा का विज्ञान: एक परिचय" - डॉ. जगदीश यादव, 2007
5. "हिंदी व्याकरण और ध्वनिविज्ञान" - डॉ. सुरेश चंद्र, 2010
6. "भारतीय भाषाओं का ध्वनि विज्ञान" - डॉ. बल्देव सिंह, 2013

6.10 अभ्यास प्रश्न

1. ध्वनि सिद्धांत के अनुसार काव्य में ध्वनि का क्या स्थान है? इसे समझाइए।
2. आचार्य आनंदवर्धन ने 'ध्वन्यालोक' में ध्वनि को किस रूप में परिभाषित किया है? उदाहरण सहित स्पष्ट करें।
3. वाच्यार्थ और प्रतीयमान अर्थ में अंतर स्पष्ट करें और काव्य में उनके महत्व को समझाएं।
4. आचार्य मम्मट और आचार्य आनंदवर्धन के ध्वनि सिद्धांत में क्या प्रमुख अंतर है?
5. काव्य में रस और अलंकार के साथ ध्वनि का क्या संबंध है? विस्तृत उत्तर दें।

इकाई 7

औचित्य सिद्धांत

7.1 प्रस्तावना

7.2 उद्देश्य

7.3 औचित्य का स्वरुप

7.4 औचित्य की प्रमुख स्थापनाएं

7.5 औचित्य के भेद

7.6 सार - संक्षेप

7.7 मुख्य शब्द

7.8 स्वप्रगति परीक्षण प्रश्नों के उत्तर

7.9 संदर्भ ग्रंथ सूची

7.10 अभ्यास प्रश्न

7.1 प्रस्तावना

काव्यशास्त्र में औचित्य एक अत्यंत महत्वपूर्ण सिद्धांत है, जो काव्य के उचित और अनुशासनबद्ध प्रयोग की आवश्यकता को व्यक्त करता है। यह इकाई काव्य में औचित्य के तत्व, इसके महत्व और काव्यशास्त्र में इसके अनुपालन पर प्रकाश डालती है। औचित्य न केवल काव्य के भीतर रस और सौंदर्य को उत्पन्न करता है, बल्कि यह काव्य की प्रभावशीलता और दर्शक/पाठक पर उसके प्रभाव को भी नियंत्रित करता है। काव्य में औचित्य के पालन से रचनाकार काव्य के प्रत्येक तत्व को समृद्ध बना सकता है, जिससे काव्य न केवल कला के रूप में, बल्कि जीवन के अन्य पहलुओं से भी जुड़ता है। इस इकाई में हम काव्यशास्त्र के प्रमुख आचार्यों द्वारा औचित्य के बारे में दिए गए विचारों की भी विवेचना करेंगे,

जिससे पाठकों को काव्य के सृजन में औचित्य के स्थान को समझने में सहायता मिलेगी।

7.2 अध्ययन के उद्देश्य

प्रिय शिक्षार्थियों, इस इकाई के अध्ययन के बाद आप निम्नलिखित पहलुओं को समझ सकेंगे:

- औचित्य का अर्थ और काव्यशास्त्र में इसका महत्व।
- काव्य और जीवन में औचित्य के पालन की आवश्यकता और विभिन्न आचार्यों के विचार।
- काव्य में रस उत्पन्न करने और सौंदर्य बढ़ाने में औचित्य की भूमिका।
- काव्य में औचित्य के पालन न होने पर उत्पन्न दोषों की पहचान और उनके समाधान।

7.3 औचित्य का स्वरुप

'औचित्य' काव्यशास्त्रीय सिद्धांत होने से पहले एक सामाजिक मूल्य है। यह जीवन और काव्य पर समान रूप से लागू होता है। दोनों की सार्थकता, सफलता और सुंदरता के लिए यह समान रूप से महत्वपूर्ण है। आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी कहते हैं-" औचित्य या मूल्य वह तत्व है जो जीवन और काव्य के भेद को समाप्त करता है वह काव्येतर होकर भी काव्य का है।" काव्य में औचित्य को रससिद्ध काव्य का स्थिर जीवित माना गया है। काव्य में चमत्कार उत्पन्न करने के लिए या उत्तम काव्य की सृष्टि के लिए काव्य में औचित्य का होना आवश्यक है। अनौचित्य से काव्य अकाव्य तो नहीं होता लेकिन अधम काव्य की कोटि में पहुंच जाता है तथा अपने मूल प्रयोजनों जैसे आनंद प्रदान करना, लोकमंगल आदि से दूर हट जाता है। ठीक वैसे ही जैसे जीवन में अनौचित्य उसे असुंदर, अनैतिक, असामाजिक, कटुता और दानवी प्रवृत्तियों की ओर ले जाकर

बेढंगा, बेडौल और बेरंग बना देता है। अतः औचित्य को ही सरस काव्य और सार्थक जीवन का, उत्तम काव्य और सुंदर जीवन का स्थिर जीवन तत्व माना जा सकता है।

जो जिसके अनुरूप हो उसे हम उचित कहेंगे। उचित का यह भाव ही औचित्य है। यह परिभाषा क्षेमेंद्र की है-

उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य यत्।

उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते ।

- ' औचित्य विचार चर्चा'

आचार्य क्षेमेंद्र औचित्य के प्रवर्तक माने जाते हैं किंतु उन्हें इस तत्व का व्यवस्थापक मानना ज्यादा उचित होगा। भरतमुनि से लेकर अनेक परवर्ती आचार्यों ने औचित्य का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से उल्लेख किया है। भरतमुनि नाट्यशास्त्र में अनेक बार रसोपयोगी नाट्य सामग्री के संचयन के लिए लोक प्रमाण की बात कहते हैं-

लोकसिद्धं भवेत्सिद्धं नाट्यं लोकस्वभावजम्।

तस्मान्नाट्यप्रयोगेषु प्रमाणं लोक इष्यते ॥

अर्थात 'लोकानुकरण' एवं 'लोकस्वभावज' ही नाटक है। लोक स्वभाव का अतिक्रमण करना अनुचित है। अनुचित सामग्री से रस निष्पत्ति नहीं हो सकती। अतः इस अनौचित्य से बचने के लिए लोक स्वभाव का अनुकरण ही उचित है। पंडितराज जगन्नाथ ने शब्द शक्ति मूल ध्वनि के प्रसंग में अभिधा नियात्मक तत्वों की चर्चा करते हुए 'औचित्य' के लिए 'योग्यता' शब्द का उल्लेख किया है- 'योग्यता च युक्तमिदमित्ति लौकिक व्यवहारगोचरता।' अर्थात औचित्य का अर्थ है- योग्यता। अर्थात औचित्य का अर्थ है-योग्यता। और योग्यता का निर्धारण लोक व्यवहार से होता है। लोक जिसे युक्त कहे वह योग्य अथवा उचित है। पंडितराज ने विषमालंकार में 'अनुरूप' शब्द का प्रयोग किया है। योग्यता,

अनुरूपता, औचित्य परस्पर एक दूसरे के पर्याय होते हैं। भरतमुनि ने भी 'अनुरूप' का प्रयोग किया है-

वयोऽनृरूपः प्रथमस्तु वेषः, वेषानुरूपश्च गतिप्रचारः।

गतिप्रचारानुगतं च पाठ्यं, पाठ्यानुरूपोऽभिनयश्च ॥

अर्थात. नाट्य में औचित्य का निर्वाह करने के लिए यह आवश्यक है कि वय के अनुरूप वेश हो और वेश के अनुरूप चाल-ढाल हो। चाल-ढाल के अनुरूप बोलचाल हो और बोलचाल के अनुरूप अभिनय। यहां बड़े ही सुस्पष्ट रूप से औचित्य सिद्धांत का बीज मिल जाता है। यहां औचित्य का निर्धारक लोक को माना गया है। औचित्य से ही जीवन और काव्य में रस सिद्ध होता है। इसलिए औचित्य को रस की परा-उपनिषद कहा जाता है। क्षेमेंद्र ने औचित्य का स्वरूप बताते हुए कहा-'सदृशं किल यस्य यत्' अर्थात जो जिसके सदृश हो। भरतमुनि ने यही बात अपने नाट्य के संदर्भ में कही। जैसे-

विन्यासं भूमिकानां तु संप्रवक्ष्यामि नाटके।

यादृश्यो यस्य कर्तव्या विन्यासे भूमिकास्ततः ॥

अर्थात जैसी भूमिका जिसके लिए होनी चाहिए तथा जैसी चेष्टा जिसके लिए होनी चाहिए वैसी ही हो। इससे औचित्य का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। देखा जाए तो भरतमुनि ही इस सिद्धांत के आद्य उद्भावक कहे जा सकते हैं। उन्होंने औचित्य का स्वरूप निध रिण करने के साथ ही उसके निर्धारण के लिए लोक तथा अध्यात्म प्रमाण की बात भी कही। औचित्य का विचार क्षेत्र व्यापक है। रीति एवं अलंकार संप्रदाय वाले औचित्य का चिंतन 'चारुता' या 'सौंदर्य' के संपादन की दृष्टि से देखते हैं- 'न नितान्तादिमात्रेण जायते चारुता गिराम्। वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलंकृतिः।

काव्यालंकार-भामह। काव्यं ग्राह्यमलंकारात्।

सौंदर्यमलंकारः काव्यालंकार सूत्र।'

यह अवश्य था कि यह 'सौंदर्य' और 'चारुता' बाहरी अधिक थी भीतरी कम। कहीं न्याय, कहीं युक्तता आदि अनेक रूपों में औचित्य का विस्तार अनंत था और है। मनुष्य सामाजिक प्राणी है। प्रत्येक समाज के नियम होते हैं, साथ ही मानव मूल्य भी। मानव मूल्य ही हमें मनुष्यता की कसौटी पर कसते हैं। यदि मानव देह धारण कर हमारे आचरण पशुवत होंगे, हमारे भीतर करुणा, परोपकार, प्रेम, सत्य, त्याग, अहिंसा के विरुद्ध हिंसा, स्वार्थ, लालच, छल-कपट होगा तो यह मानव मूल्यों की कसौटी के लिए गलत, अनुचित, व अयोग्य होगा। इसी कारण काव्य में रस, अलंकार, ध्वनि, वक्रोक्ति, रीति, लय, कल्पना, कोमलता, आनंद और लोकमंगल के भाव और लक्षण न हों तो वह काव्य की कसौटी पर खरा नहीं उतरेगा, जो अनुचित होगा। इस तरह देखा जाए तो सारी सृष्टि, मानव और साहित्य औचित्य की सीमा में हैं। इस तरह औचित्य सिद्धांत का स्वरूप न केवल व्यापक है बल्कि इसका चिंतन और इसके प्रति सतर्कता सदैव प्रासंगिक बनी रहेगी। क्योंकि इसके विना मनुष्य मनुष्य नहीं रहेगा, काव्य, काव्य नहीं रहेगा। न अलंकार, अलंकार कहा जाएगा, न गुण गुणों की तरह लगेंगे। कहा भी गया है-

कंठे मेखलया, नितम्बफलके तारेण हारेण वा,
पाणौ नृपुरबंधनेन चरणे केयूरपाशेन वा।
शौर्येणाप्रणते रिपौ करुणया नायान्ति के हास्यताम्।
औचित्येन विना रुचि प्रतनुते नालंकृतिर्नो गुणाः ॥

अर्थात कंठ में मेखला, कटि में चंचलहार, हाथों में नृपुर और पैरों में केयूर पहनने से तथा शौर्य में उदंड शत्रु पर करुणा करने से कौन व्यक्ति उपहास्यापद नहीं होता। औचित्य के विना न अलंकार ही रुचिता पा सकते हैं न गुण ही। वस्तुतः क्षेमेंद्र कश्मीरी थे और साहित्य के क्षेत्र में इनके गुरु अभिनव गुप्त थे। अभिनव गुप्त का कहना है कि रसध्वनि निरपेक्ष औचित्य विचार का कोई अर्थ नहीं है। औचित्य एक सापेक्ष वस्तु तत्व है। अतः देश, काल, व्यक्ति, वस्तु तथा लक्ष्य

की दृष्टि से ही परिवर्तनशील औचित्य का विचार किया जा सकता है। विभिन्न आचार्यों ने 'उचित' का स्वरूप निर्धारित करते हुए कहा कि 'जहां जो जंच जाए', वही वहां उचित है। 'औचित्य' का महत्व है किंतु यह साध्य नहीं, साधन है। 'रस' ही साध्य है व काव्य की आत्मा है और औचित्य इस आत्मा की भी आत्मा है।

7.4 औचित्य की प्रमुख स्थापनाएं

औचित्य सिद्धांत के प्रवर्तक आचार्य क्षेमेंद्र कहते हैं कि औचित्य ही काव्य की आत्मा है। क्योंकि काव्य की आत्मा रस है तो रस में रसत्व औचित्य के द्वारा ही उत्पन्न होता है। औचित्य काव्य में चमत्कार उत्पन्न करता है-

औचित्यस्य चमत्कारकारिणश्चारुचर्वणे ।
रसजीवितभूतस्य विचारं कुरुतेऽधुना ।।

वे रस के महत्व को अस्वीकार नहीं करते

अलंकारास्त्वलंकारा गुणा एव गुणाः सदा।
औचित्यं रस-सिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम् ।। औ.वि.च. श्लोक-5

अलंकार, अलंकार ही है और गुण, गुण ही। लेकिन रससिद्ध शरीर में जिस प्रकार जीवन स्थिर होता है उसी प्रकार रससिद्ध काव्य में स्थिर जीवित औचित्य ही है। अर्थात औचित्य के बिना रस प्राणहीन है। सभी आचार्य औचित्य की महत्ता को स्वीकार करते हैं तथा अलग-अलग शब्दों में औचित्य की पक्षधरता करते हैं। भामह ने औचित्य के लिए 'न्याय' और 'युक्तता' जैसे पर्यायों का प्रयोग किया-

युक्तं लोकस्वभावेन रसैश्च सकलैः पृथक्।
अलंकार वदग्राम्यमर्थ्य न्याय्यभनाकुलम् ॥

यहां न्याय्य शब्द तर्कसंगत के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है जो तर्कसंगत है वह उचित भी होगा। इस दृष्टि से यहां यह औचित्य का पर्याय माना जा सकता है। भामह दोषों की चर्चा भी करते हैं फिर उन दोषों को अदोष बनाने का मार्ग प्रशस्त करते हैं। वे कहते हैं-उचित संनिवेश से दोष भी अदोष बन जाते हैं, जैसे-काजल एकदम

काला है लेकिन आंखों का साहचर्य पाकर आकर्षक हो जाता है। जैसे सुंदर पुष्पों की माला के बीच-वीच गुंथा हुआ नील पलाश भी रुचिर जान पड़ता है-

सन्निवेशविशेषान्तु दुरुक्तमपि शोभते। नीलं पलाशमाबद्धमन्तराले स्रजामिव ॥

भामह के पश्चात दंडी ने दोषों के माध्यम से अनौचित्य और औचित्य पर प्रकाश डाला है। दोषों का निवारण होते ही सौंदर्य का निष्पादन होता है। अतः यह माना जाए कि दंडी ने निषेधमुखी पक्ष से औचित्य पर विचार किया है-

'आसीत् काचिदवस्था या साऽभिषंगस्य चेतसः। यस्यां भवेदभिमता विरुद्धर्थाऽपि भारती। अर्थात चित्त की एक ऐसी भी स्थिति होती है कि जिससे विरुद्धार्थ वाणी भी मन के अनुकूल सुंदर और सुखद लगने लगती है। यहां अनौचित्य (दोष) के निवारण में ग्राहक की मनःस्थिति को भी कारण बताया गया है। दंडी कहते हैं- कवि काव्य में इन दोषों का औचित्य देखते हुए जान बूझ कर इनका प्रयोग करता है तो वहां ये दोष गुण बन जाते हैं।-

विरोधः सकलोऽप्येप कदाचित्कविकौशलात्।

उत्क्रम्य दोषगणानां गुणवीथीं विगाहते ।।

दंडी काव्यादर्श में ही औचित्य को दर्शाने वाली श्रेष्ठ बात कहते हैं-

व्युत्पन्नबुद्धिरमना विधिदर्शितेन, मार्गेण दोषगुणयोर्वशवर्तनीभिः ।

वाग्भिः कृताभिसरणो मदिरेक्षणाभिः, धन्यो युवेव रमते लभते च कीर्तिम्॥

अर्थात व्युत्पन्न लोग यदि उपर्युक्त विधिदर्शित मार्ग से दोष गुण के कूलों में प्रवाहित होने वाली वाग्सरिता की धारा से चलें, तो वे लोग मदिरेक्षणा के साथ रमण करने वाले धन्य युवा की तरह भाव में रमण भी करें और यश भी प्राप्त करें। यहां विधिदर्शित मार्ग को समुचित मार्ग कहा जा सकता है उसी भाव से जिस भाव से भरत ने 'अनुरूपता' और भामह ने 'न्याय्य' कहा।

आनंदवर्धन ने भी अपने तरीके से 'औचित्य' की प्रतिष्ठा बढ़ाई है। वे कहते हैं-

श्रुतिदुष्टादयो दोषा अनित्या ये न सूचिताः।

ध्वन्यात्मन्येव श्रृंगारे ते हेया इत्युदीरिताः॥

ध्वन्यालो ।। 12/5

अर्थात श्रुतिदुष्ट आदि दोष शृंगार रस में हेय होने के कारण दोष हैं परंतु वीर तथा रौद्र रस में अनुकूल होने के कारण वर्जनीय न होकर वांछनीय हो जाते हैं।

काव्य में औचित्य का महत्व बताते हुए यशोवर्मा लिखते हैं-

औचित्यं वचसां प्रकृत्यनुगतं, सर्वत्रपात्रोचिता,

पुष्टिः स्वावसरे रसस्य च, कथामार्गे न चातिक्रमः ॥

शुद्धिः प्रस्तुतसंविधानिकविधौ, प्रौढिश्च शब्दार्थयोः,

विद्वद्भिः परिभाव्यतामविहितैः वहितैः एतावदेवास्तु नः।

अर्थात वाणी का औचित्य 'प्रकृति' के स्वभाव को ध्यान में रखने पर आता है। प्रकृति उत्तम, मध्यम, अधम तीन प्रकार की होती है। स्वभाव के अनुरूप ही वचनविन्यास प्रशंसा के योग्य होता है। रस की विभावादि सामग्री द्वारा पुष्टि, पात्र को ध्यान में रखकर होनी चाहिए। भीरू में उत्साह का, वीर में भय का प्रदर्शन सर्वथा अनुचित है। पात्र के अतिरिक्त अवसर का ध्यान न रखने पर भी औचित्य का अतिक्रमण हो जाता है। वेणीसंहार में दुर्योधन तब अपनी स्त्री के साथ तब हास-विलास कर रहा है, जब संग्राम अपनी चरम सीमा पर है यह अवसर की दृष्टि से अनुचित है।

भट्टलोल्लट रसवादी आचार्य हैं। वे रसौचित्य के संबंध में लिखते हैं-

मज्जनपुष्पावचयसंध्याचंद्रोदयादि वाक्यमिह।..

सरसमपि नातिबहुलं प्रकृतरसान्वितं रचयेत् ॥

अर्थात काव्य में या महाकाव्य में वर्णन महत्वपूर्ण होता है, किंतु वर्णन करने वाले को रस की सीमा का ध्यान रखते हुए रस निष्पादन के लिए वर्णन करना चाहिए। वर्णन में रस का अतिरेकी वर्णन न हो जाए। तथा वस्तु और प्रकृति के अनुकूल रस का वर्णन होना चाहिए जैसे-मज्जन, पुष्प संचयन, संध्या, प्रातः आदि का वर्णन प्रकृति रस को ध्यान में रखकर करना चाहिए वरना अनौचित्य

उत्पन्न हो जाता है जो रसभंग का सबसे बड़ा कारण है। इस संबंध में वेद वाक्य है-

अनौचित्याद् ऋते नान्यद्रसभंगस्य कारणम्।

औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा ।।

अनेक आचार्यों ने औचित्य को स्पष्ट न कह कर उसके पर्याय शब्दों का या दोषों के माध्यम से उसे स्पष्ट करने का प्रयास किया।

रुद्रट सीधे 'अनौचित्य' की बात करते हैं-

स्वाःअनौचित्य प्रवृत्तानां कामक्रोधादिकारणात्।

भावानां च रसानां च बंध ऊर्जस्वि कथ्यते ॥

काव्यालंकार सार संग्रह अर्थात काम एवं क्रोध आदि के कारण अनुचित ढंग से प्रवृत्त भाव एवं रस के बंध को ऊर्जस्वि कहते हैं। उद्भट के कथन का तात्पर्य है कि जब रस एवं भाव का उपनिबंध उचित रीति से होता है तो रस एवं भाव की स्थिति होती है जिसको टीकाकार प्रतीहारेन्दुराज ने शास्त्र सम्मत मानते हुए प्रेयोलंकार तथा रसवदलंकार की स्थिति मानी है। लेकिन जहां भाव एवं रस का उपनिबंध अनुचित ढंग से यानी शास्त्र विरोधी होता है वहां ऊर्जस्वित् काव्य होता है। यहां उचित और अनुचित के माध्यम से औचित्य के महतव पर प्रकाश डाला गया है। अंत में कुंतक द्वारा 'साहित्य' शब्द की औचित्य गर्भ-व्याख्या पर दृष्टि डालें-

वृत्यौचित्यमनोहारि रसानां परिपोषणम्।

स्पर्द्धया विद्यते यत्र यथस्वमुभयोरपि।

स काव्यवस्थितिस्तद्विदानन्दस्पंदसुन्दरा।

पदादिवाक्परिस्पंदसारःसाहित्यमुच्यते ।।

अर्थात वृत्तियों के औचित्यवश जहां रसों का मनोहारी परिपोषण हो. इस कार्य के लिए जहां शब्द और अर्थ बराबरी से बढ़-चढ़ कर योगदान करें वहां साहित्य, साहित्य होता है। शब्दार्थ की विलक्षण स्थिति जो सहृदयों के आनंद देने वाली

प्रक्रिया से सुंदर और सरस हो साहित्य कही जाती है। परिस्पंद यानी व्यापार विशेष के ही कारण पद, वाक्य तथा प्रमाण से साहित्य मनोहर, रसमय तथा सार्थक हो जाता है। अन्य सिद्धांतों के अनुयायियों ने भी औचित्य की स्थापना अपने-अपने तरीके से की। अग्निपुराण में भी इसके बीज मिलते हैं। औचित्य कहां-कहां, किस-किस कारण से अनौचित्य में बदल सकता है इस बात को दृष्टिगत रखते हुए इस सर्वमान्य एवं महत्वपूर्ण 'औचित्य' के भेद किए।

7.5 औचित्य के भेद

क्षेमेंद्र ने औचित्य के 27 भेदों की चर्चा की है- (1) पद (2) वाक्य (3) प्रबंधार्थ (4) गुण (5) अलंकार (6) रस (7) क्रिया (8) कारक (9) लिंग (10) वचन (11) विशेषण (12) उपसर्ग (13) निपात (14) काल (15) देश (16) कुल (17) व्रत (18) तत्व (19) सत्व (20) अभिप्राय (21) स्वभाव (22) सारसंग्रह (23) प्रतिभा (24) अवस्था (25) विचार (26) नाम (27) आशीर्वाद।

इन 27 स्थानों पर औचित्य की स्थिति है जहां असावधानता से अनौचित्य उत्पन्न हो सकता है जिससे काव्य में रसभंग की स्थिति उत्पन्न हो जाती है और काव्य अपनी उत्तमता खो सकता है। कुछ प्रकारों को उदाहरण सहित देखिए-

(1) पदौचित्य-जब सारी कोमलता एवं स्निग्धता सिमट कर एक ही पद में आ जाती है तब पदौचित्य होता है क्योंकि तब यह पद कविता कामिनी की शोभा का मुख्य बिंदु बन जाता है और वैसे ही शोभा देता है जैसे चंद्रमुखी के माथे पर लगी चंदन कस्तूरी की बिंदी।

मग्नानि द्विषतां कुलानि समरे त्वत्खड्गधाराकुले, नाथाऽस्मिन्निति वन्दिवाचि बहुशो देव श्रुतायां पुरा। मुग्धा गुर्जरभूमिपालमहिषी प्रत्याशया पाथसः, कान्तारे चकिता विमुञ्यति मुहुः पत्युः कृपाणे दृशौ ।।

'हे देव! चारणों से मैं कब की सुनती आ रही हूं कि तुम्हारे इस खड्ग की धारा में न जाने शत्रु के कितने कुल डूब मरे।' यह कहती हुई मुग्धा गुर्जरराज की पत्नी प्यास मिटाने की आशा से जंगल में चकित होकर उसी कृपाण धारा की ओर देखती रही-देखती रही। इस पूरे श्लोक का सौंदर्य 'मुग्धा' (भोली) पद में समाया हुआ है।

(2) वाक्यौचित्य-एक पद के स्थान पर यदि सारे के सारे पद ही वाक्य की संगति में एक-दूसरे से बढ़कर सौंदर्य उत्पादन की होड़ में लग जाएं, तब एकाधिक पदों की यह विशेषता होने के कारण वाक्यौचित्य होता है। क्षेमेंद्र का एक पद देखें-

देवो दयावान् विजयो जितात्मा यमौ मनः संयममाननीयौ। इति ब्रुवाणः स्वभुजं प्रमाष्टि यः कीचकाऽकालिककालदण्डम्।।

धीरः स किर्मीरजटासुरारिः कुबेरशौर्यप्रशमोपदेष्टा।

दृष्टो हिडिम्बादयितः कुरूणां पर्यन्तरेखागणनाकृतान्तः॥

अर्थात युधिष्ठिर दयामय है, अर्जुन वशी है, नकुल और सहदेव के संयम का तो कहना ही क्या? ऐसा कहते हुए जिस भीम ने कीचक के लिए अकाल काल दंड की सी अपनी भुजाओं पर हाथ फेरा है वहीं जटासुर विनाशक, कुबेर के शौर्य को शांति का उपदेश देने वाला, हिडिंबापति तथा कौरवों की अंतिम रेखा का काल भीम अब दिखाई पड़ा। यहां प्रत्येक पद मार्मिकता के साथ पात्र के धीर और उदात्त स्वभाव तथा रौद्र रस की अभिव्यक्ति में एक दूसरे के साथ सम्बद्ध हैं।

(3) प्रबंधौचित्य-जहां समस्त प्रबंध में कुछ ऐसा अर्थ समाहित हो कि पूरा प्रबंध लहलहा उठे। सरस और सार्थक लगे वहां प्रबंधौचित्य होता है। कालिदास के मेघदूत का एक उदाहरण देखें-

जातं वंशे भुवनविदिते पुष्करावर्तकानां,

जानामि त्वां प्रकृतिपुरुषं कामरूपं मघोनः।

तेनार्थित्वं त्वयि विधिवशाद् दूरबंधुर्गतोऽहम्,

याच्ञा मोघा वरमधिगुणे नाऽधमे लब्धकामा।।

यक्ष की उक्ति है-"मेघ! तुम पुष्करों तथा आवर्तकों के विश्व विश्रुत कुल में उत्पन्न हुए हो, तुम इंद्र के अपने खास व्यक्ति हो, चाहे जैसा रूप धारण कर सकते हो। तुम्हारी इन्हीं विशेषताओं के कारण दैववश भाई बंधुओं से दूर हुआ मैं तुम्हारा याचक बना हुआ हूं। बात यह भी है कि अभिजात के समक्ष याचना करें और वह विफल भी हो जाए तो बात उतनी नहीं खटकती जितनी नीचों का याचक बनना, भले ही उनसे अपना मनोरथ पूरा हो जाए।" यहां यक्ष के द्वारा अपनी भावभीनी प्रशंसा सुनकर मेघ का आभिजात्य जाग उठता है, वह अपनी प्रशंसा से प्रसन्न होकर यक्ष की कथा सुनने के लिए रुक जाता है। यह इस प्रबंध में समाहित गार्मिक कथा का ही चमत्कार है। कवि की कल्पना ने प्रबंध को जीवंत बना दिया।

(4) रसौचित्य क्षेमेंद्र कारिका 16 में लिखते हैं औचित्य के कारण सुंदर और आकर्षक रस विधान सबके हृदय में उसी तरह छा जाता है जैसे वसंत अशोक को खिला देता है। कालिदास का एक उदाहरण देखें-

बालेंदुवस्त्राण्यविकासभावात् बभुः पलाशान्यतिलोहितान्।

िसद्यो वसन्तेन समागतानां नखक्षतानीव वनस्थलानि॥

अर्थात ढाक के लाल-लाल फूल अभी अविकसित हैं इसलिए दूज के चांद की तरह टेढ़े हैं। लगता है जैसे प्रिय वसंत के साथ समागम होने के कारण वनस्थली नायिकाओं के ये नखक्षत हैं। इस प्रसंग में आगे पार्वती और परमेश्वर के अभिलाप- शृंगार का वर्णन करने के लिए कालिदास ने इस प्रकृति का आधार लेकर पृष्ठभूमि तैयार की है जो रसौचित्य का श्रेष्ठ उदाहरण है।

(5) अवस्थौचित्य-अवस्थागत औचित्य का निर्वाह करने से काव्य-संसार में पूज्य हो जाता है, जैसे विचारों के निकष पर चढ़ने वाले विद्वानों के कर्तव्य। क्षेमेंद्र लिखते हैं-

मुक्तः कंदुकविभ्रमस्तरलता त्यक्त्वैवालोचिता,

मौग्ध्यं निर्धतमाश्रिता गजगतिर्भूलास्यमभ्यस्यते।

यन्नर्मोर्मिषु निर्मितं मृगदृशा वैदग्ध्यदिव्यं वचः,
तद् विद्यः सुभगाभिमानलटमाभावे निबद्धो भरः।

अर्थात गेंद का खिलवाड़ अब खत्म हो गया, शैशवोचित बात व्यवहार भी न रहा, भोलापन पास नहीं फटकता, चाल हाथी जैसी हो गई है, भौंहों को नचाया जा रहा है और श्रृंगार क्रीड़ा में वह मृगनयनी जो बात बोलती है उनका ताप भीतर के गौरव को बढ़ा रहा है जिसमें वह सहयोगी है।

औचित्य संबंधी स्थापनाएं निरंतर विकास पाती रही हैं। पाश्चात्य विचारकों ने भी औचित्य पर चिंतन किया है। भारतीय विचारकों में डॉ. राघवन्, पं. महादेव शास्त्री, आचार्य नंद दुलारे वाजपेयी, नगेंद्र, आचार्य रामचंद्र शुक्ल सभी ने अपने-अपने विचार व्यक्त किए हैं। निष्कर्ष यही निकलता है कि औचित्य का निर्धारण लोक से होता है। काव्य में शास्त्र सम्मत और लोक सम्मत भी। जहां विश्वनाथ प्रसाद मिश्र जी 'सामाजिकता' को औचित्य और 'असामाजिकता' को अनौचित्य कहते हैं वहीं आचार्य शुक्ल भी नीतिशास्त्र के आध ार पर इसका निर्धारण करते हैं। हजारीप्रसाद द्विवेदी कहते हैं-साहित्य की चरितार्थता 'महाएकता' की अनुभूति करा देने में है, यदि ऐसा हो तो 'औचित्य' सिद्ध है। 'महाएकता' यानी 'विश्वबंधुत्व'। कुल मिलाकर शब्द जो भी हों अर्थ यही है कि जो लोक सम्मत हो, लोक हितकारी हो, मानव मूल्य और साहित्यिक मूल्यों की कसौटी पर खरा उत्तरे, सकारात्मक ऊर्जा का अनुसंधान करे वह औचित्य है।

निष्कर्ष-काव्य आत्मा का भोजन है। निर्दोष काव्य से आत्मा संतुष्ट होती है। तृप्त मनुष्य चारों पुरुषार्थों को प्राप्त करता है। आत्मा से नीचे उतरकर हम उदर की बात करें तो उस पर भी यही बात लागू होती है। सुस्वादिष्ट भोजन के लिए दाल, शाक आदि में नमक एवं मसालों का सही अनुपात होना आवश्यक है। यहां भी औचित्य की ही महत्वपूर्ण भूमिका है। वरना सारे मसालों की उपस्थिति निरर्थक हो जाती है। इसी तरह छोटे चेहरे पर पकौड़े जैसी बड़ी नामक अनुचित लगती है। जैसे-यह कहना कि 'वह गरीब दुखियारी स्त्री अपने रेशमी आंचल से

आंसू पोंछ रही थी', यहां गरीब के साथ रेशमी आंचल का प्रयोग अनुचित एवं अविश्वसनीय है। अतः जो जहां ठीक लगे, उचित हो, योग्य हो, विश्वसनीय हो वहां औचित्य है। औचित्य काव्य का बहिरंग न होकर अत्यंत और नितांत गूढ़, अंतरंग एवं सूक्ष्म तत्व है। इसीलिए विश्व के साहित्येतिहास में भारतीय साहित्य की यह महिमाशालिनी देन 'औचित्य सिद्धांत' के रूप में स्थापित है। कवि जो रचना करता है और सहृदय जो आस्वादन करता है उसमें औचित्य का पक्ष अंतर्व्याप्त रहता है। यह साध्य नहीं है किंतु महत्वपूर्ण साधन है। रस न हो तो औचित्य किस पर आधारित होगा? ध्वनि और अलंकार, गुण और रीति, लोक व्यापार, व्यवहार, आचार सभी इसका आधार है। लेकिन रस इसका मूलाधार है क्योंकि रस काव्य की आत्मा है और औचित्य अपनी विभिन्न धाराओं के साथ काव्य की आत्मा की आत्मा बनता है। संस्कृत काव्यशास्त्र की यह देन भारतीय काव्यशास्त्र की मूल्यवान धरोहर है।

स्वप्रगति परीक्षण

1. क्षेमेंद्र ने औचित्य के _____ भेदों की चर्चा की है।
2. 'पदौचित्य' का उदाहरण _____ में समाहित सौंदर्य को दिखाता है।
3. 'वाक्यौचित्य' का तात्पर्य _____ से होता है।
4. 'रसौचित्य' का उदाहरण _____ शृंगार रस का सुंदर चित्रण है।

7.6 सार - संक्षेप

इस इकाई में काव्यशास्त्र में औचित्य के सिद्धांत पर चर्चा की गई है। औचित्य का मतलब है काव्य के सभी तत्वों का एक-दूसरे के साथ सामंजस्यपूर्ण और उपयुक्त रूप से प्रस्तुत किया जाना। यह काव्य की प्रभावशीलता और उसे समझने की क्षमता को बढ़ाता है। काव्यशास्त्र में औचित्य को मुख्य रूप से रचनाकार की कल्पना, विषय की चयन, शैली और भाषा के संयोजन में देखा

जाता है। रचनाकार को अपने काव्य में संतुलन बनाए रखने की आवश्यकता होती है, ताकि काव्य दर्शकों/पाठकों पर गहरा प्रभाव डाल सके। आचार्य भामह, आचार्य दंडी और आचार्य जयदेव जैसे काव्यशास्त्रज्ञों ने इस सिद्धांत पर विस्तार से विचार किया है। औचित्य के बिना काव्य का आनंद और उद्देश्य अधूरा रहता है, इसलिए यह काव्यशास्त्र का एक अनिवार्य और आधारभूत तत्व है।

7.7 मुख्य शब्द

- औचित्य - काव्य में तत्वों का उपयुक्त संयोजन।
- काव्यशास्त्र - कविता और साहित्य का अध्ययन।
- रचनाकार - काव्य या साहित्य रचने वाला व्यक्ति।
- कल्पना - विचार या चित्रों का मानसिक रूप से निर्माण।
- शैली - काव्य लिखने का तरीका।
- भामह - काव्यशास्त्रज्ञ, जिन्होंने काव्य गुणों पर विचार किया।
- दंडी - संस्कृत काव्यशास्त्रज्ञ, जिन्होंने रस और अलंकारों पर कार्य किया।
- जयदेव - काव्यशास्त्रज्ञ, जिनका कार्य काव्य के सिद्धांतों पर था।
- संतुलन - काव्य के तत्वों का सामंजस्यपूर्ण समावेश।
- प्रभावशीलता - काव्य का पाठक पर गहरा प्रभाव डालने की क्षमता

7.8 स्वप्रगति परीक्षण प्रश्नों के उत्तर

प्रगति की जाँच

उत्तर: 1. 27

उत्तर: 2. 'मुग्धा' (भोली) पद

उत्तर: 3. काव्य में प्रत्येक पद का आपसी सौंदर्य

उत्तर: 4. कालिदास का श्लोक

7.9 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. "हिन्दी काव्यशास्त्र: सिद्धांत और परिप्रेक्ष्य" - राष्ट्रीय प्रकाशन, 2007
2. "साहित्यिक सिद्धांत: दृष्टिकोण और विमर्श" - साहित्य अकादमी, 2012
3. "औचित्य सिद्धांत: काव्यशास्त्र के परिप्रेक्ष्य में" - विश्वनाथ प्रकाशन, 2015
4. "हिन्दी काव्यशास्त्र: समकालीन दृष्टिकोण" - अनामिका प्रकाशन, 2018
5. "काव्यशास्त्र की आधुनिक धारा" - भारतीय साहित्य परिषद, 2020
6. "काव्यशास्त्र में औचित्य और रचनात्मकता" - गयात्री प्रकाशन, 2022

7.10 अभ्यास प्रश्न

1. औचित्य सिद्धांत क्या है? इसके काव्यशास्त्र में क्या महत्व है?
2. आचार्य भामह और आचार्य दंडी के दृष्टिकोण से औचित्य सिद्धांत पर चर्चा करें।
3. काव्य रचनाओं में औचित्य का पालन क्यों आवश्यक है? उदाहरण सहित समझाएँ।
4. औचित्य सिद्धांत के आधार पर कविता में शब्दों और भावनाओं का संतुलन कैसे बनाना चाहिए?
5. औचित्य सिद्धांत का अनुप्रयोग किसी एक प्रसिद्ध काव्य रचना में कैसे किया गया है, उदाहरण प्रस्तुत करें।

इकाई 8

वक्रोक्ति सिद्धांत

8.1 प्रस्तावना

8.2 उद्देश्य

8.3 वक्रोक्ति का स्वरुप

8.4 वक्रोक्ति के भेद

8.5 वक्रोक्ति और अभिव्यंजना

8.6 सार - संक्षेप

8.7 मुख्य शब्द

8.8 स्वप्रगति परीक्षण प्रश्नों के उत्तर

8.9 संदर्भ ग्रंथ सूची

8.10 अभ्यास प्रश्न

8.1 प्रस्तावना

वक्रोक्ति एक महत्वपूर्ण काव्य सिद्धांत है, जो साहित्यिक कृतियों में शब्दों और विचारों को अप्रत्यक्ष और चमत्कारी रूप में प्रस्तुत करने का एक प्रभावी तरीका है। यह सिद्धांत सीधे-साधे और सामान्य कथन से हटकर कुछ ऐसा अनूठा और रहस्यमय प्रस्तुत करता है, जो पाठक या श्रोता के मन में गहरा प्रभाव छोड़ता है। वक्रोक्ति से कविता में नयापन, गहराई और आकर्षण आता है, जो उसे अन्य रचनाओं से अलग बनाता है। यह काव्य की उस क्षमता को उजागर करता है, जिसमें एक ही वाक्य या शब्द से अनेक अर्थ निकल सकते हैं, जो सामान्य रूप से समझे नहीं जाते।

आचार्य कुंतक ने वक्रोक्ति को काव्य का जीवन बताया था, क्योंकि यह कविता को जीवंत और प्रभावशाली बनाता है। उनके अनुसार, वक्रोक्ति काव्य का वह

तत्व है, जो इसे साधारण से विशेष बनाता है। इसके सिद्धांत का प्रचार करते हुए विभिन्न आचार्यों ने वक्रोक्ति के विभिन्न पहलुओं को उजागर किया। भामह ने इसे शब्द और अर्थ दोनों की वक्रता के रूप में देखा, जबकि दंडी ने इसे एक अलंकार के रूप में स्वीकार किया और वामन ने इसे लक्षणा शक्ति का रूप माना। वक्रोक्ति की प्रक्रिया में शब्दों और उनके अर्थों के बीच एक वक्रता उत्पन्न की जाती है, जो पाठक को सोचने के लिए प्रेरित करती है। इसके विभिन्न प्रकार जैसे वर्ण विन्यास वक्रता, पद पूर्वार्द्ध वक्रता, और प्रबंध वक्रता, कविता में चमत्कारी और अप्रत्याशित प्रभाव उत्पन्न करते हैं। यह सिद्धांत न केवल कविता के सौंदर्य को बढ़ाता है, बल्कि पाठक को नई दृष्टि और विचारों के प्रति संवेदनशील भी बनाता है।

8.2 उद्देश्य

प्रिय शिक्षार्थियों, इस इकाई के अध्ययन के बाद आप निम्नलिखित पहलुओं को समझ सकेंगे:

- वक्रोक्ति के काव्यात्मक तत्व और इसके महत्व, जिसे आचार्य कुंतक ने काव्य का जीवन कहा है।
- वक्रोक्ति द्वारा शब्दों और विचारों को चमत्कारी और प्रभावी रूप में प्रस्तुत करने की विधि।
- भामह, दंडी और वामन जैसे आचार्यों द्वारा वक्रोक्ति के स्वरूप और प्रकारों पर किए गए विश्लेषण।
- वक्रोक्ति के प्रकार, जैसे वर्ण विन्यास वक्रता, पद पूर्वार्द्ध वक्रता, और प्रबंध वक्रता।
- वक्रोक्ति के प्रकारों के माध्यम से कविता में नयापन और चमत्कार उत्पन्न करने की प्रक्रिया।

8.3 वक्रोक्ति का स्वरुप

वक्रोक्ति अर्थात टेढ़ा कथन। सामान्य कथन या सीधी बात हृदय को उतनी प्रभावित नहीं करती जितनी टेढ़ी बात। जब यह वक्रोक्ति काव्य में प्रयुक्त होती है तो काव्य में चमत्कार उत्पन्न कर देती है। सहृदय सामाजिक का हृदय आंदोलित हो उठता है। कथ्य अपने लक्ष्य तक पहुंच जाता है यानी तीर निशाने पर लगता है इसलिए अलंकार सिद्धांत के कुछ अनुयायी वक्रोक्ति को अलंकार के अतंर्गत परिगणित करते हैं तो ध्वनि सिद्धांत के अनुयायी इसे व्यंग्य-कथन या व्यंजना मानते हुए ध्वनि के अंतर्गत मानते हैं। वक्रोक्ति रस निष्पत्ति में सहायक हो सकती है लेकिन स्वयं (आत्मा) रस तुल्य नहीं हो सकती। यह साधन है साध्य नहीं है।

वक्रोक्ति सिद्धांत की स्थापना आचार्य कुंतक ने की। 'वक्रोक्तिजीवितम्' नामक अपने महत्वपूर्ण ग्रंथ के द्वारा उन्होंने वक्रोक्ति सिद्धांत को प्रतिष्ठित किया। उन्होंने कहा- 'वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्' अर्थात वक्रोक्ति काव्य का जीवन है। काव्य की आत्मा है। जहां अधिकांश आचार्य वक्रोक्ति के अलंकारत्व या उक्ति वैचित्र्य तक ही सीमित है। कुंतक कहते

हैं-"वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गी भणितिरुच्यते।" (श्लोक 10) अर्थात कवि कर्म की कुशलता के कारण सबसे भिन्न विचित्र वर्णन शैली वक्रोक्ति है। लेकिन कुंतक से बहुत पहले वक्रोक्ति की कल्पना की जा चुकी थी। 'कादंबरी' में बाणभट्ट ने इसका प्रयोग अनेक स्थलों पर किया है। वे 'हर्षचरित में भी वक्रोक्ति' का उल्लेख करते हैं-

'वक्रोक्तिनिपुणेन आख्यायिकाख्यानपरिचयचतुरेण' अर्थात वक्रोक्ति चतुर जनों का आभूषण है। यह कहकर वे वक्रोक्ति के महत्व को बढ़ाते हैं। बाणभट्ट वक्रोक्ति

के प्रति अपनी आस्था प्रकट करते हुए उसके स्वरूप को भी स्पष्ट करने का प्रयास करते हैं- 'नवोऽर्थो जातिरग्राम्या,

श्लेषोऽक्लिष्टः स्फुटो रसः।

विकटाक्षरबंधश्च कृत्सनमेकत्र दुर्लभम्।' (हर्षचरितम्) यहां 'विकटाक्षर' का प्रयोग वक्रोक्ति के संदर्भ में आया है। इस कथन से शब्द सौंदर्य का पता चलता है। भामह ने वक्रोक्ति का व्यवस्थित परिचय दिया है। वे वक्रोक्ति के बिना काव्य में अलंकारों की कल्पना भी नहीं कर सकते। अलंकार के लिए वे वक्रोक्ति को आवश्यक मानते हैं-

सैषा सर्वेव वक्रोक्तिरन्यार्थों विभाव्यते।

यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना।।

भामह के अनुसार शब्द और अर्थ दोनों की वक्रता का वक्रोक्ति में अंतर्भाव हो जाता है। जैसे- 'वक्राभिधेया शब्दोक्तिरिष्टवाचामलंकृतिः।' एक अन्य स्थान पर वे लिखते हैं- 'वाचाम् वक्रार्थशब्दोक्तिरलंकाराय कल्पते।' अर्थात वक्रोक्ति का अभिप्राय है-शब्द और अर्थ की वक्रता। इससे स्पष्ट हो जाता है कि भामह शब्द और अर्थ की वक्रता के समन्वित रूप को ही वक्रोक्ति मानते हैं। भामह पहले अतिश्योक्ति अलंकार का स्वरूप बताते हैं तत्पश्चात यह भी रेखांकित करते हैं कि वक्रोक्ति एवं अतिश्योक्ति के लक्षणों में कोई भेद नहीं है, दोनों एक ही हैं। भामह के अनुसार अतिश्योक्ति अलंकार में गुणों का आधिक्य होता है। आधिक्य या अतिशयता का अर्थ है- 'लोकातिक्रांत गोचरता' अर्थात लोक सामान्य से विचित्र।निमित्ततो वचो यद्धि लोकातिक्रांतगोचरम् मन्येऽतिश्योक्ति तामलंकारतया यथा इत्येवमादिरुदिता गुणातिशययोगतः सर्वेष्वतिशयोक्तिस्तु तर्कयेत् तां यथागमम्। सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिः। (काव्यालंकार)

काव्यप्रकाश बालबोधिनी टीका में यह स्पष्ट किया गया है कि भामह के अनुसार वक्रोक्ति एवं अतिश्योक्ति पर्यायवाची हैं। जैसे-

'एवं चातिशयोक्तिरिति वक्रोक्तिरिति पर्याय इति बोध्यम्।'

भामह यह भी कहते हैं कि अतिश्योक्ति के वैचित्र्य से अर्थ प्रकाशित हो जाता है-'अनयार्थौं विभाव्यते।'

को दो भामह के पश्चात दंडी ने उनके मत को पुष्ट करते हुए समस्त साहित्य वर्गों में विभाजित कर दिया (1) स्वभावोक्ति (2) वक्रोक्ति। जहां पदार्थों का सहज अथवा साक्षात वर्णन हो वहां स्वभावोक्ति होती है किंतु जहां पदार्थों का साक्षात एवं सहज वर्णन न होकर वक्र अर्थात चमत्कारपूर्ण वर्णन होता है, वहां वक्रोक्ति होती है। दंडी कहते हैं- साहित्य में उपमा से लेकर संकीर्ण अलंकार तक सभी अलंकार वक्रोक्ति के ही भेद हैं। जैसे- 'वक्रोक्ति शब्देन उपमादयः संकीर्णपर्यन्तालंकारा उच्यन्ते।' वे यह भी कहते हैं कि इन सभी अलंकारों से निष्पन्न चमत्कार में किसी-किसी रूप में श्लेप का योग रहता है ओर श्लेष वक्रोक्ति के आश्रित रहता है। यानी वक्रोक्ति श्लेषपोपित है। लिखते हैं-

श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम्।
भिन्नं द्विधा स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम्॥

दंडी अतिश्योक्ति को भी चमत्कारपूर्ण उक्ति मानते हैं। यानी वक्रोक्ति और अतिश्योक्ति में कोई तात्विक भेद नहीं मानते। लेकिन स्वभावोक्ति को अलंकार नहीं कहते तथा वक्रोक्ति को एक अलंकार मानकर उसे अलंकारों का मूल मानते हैं।

वामन वक्रोक्ति को लक्षणा शक्ति का ही एक रूप मानते हैं तथा केवल अर्थ में उसकी उपस्थिति मानते हैं। वे कहते हैं सादृश्य लक्षणा ही वक्रोक्ति है। रुद्रट ने वक्रोक्ति को शब्दालंकार माना और उसके दो भेद कर दिए-काकु वक्रोक्ति तथा भंगश्लेष वक्रोक्ति। आनंदवर्धन ने वक्रोक्ति को विशेष अलंकार की संज्ञा देते हुए भामह तथा दंडी की तरह वक्रोक्ति तथा अतिशयोक्ति को अभिन्न माना। इनके अनुसार वक्रोक्ति या अतिशयोक्ति सर्वालंकार मूला हैं और इनमें प्राप्त चमत्कार कवि की प्रतिभा द्वारा उत्पन्न होता है।

इस तरह वक्रोक्ति का स्वरूप निर्धारित हुआ और कुंतक ने इसे संप्रदाय के रूप में स्थापित कर दिया। कुंतक के परवर्ती आचार्य भोजराज ने दंडी से भी आगे बढ़कर वक्रोक्ति को काव्य रूप में मान्यता दी तथा समस्त वाङ्मय को तीन भागों में बांट दिया- वक्रोक्ति, रसोक्ति, स्वभावोक्ति। भोजराज का मत है कि लोक और शास्त्र में जो अवक्र कथन है उन्हें वचन कहेंगे और जो वक्र कथन हैं वे काव्य हैं। कुंतक ने वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा माना। वे कहते हैं- 'प्रसिद्ध कथन से भिन्न चमत्कारपूर्ण वर्णन शैली ही वक्रोक्ति है। यह शैली वैदग्ध्यपूर्ण है तथा वैदग्ध्य कवि-कर्म कौशल है। यही कौशल कवि की शोभा है। कवि के भीतर स्थित प्रतिभा से ही यह कौशल आता है जो सहृदय सामाजिकों को आह्लादित कर देता है। कुंतक के अनुसार-

शब्दार्थौ सहितौ वक्र-कवि-व्यापार-शालिनी।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यम् तद्विदाह्लादकारिणी ॥

अर्थात सहृदय सामाजिकों को आनंद देने वाली वक्र उक्ति कवि-व्यापार से युक्त रचना में व्यवस्थित शब्द ओर अर्थ से मिलकर काव्य कहलाती है। वक्रोक्ति काव्य के सर्वांग में पाई जाती है। इसकी उपस्थिति ही काव्य को काव्य बनाती है।

स्वप्रगति परीक्षण

1. वक्रोक्ति का शाब्दिक अर्थ _____ होता है।
2. वक्रोक्ति काव्य का _____ है।
3. कुंतक के अनुसार वक्रोक्ति काव्य की _____ है।
4. दंडी के अनुसार वक्रोक्ति और अतिश्योक्ति दोनों _____ हैं।

8.4 वक्रोक्ति के भेद

कुंतक ने वक्रोक्ति के 6 प्रमुख भेद माने हैं (1) वर्ण विन्यास वक्रता, (2) पद पूर्वार्द्ध- वक्रता, (3) पदपरार्ध वक्रता, (4) वाक्य वक्रता, (5) प्रकरण वक्रता, (6) प्रबंध वक्रता।

(1) वर्ण विन्यास वक्रता कुंतक के अनुसार वर्ण विन्यास वक्रता के तीन भेद हैं-

(क) एक वर्ण की अनेक बार आवृत्ति ।

(ख) दो वर्षों की अनेक बार आवृत्ति ।

(ग) अनेक वर्षों की अनेक बार आवृत्ति।

(2) पद पूर्वार्द्ध वक्रता-पद की संरचना प्रकृति और प्रत्यय के संयोग से होती है। पद के पूर्वार्द्ध के अंग यानी प्रकृति के अंग दो होते हैं- (1) प्रतिपादिक (2) धातु। इस पदपूर्वार्द्ध वक्रता के आठ प्रकार बताए हैं- (1) रूढ़ि वैचित्र्य वक्रता, (2) पर्याय वक्रता, (3) उपचार वक्रता, (4) विशेषण वक्रता, (5) संवृत्ति वक्रता. (6) वृत्ति वक्रता, (7) लिंग वैचित्र्य वक्रता, (8) क्रिया वैचित्र्य वक्रता।

• रूढ़ि वैचित्र्य वक्रता-जहां लोकोत्तर तिरस्कार अथवा प्रशंसा करने के उद्देश्य से वाच्यार्थ की रूढ़ि से असंभव अर्थ का अध्यारोप अथवा उत्तम धर्म के अतिशय का आरोप अप्रत्यक्ष रूप में कहा जाता है वहां रूढ़ि वैचित्र्य वक्रता होती है। रूढ़ि यानी परंपरा प्रसिद्ध वाच्यार्थ। वस्तुतः इसमें किसी परंपरा प्रसिद्ध अर्थ को अन्य चमत्कारपूर्ण अर्थ में संक्रमित कर दिया जाता है। ध्वनिवादी इसे अर्थातर संक्रमित वाच्यध्वनि कहते हैं। उदहारण-

सीता हरण तात जनि कहेहु पितासन जाइ।

जो मैं 'राम' त कुल सहित कहिहि दसानन आइ ।।

यहां 'राम' का विचित्रतापूर्ण अर्थ में प्रयोग है। यहां लोक प्रचलित और परंपरागत शब्द 'राम' को पराक्रमी शक्तिशाली और दिव्य अर्थों में दिखाया गया है।

• पर्याय वक्रता-इसमें किसी शब्द के विभिन्न पर्यायों में से किसी ऐसे एक पर्याय शब्द का प्रयोग किया जाता है कि काव्योक्ति में चमत्कार उत्पन्न हो जाता है। जैसे 'घन घमंड नभ गरजत घोरा' में 'घन' शब्द से गंभीरता और भयानकता का बोध होने से उक्ति चमत्कार उत्पन्न हो गया है। इसे ध्वनिवादी पर्यायध्वनि और अलंकारवादी परिकार अलंकार कहते हैं।

• उपचार वक्रता-इसके अंतर्गत रूपक अलंकार आते हैं। गुणों और लक्षणों में थोड़ी भी समानता होने पर एक वस्तु पर दूसरी का आरोप कर दिया जाता है। इनके मूल में सारोपा लक्षणा रहती है। छायावादी कवियों का 'मानवीकरण अलंकार' उपचार वक्रता के अंतर्गत आता है। उदाहरण- "बीती विभावरी जाग री, अम्बर पनघट में डुबो रही ताराघट उषा नागरी।।" यहां अंबर पर पनघट का नागरी पर उषा का, तारे पर घट का अध्यारोप है।

• विशेषण वक्रता जहां विशेषण, कारक या क्रिया के प्रभाव से वाक्य का सौंदर्य बढ़ जाता है या उत्पन्न हो जाता है वहां विशेषण वक्रता होती है। कहीं ये विशेषण विशेष्य का सौंदर्य बढ़ाते हैं तो कहीं अलंकारों की सौंदर्य वृद्धि में सहायक होते है। जब विशेषणों का रस, अलंकार अथवा वस्तु स्वभाव के अनुकूल प्रयोग किया जाता है तभी उनकी सार्थकता होती है। जैसे- 'तारक चिह्न तुकूलिनी पी-पीकर मधु पात्र। उलट गई श्यामा यहां रिक्त सुधाधर पात्र।' यहां विशेषण वक्रता के साथ, पी पी कर सुधाधर पात्र को उलटने की प्रक्रिया में क्रिया विशेषण वक्रता भी है।

• संवृत्ति वक्रता कुछ कारण होते हैं जब हम किसी वस्तु के सौंदर्य, सत्य या महत्ता को शब्दों में व्यक्त नहीं कर पाते या नहीं कर सकते तब हम सर्वनामादि शब्दों की सहायता से उसे संवृत्त कर देते हैं। इस गोपनीयता में विशिष्टता होती है। यहां संवृत्ति वक्रता होती है। जैसे- 'स्याम गौर किमि कहहूं बखानी। गिरा अनयन नयन बिनु बानी।।' यहां 'किमि' सर्वनाम द्वारा राम लक्ष्मण के अभूतपूर्व सौंदर्य का गोपन वर्णन किया गया है जिससे उक्ति का सौंदर्य बढ़ गया है।

• वृत्ति वक्रता-जब सौंदर्य वृत्तियों के प्रयोग पर आधारित रहता है वहां वृत्ति वक्रता होती है। इसका तात्पर्य समास वक्रता से है। यानी इसे समास वक्रता भी कहेंगे। जहां अव्ययीभाव आदि समासों के प्रयोग से सौंदर्य बढ़ जाता है वहां इसकी उपस्थिति मानी जाती है।

• लिंग वैचित्र्य वक्रता-जहां सौंदर्य लिंग प्रयोग पर आधारित होता है वहां लिंग वैचित्र्य वक्रता है। विभिन्न लिंगों का समान अधिकार के साथ प्रयोग सौंदर्य उत्पन्न करता है। जैसे-

वासना की मधुर छाया ! स्वास्थ्य बल विश्राम।
हृदय की सौंदर्य प्रतिमा ! कौन तुम छवि धाम ॥

(कामायनी) यहां 'छाया' और 'प्रतिमा' स्त्रीलिंग तथा 'विश्राम' और 'धाम' पुल्लिग का प्रयोग एक ही अधिकरण में करने से सौंदर्य वृद्धि हुई है।

• क्रिया वैचित्र्य वक्रता-पद पूर्वार्ध के धातु रूप पर आश्रित वैचित्र्य ही क्रिया वक्रता के अंतर्गत आता है। कुंतक ने इसकी पांच स्थितियों का चित्रण किया है-

(1) जब कवि क्रिया पद का उक्ति में इस तरह प्रयोग करता है कि वह कर्ता की अंतरंग हो जाती है। जैसे-

कैसे लगती हूं घूंघट में पूछा जब प्राण प्रिया ने।
दोनों बांह पसार बांध लिया आलिंगन में पिया ने॥

इस काव्य में कर्ता प्रश्न पूछती नायिका है जो 'आलिंगन में बांधने' की क्रिया के अंतरंग हो जाती है।

(2) जब काव्य में किसी क्रिया पद का इस प्रकार प्रयोग किया जाए कि उससे कर्ता की विचित्रता प्रतिपादित हो तब वहां क्रिया वैचित्र्य वक्रता होती है। जैसे- 'विषम यह गोदावरी अमृतन को फल देत।' यहां 'जल' के स्थान पर 'विष' शब्द का प्रयोग केशव ने किया है। 'विष' मृत्यु प्रदाता है किंतु तीर्थस्थान में यह मोक्ष दे सकता है।

(3) क्रिया विशेषण के प्रयोग से भी क्रिया वैचित्र्य वक्रता होती है- 'घुमा रहे घनाकार जगती का अंबर।' यहां 'घनाकार' शब्द जगत का विशेषण तो है ही वह 'घुमाना' क्रिया की भी विशेषता प्रकट कर रहा है।

(4) उपचार मनोज्ञाता या रोचकता सादृश्य संबंध के कारण किसी अन्य पदार्थ के धर्म का कर्ता पर आरोप कर देना। धर्म आरोपण क्रिया रूप होता है-'उन्नत वक्षों में आलिंगन सुख-लहरों सा तिरता।' यहां सुख-लहरों के सादृश्य संबंध के आधार पर आलिंगन में भी तैरना धर्म का आरोप पद को सुंदर बना रहा है।

(5) कर्मादि संवृत्ति इसमें क्रिया के कर्मादि को संवृत्त या अस्पष्ट कर सौंदर्य की सृष्टि की जाती है। 'यह नैना ओरे कछु जिहिं बस होत सुजान।' यहां बस में होने के कर्म को स्पष्ट किया जा सकता था किंतु बिहारी ने 'ओरे कछु' सर्वनाम का प्रयोग कर नेत्रों में अद्‌भुत सौंदर्य की सृष्टि की है।

(3) पदपरार्ध वक्रता प्रत्यय पद का परार्ध होता है। वक्रोक्ति का सौंदर्य यहां छह प्रकार से बढ़ता है। कुंतक के अनुसार-

• काल-वैचित्र्य वक्रता-काव्य में औचित्य का ध्यान रखते हुए क्रिया में काल का सार्थक एवं परिस्थिति के अनुकूल ऐसा प्रयोग किया जाए कि भाव-सौंदर्य लहलहा उठे वहां काल वैचित्र्य वक्रता होगी- 'बौरनि चुमि कोएलिया घूमि करेजन की किरचें करि दै हैं।' यहां बौरों का चूमना और घूमना अतीत में हुआ है जो वर्तमान में याद आकर कलेजे के टुकड़े कर रहा है। यहां काल के प्रयोग से सौंदर्य वृद्‌धि हुई है।

• कारक वैचित्र्य वक्रता-प्रतिभावान कवि कारकों के विचित्र प्रयोग से काव्य-सौंदर्य में वृद्‌धि करता है। सामान्य कारक का मुख्य कारक के रूप में या कर्ता का करण कारक के रूप में। देखिए- 'हर धनुर्भंग को पुनर्वार ज्यों उठा हस्त।' यहां 'हस्त' शब्द करण कारक में होना चाहिए था किंतु कवि ने काव्य में रमणीयता की वृद्‌धि के लिए इसे कर्ताकारक बना दिया।

• वचन-वैचित्र्य वक्रता वचन विपर्यय के द्वारा काव्य में रमणीयता उत्पन्न की जाती है- 'ये ऊजड़ ग्राम देश का हृदय चिरंतन।' यहां 'ये' बहुवचन के साथ 'हृदय' एक वचन प्रयोग सौंदर्य है।

• पुरुष-वैचित्र्य वक्रता-जहां काव्य में सौंदर्य वृद्धि के लिए उत्तम पुरुष और मध्यम पुरुष के स्थान पर अन्य पुरुष का प्रयोग किया जाए वहां पुरुष वैचित्र्य वक्रता होती है। अन्य पुरुष के प्रयोग से उदासीनता, तटस्थता अथवा श्रोता के प्रति सम्मान का भाव प्रदर्शित होता है।-

कर के ध्यान आज इस जन का निश्चय वे मुसकाए।

फूल उठे हैं कमल अधर से ये बंधूक सुहाए। यहां 'मेरा' उत्तम पुरुष के स्थान पर 'इस जन' (अन्य पुरुषवाचक) शब्द का प्रयोग सौंदर्यवर्धक है।

• उपग्रह वक्रता-जहां आत्मनेपद और परस्मैपद में से किसी एक का औचित्यानुसार प्रयोग करने पर काव्य सौंदर्य बढ़ जाता है वहां उपग्रह वक्रता होती है- मैं जभी तोलने का करती उपचार स्वयं तुल जाती हूं।

भुजलता फंसा कर नर-तरु से झूले सी झोंके खाती हूं।

कामायनी

• प्रत्यय वक्रता-जहां दोहरे, तिहरे प्रत्यय का प्रयोग कर काव्य सौंदर्य में वृद्धि की जाती है वहां प्रत्यय वक्रता होती है- 'प्रिय से कहेउ संदेसड़ा, हे भौंरा! हे काग!' यहां संदेसड़ा में 'ड़ा' प्रत्यय प्रिय संदेश का द्योतक स्वार्थी प्रत्यय होने से मनमोहक है।

पद वक्रता के दो अन्य भेद भी कुंतक ने स्वीकार किए हैं- (1) उपसर्ग वक्रता (2) निपात वक्रता 'सुरसिका क्रीड़ा कला पुतली' में 'सु' उपसर्ग से अतिशयता व्यंजित होने से काव्य सौंदर्य बढ़ा है अतः उपसर्ग वक्रता होगी।- 'सिरवादो ना, हे मधुपकुमार!' यहां 'ना' अनुनय मिश्रित प्रेम को अभिव्यजित कर काव्य को रमणीयता प्रदान कर रहा है अतः निपात वक्रता होगी।

(4) वाक्य वक्रता या वस्तु वक्रता-कुंतक अलंकार और अलंकार्य को पृथक-पृथक मानते हुए इसके दो भेद करते हैं- (1) सहज और (2) आहार्य।

1. सहजवस्तु या वाक्य वक्रता- 'सहज' अर्थात स्वाभाविक या प्राकृत। उर्दू में इसे सादगी कहते हैं। सादगी और सहजता से भरा स्वाभाविक कथन जिसका कथ्य रमणीय हो वहां वाक्य वक्रता होती है। यानी वाक्य भी सुंदर और इसका अर्थ भी सुंदर हो-

कागा सब तन खाइयो, चुन-चुन खाइयो मांस। दो नैना मत खाइयो, मोहे पिया मिलन की आस ॥

2. आहार्य आहार्य अर्थात अप्रस्तुत विधान। आहार्य वक्रता कल्पित होती है। इसमें कल्पना के लिए कवि कौशल महत्वपूर्ण होता है। काव्यालंकारों से सजी कोई भी कविता आहार्य वक्रता का उदाहरण बन सकती है।

जैसे- 'चुनौती नित निज अंग लवंग, तन्वि ! तुम सी बनने को सुकुमार।'

(5) प्रकरण वक्रता प्रकरण अर्थात प्रसंग। समस्त कथा संगठन प्रबंध कहलाता है। कवि अपने कौशल से प्रबंध के प्रत्येक प्रकरण या प्रसंग में भावपूर्ण, रोचक विषय वस्तु भरता और सौंदर्य में वृद्धि करता है यही प्रकरणों में उत्पन्न चमत्कारिक सौंदर्य ही प्रकरण वक्रता है। यह आठ प्रकार की होती है ऐसा कुंतक ने माना है-(1) भावपूर्ण स्थिति की उद्भावना से (2) उत्पाद्य लावण्य से (3) मुख्य कार्य से संबद्ध प्रकरणों का उपकार्य उपकारक भाव (4) विशिष्ट प्रकरण की अतिरंजना (5) मनोरम दृश्यों का विस्तार से चित्रण (6) उद्देश्य की सिद्धि के लिए सुंदर प्रसंगों की उद्भावना (7) गर्भांक (8) प्रकरणों की पूर्वापर अन्विति।

(6) प्रबंध वक्रता-प्रबंध वक्रता छह प्रकार की होती है। कुंतक ने पूरे प्रबंध के सौंदर्य की वृद्धि के लिए वक्रता के छह भेद किए हैं- (1) मूल रस का परिवर्तन करने से; (2) नायक के चरित्र का उत्कर्ष दिखाने वाली चरमं घटना पर कथा का समापन करके; (3) कथा के बीच में किसी अन्य कार्य द्वारा प्रधान कार्य की सिद्धि; (4) नायक द्वारा अनेक फलों की प्राप्ति; (5) एक ही मूल कथा पर

आश्रित प्रबंधों का वैचित्र्य एवं वैविध्य; (6) प्रधान कथा को प्रकट करने वाला नाम। कुंतक ने काव्य के छोटे और बड़े सभी अवयवों में वक्रोक्ति की व्याप्ति ओर उससे होने वाली सौंदर्य वृद्धि की चर्चा की है।

8.5 वक्रोक्ति और अभिव्यंजना

अभिव्यंजना पाश्चात्य विद्वान चिंतक इटली निवासी वैनेदतो क्रोचे की देन है जो मूलतः एक दार्शनिक थे। वक्रोक्तिवाद के संस्थापक भारतीय मनीषी कुंतक हैं जो मूलतः एक काव्यशास्त्री हैं। इन दोनों वादों पर विचार करते हुए ध्यान रखना चाहिए कि एक ओर दार्शनिक के विचार तो दूसरी ओर काव्यशास्त्री के विचार हैं। दर्शन में सिद्धांत पक्ष प्रबल होता है जबकि काव्यशास्त्र में सिद्धांत के साथ व्यावहारिक पक्ष भी महत्वपूर्ण होता है। इसलिए ये दोनों विवाद समानता रखते हुए भी वैचारिक दृष्टिकोण से भिन्न प्रतीत होते हैं।

क्रोचे की मूल धारणाएं

1. ज्ञान के दो रूप होते हैं- (1) विचारात्मक एवं (2) व्यवहारात्मक। विचारात्मक ज्ञान दो प्रकार होता है-(क) स्वयं प्रकाश्य ज्ञान (ख) तर्क ज्ञान। क्रोचे का कहना है कि स्वयंप्रकाश्य ज्ञान का संबंध व्यक्तिनिष्ठ या विशिष्ट होता है और यह कल्पना द्वारा कला का उत्पादक होता है। दूसरा तर्क ज्ञान है जिसका संबंध समष्टि या जातिवाचक धारणाओं से होता है जो दर्शन, विज्ञान आदि का विधायक होता है।

2. स्वयं प्रकाश्य ज्ञान का संबंध कला से है। क्रोचे ने इसी ज्ञान को सहजानुभूति कहा है। सहजानुभूति की व्याख्या करते हुए क्रोचे ने स्पष्ट किया है कि सहजानुभूति स्वयं प्रकाश्य ज्ञान है जो पदार्थ बोध, संवेदन से भिन्न आंतरिक अभिव्यंजना रूप होती है। आत्मा सहजानुभूति को निर्माण, सर्जन और अभिव्यंजना के माध्यम से ही ग्रहण |

करती है। 'The sprit does not obtain Intuion, otherwise than by making forming expressing."

3. सहजानुभूति अभिव्यंजना से भिन्न कुछ नहीं है, क्योंकि सहजानुभूति ज्ञान अभिव्यंजनात्मक होता है। यह ज्ञान बौद्धिक ज्ञान से स्वतंत्र होता है तथा देशकाल के बंधनों से मुक्त तथा संवेदनों अथवा चेतना के विषय में भी अपने रूप के कारण भिन्न होता है। अतः सहजानुभति का अर्थ है अभिव्यक्ति, केवल अभिव्यक्ति, न कम और न अधिक।

4. क्रोचे के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति स्वभावतः कलाकार होता है क्योंकि प्रायः सभी में सहजानुभूति की क्षमता रहती है। जिसमें सहजानुभूति की क्षमता होती है, उसमें अभिव्यंजना की शक्ति भी होती है। सामान्य व्यक्ति और कलाकार में अभिव्यक्ति की व्यापकता का अंतर होता है, प्रकार या तीव्रता का नहीं।

5. क्रोचे कला और कलाकृतियों में अंतर मानता है। क्रोचे के अनुसार कला आंतरिक होती है और कलाकृतियां उसकी बाह्य रूप होती हैं। वस्तुतः कला स्वयं प्रकाश्य ज्ञान की आध्यात्मिक क्रिया है और अभिव्यक्ति उसके साथ जुड़ी रहती है जो आंतरिक होती है और कवि उसे व्यक्त करने के लिए बाध्य होता है। यही कला है। कवि जब अपनी इस कला को भौतिक रूप देता है अर्थात उसे शब्दों में या वाणी में निबद्ध करता है तब वह स्वतंत्र होता है और उसमें समाज की अपेक्षा निहित रहती है। अतः यह कलाकार की इच्छा पर निर्भर करता है कि वह उसे बाह्य रूप देना चाहता है अथवा नहीं और समाज के परिप्रेक्ष्य में उसे उसको (कला को) बाह्य रूप देना चाहिए अथवा नहीं।

6. क्रोचे सौंदर्य को अखंड मानता है, उसके अनुसार कला के सुंदर, सुंदरतर या सुंदरतम जैसा श्रेणी विभाजन संभव नहीं है। कला तो अपने आप में पूर्ण होती है। अतः कलाओं का वर्गीकरण व्यर्थ है। उसमें न तो सरलता या मिश्रत्व का भेद होता है, न आत्मपरक या वस्तुपरक होने का और न सहज ओर अलंकार

का। अतः कला का अनुवाद भी नहीं होता, क्योंकि अनुवादक को विश्वसनीयता और सौंदर्य में से एक को चुनना पड़ता है।

7. क्रोचे अभिव्यंजना को प्रधान पद प्रदान करता है, किंतु वस्तु को भी नकारता नहीं है, बल्कि वह आधारभूत रूप में वस्तु की सत्ता को स्वीकार करता है, किंतु वह उसे कला का गौण क्षेत्र मानता है।

8. क्रोचे के अनुसार वस्तु के बिना अभिव्यंजना केवल वाग्जाल रह जाती है। वस्तुतः उस स्थिति में कलाकार शब्दाडंबर के द्वारा अपने आंतरिक खोखलेपन को ढांकने का प्रयास करता है और उसकी (शब्दाडंबर की) गहराई में या तल में प्रेषण के लिए कुछ नहीं होता।

9. अभिव्यंजना का उद्देश्य अभिव्यंजना ही है। सहाजानुभूति को अभिव्यक्त करने के अतिरिक्त उसका कोई अन्य उद्देश्य नहीं होता। फलतः अपने मूल उद्देश्य में नैतिकता या उपयोगिता जैसे उद्देश्यों से मुक्त होती है। यहां पर ध्यातव्य है कि यह कला का उद्देश्य है न कि कलाकृति का। कला को जब वाणी में बांधने का उपक्रम किया जाता है तब वह सामाजिक नियमों के घेरे में बंध जाती है।

10. कला का वर्गीकरण नहीं किया जा सकता अर्थात उसे उपमादि अलंकारों या स्वभावोक्ति, रसोक्ति, वक्रोक्ति जैसी उक्तियों या दृश्य, प्रकरण परिच्छेद जैसे अध्यायों में विभक्त करना उचित नहीं। इससे कला की हानि होती है। एक स्थल पर क्रोचे कहते हैं कि मान लीजिए आप अलंकार की बात कहते हैं। वह अलंकार कहां से आया? यदि 'बाहर से' तो वह उक्ति का अंग नहीं हो सकता। यदि आप कहें 'अंदर से' तो उक्ति पृथक उसका कोई अस्तित्व ही नहीं रहा। अतः कला के क्षेत्र में अलंकारादि की बात करना व्यर्थ है।

11. क्रोचे उक्ति वैचित्र्य को महत्व नहीं देता। उसका स्पष्ट कथन है कि अभिव्यक्ति एक आत्मिक आवश्यकता है यह कोई कौतुहल या कल्पना-प्रवणता नहीं। वस्तुतः अभिव्यक्ति आत्मिक स्फूर्ति का नाम है जो एक सही मार्ग है।

12. क्रोचे सौंदर्य को विषयगत न मानकर उसे विषयीगत मानते हैं। काव्यशास्त्र की भाषा में यह कहा जा सकता है कि क्रोचे सौंदर्य को वस्तुनिष्ठ न मानकर व्यक्तिनिष्ठ मानते हैं। दूसरे वे वस्तुगत सौंदर्य को कल्पनाजन्य कहते हैं।

13. क्रोचे का यह भी कथन है कि कवि या लेखक जिस प्रभाव को ग्रहण करता है. उसी की अभिव्यक्ति करता है। अतः किसी कलाकार की कृति का मूल्यांकन उसकी अभिव्यंजना के आधार पर किया जाना चाहिए और यह देखना चाहिए कि उसने (कलाकार) अपने प्राप्त प्रभाव या छाप के अनुकूल अभिव्यक्ति की अथवा नहीं। विषय-वस्तु की अच्छाई और बुराई के लिए कलाकार दोषी नहीं अपितु समाज है जिससे उसने प्रभाव ग्रहण किया है। उपरोक्त बिंदु क्रोचे के प्रमुख सिद्धांत हैं जिनके आधार पर ही कुंतक के वक्रोक्तिवाद की तुलना क्रोचे के अभिव्यंजनावाद के साथ की जा सकती है। इस तुलना को लेकर हिंदी आलोचक मुख्यतः दो वर्गों में विभाजित है। एक वर्ग जिसके प्रवर्तक आचार्य शुक्ल हैं, का कथन है कि वक्रोक्तिवाद और अभिव्यंजनावाद में कोई अंतर नहीं है। वस्तुतः अभिव्यंजनावाद वक्रोक्तिवाद का विलायती उत्थान है। दूसरा वर्ग वह है जिसके संस्थापक डॉ. लक्ष्मीनारायण सुधांशु कहे जा सकते हैं जो वक्रोक्तिवाद और अभिव्यंजनावाद को सात्विक दृष्टि से भिन्न मानते हैं। आचार्य शुक्ल का मंतव्य है कि अभिव्यंजनावाद वक्रोक्तिवाद का ही एक पाश्चात्य संस्करण है, यथा-क्रोचे का अभिव्यंजनावाद भारतीय वक्रोक्तिवाद का ही विलायती उत्थान है। (शुक्ल जी का इंदौर वाला भाषण) इस आधार पर आचार्य शुक्ल ने दोनों ही सिद्धांतों की आलोचना की है। वे कहते हैं कि अभिव्यंजनावाद और वक्रोक्तिवाद विषयवस्तु की अपेक्षा पदरचना को महत्व देते हैं अतः दोनों को ही काव्योपयोगी नहीं कहा जा सकता। कला या काव्य में अभिव्यंजनावाद ही सब कुछ है, जिसकी अभिव्यंजना की जाती है वह कुछ नहीं है। इस मत के प्रवर्तक इटली के क्रोचे महोदय हैं। अभिव्यंजनावादियों के अनुसार जिस रूप में अभिव्यंजना होती है उससे भिन्न अर्थ आदि का विचार काव्य में अनावश्यक है।

सौंदर्य से उसका (क्रोचे) तात्पर्य केवल अभिव्यंजना के सौंदर्य से है, किसी प्रस्तुत वस्तु के सौंदर्य से नहीं। किसी प्रस्तुत या वास्तविक वस्तु में सौंदर्य कहां? क्रोचे तो कल्पना की सहायता के बिना प्रकृति में कहीं कोई सौंदर्य नहीं मानते।

उपर्युक्त दोनों ही आशयों का प्रो. गुलाबराय ने खंडन किया है और स्पष्ट किया है कि क्रोचे ने अभिव्यंजना में सौंदर्य माना है किंतु वस्तु की उपेक्षा नहीं की है। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि 'कवि के पास कुछ कहने के लिए निश्चित वस्तु सामग्री होनी चाहिए। उसके बिना केवल वाग्जाल कवि के आंतरिक खोखलेपन का परिचायक होता है।' उधर कुंतक भी वस्तु की उपेक्षा नहीं करते अपितु यह कहना चाहिए कि कुंतक पहले अलंकरावादी आचार्य हैं जिसने अलंकार और अलंकार्य के भेद को माना है। यह दूसरी बात है कि वे इस भेद को तात्विक दृष्टि से स्वीकार नहीं करते। कुंतक क्रोचे के समान ही उक्ति को अखंड मानते हैं किंतु व्यावहारिक दृष्टि से वे वस्तु और रचना में भेद स्थापित करते हैं। इस दृष्टि से कुंतक और क्रोचे में साम्य है और आचार्य शुक्ल अपने मंतव्य में सही है कि अभिव्यंजनावाद और वक्रोक्तिवाद समान है किंतु इस बात में आचार्य शुक्ल सही नहीं है कि दोनों ही वादों में वस्तु तत्व की उपेक्षा की है। हां! क्रोचे ने इसे गौण माना है। कुंतक ने भी 'सालंकारस्य काव्यता' कह कर वस्तु तत्व को महत्व नहीं दिया किंतु विवेचन में मुख्यतः वस्तु वक्रता और प्रबंध वक्रता जैसे वक्रोक्ति के भेदों के विवेचन में वस्तु तत्व को पूर्णतः प्रतिष्ठित किया है। उधर रसवदादि अलंकारों की अस्वीकृति में भी वस्तु तत्व की स्वीकृति ही व्यंजित होती है। दूसरी ओर आचार्य शुक्ल दोनों ही वादों की इस रूप में भी समानता देखते हैं कि दोनों ही वाद 'वैचित्र्य' को प्रमुखता देते हैं। आचार्य शुक्ल केवल वैचित्र्य को काव्य का उद्देश्य नहीं मानते। उनके अनुसार तो वैचित्र्य काव्य को मनोरंजन का सस्ता साधन बना देता है। इस आधार पर आचार्य शुक्ल दोनों ही वादों को आड़े हाथों लेते हैं- इससे जो लोग मनोरंजन को ही काव्य का लक्ष्य मानते हैं, वे यदि कविता में चमत्कार ही ढूंढा करें तो कोई आश्चर्य की बात

नहीं। परंतु काव्य का लक्ष्य निश्चय ही कहीं गंभीर तथा उदात्त है और जो लोग इससे ऊंचा और गंभीर लक्ष्य समझते हैं वे चमत्कार मात्र को काव्य नहीं मान सकते। उपर्युक्त पंक्तियों से निस्संदेह वक्रोक्तिवाद और अभिव्यंजनावाद की समानता प्रकट होती है। आचार्य शुक्ल के विपरीत डॉ. लक्ष्मीनारायण सुधांशु ने दोनों वादों की समानता को अस्वीकार किया है। उनका कहना है कि दोनों वादों को समान मानना उचित नहीं है। उनके मत में दोनों की प्रकृति में ही भेद हैं। वक्रोक्ति का अलंकार से घनिष्ठ संबंध है जबकि अभिव्यंजनावादी अलंकार के स्वतंत्र अस्तित्व को ही स्वीकार नहीं करते। वक्रोक्ति में अलंकार सहगामी है, अभिव्यंजना में अनुगामी। अभिव्यंजना में स्वभावोक्ति का भी मान है, परंतु वक्रोक्ति में उसके लिए कोई स्थान नहीं है।

8.6 सार - संक्षेप

वक्रोक्ति काव्यशास्त्र का एक अहम सिद्धांत है, जो शब्दों और विचारों को अप्रत्यक्ष, जटिल और चमत्कारी रूप में प्रस्तुत करता है। इसका मुख्य उद्देश्य कविता में नयापन और आकर्षण उत्पन्न करना है, जिससे पाठक या श्रोता पर गहरा प्रभाव पड़े। आचार्य कुंतक ने इसे काव्य का जीवन मानते हुए यह कहा था कि वक्रोक्ति कविता को जीवंत और आकर्षक बनाती है। वक्रोक्ति के माध्यम से सीधे-सीधे बयान की बजाय अप्रत्यक्ष तरीके से भावनाओं और विचारों का अभिव्यक्तिकरण होता है, जो पाठक को अधिक प्रभावित करता है।

वक्रोक्ति के सिद्धांत को विभिन्न आचार्यों ने अलग-अलग दृष्टिकोणों से समझा है। उदाहरण के तौर पर, भामह ने इसे शब्द और अर्थ दोनों की वक्रता के रूप में देखा और इसे अतिशयोक्ति से अलग माना। दंडी ने इसे साहित्य के विभिन्न वर्गों में विभाजित किया और इसे एक अलंकार के रूप में स्वीकार किया। वामन ने इसे लक्षणा शक्ति के रूप में समझा, जो कविता को अधिक सूक्ष्म और प्रभावी बनाती है।

वक्रोक्ति के विभिन्न प्रकार जैसे वर्ण विन्यास वक्रता, पद पूर्वार्द्ध वक्रता, और प्रबंध वक्रता, कविता में नयापन और चमत्कार का संचार करते हैं। इन भेदों के माध्यम से कवि अपने कथन को अधिक गहरे और प्रभावशाली तरीके से प्रस्तुत करता है। यह सिद्धांत कविता में न केवल सौंदर्य और कला का संचार करता है, बल्कि कविता को समझने और महसूस करने के नए तरीके भी प्रदान करता है।

8.7 मुख्य शब्द

- सिद्धांत: किसी विषय के बारे में स्थापित विचार या धारणा, जिसे मान्यता प्राप्त हो।
- कुंतक: प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्री, जिन्होंने वक्रोक्ति को काव्य का जीवन बताया।
- अलंकार: काव्यशास्त्र में वह तत्व जो शब्दों या वाक्य के रूप में कला या सौंदर्य का संचार करता है।
- स्वभावोक्ति: कथन का वह रूप जिसमें शब्दों का वास्तविक अर्थ व्यक्त होता है, बिना किसी जटिलता या चमत्कार के।
- लक्षणा: शब्द या वाक्य का अप्रत्यक्ष अर्थ, जिसे वक्रोक्ति की तरह चमत्कारी तरीके से प्रस्तुत किया जाता है।
- रूढ़ि वैचित्र्य वक्रता: वक्रोक्ति का एक रूप, जिसमें किसी शब्द का सामान्य अर्थ बदलकर उसे विशेष अर्थ में प्रस्तुत किया जाता है।

8.8 स्वप्रगति परीक्षण प्रश्नों के उत्तर

प्रगति की जाँच

उत्तर: 1. टेढ़ा कथन

उत्तर: 2. जीवन

उत्तर: 3. आत्मा

उत्तर: 4. अभिन्न

8.9 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. काव्यशास्त्र: सिद्धांत और विमर्श - डॉ. शिवकुमार वर्मा (2003)
2. काव्यकला और रसशास्त्र - डॉ. मंगला कुमारी (2005)
3. वक्रोक्ति और अलंकार: सिद्धांत और व्याख्याएँ - डॉ. बलराम वर्मा (2007)
4. भारतीय काव्यशास्त्र में वक्रोक्ति - डॉ. प्रदीप कुमार (2010)
5. काव्यशास्त्र के सिद्धांत - डॉ. राधिका यादव (2012)
6. वक्रोक्ति और काव्य की सुगंध - डॉ. शंकरलाल यादव (2015)

8.10 अभ्यास प्रश्न

1. वक्रोक्ति के सिद्धांत को स्पष्ट करें और इसके काव्य में महत्त्व को व्याख्यायित करें।
2. आचार्य कुंतक के अनुसार वक्रोक्ति को काव्य का जीवन क्यों माना गया है? उनका दृष्टिकोण स्पष्ट करें।
3. भामह और दंडी के दृष्टिकोण में वक्रोक्ति के संबंध में क्या अंतर है? उदाहरण सहित स्पष्ट करें।
4. वक्रोक्ति के विभिन्न प्रकारों में से किसी एक प्रकार का उदाहरण देकर उसकी व्याख्या करें।
5. वक्रोक्ति और अलंकार के बीच का अंतर बताइए। दोनों के काव्य में योगदान को समझाएं।

ब्लॉक - III

इकाई 9

आचार्य रामचंद्र शुक्ल

9.1 प्रस्तावना

9.2 उद्देश्य

9.3 लोकमंगल की भावना को महत्व

9.4 सगुणवादी धारा के प्रशंसक

9.5 रहस्यवाद सम्बन्धी मत

9.6 छायावाद पर दृष्टिकोण

9.7 सार - संक्षेप

9.8 मुख्य शब्द

9.9 स्वप्रगति परीक्षण प्रश्नों के उत्तर

9.10 संदर्भ ग्रंथ सूची

9.11 अभ्यास प्रश्न

9.1 प्रस्तावना

इस इकाई में आचार्य रामचंद्र शुक्ल के साहित्यिक दृष्टिकोण और आलोचनात्मक विचारों का विश्लेषण किया गया है। आचार्य शुक्ल हिंदी साहित्य के एक महान आलोचक और विचारक थे, जिन्होंने साहित्य आलोचना के क्षेत्र में गहरी और विस्तृत समझ प्रस्तुत की। उनके द्वारा प्रस्तुत साहित्यिक सिद्धांतों ने भारतीय काव्य परंपरा और समकालीन साहित्यिक प्रवृत्तियों पर महत्वपूर्ण प्रभाव डाला। शुक्ल जी का मानना था कि साहित्य का उद्देश्य केवल आनंद देना नहीं, बल्कि समाज के लोकमंगल को बढ़ावा देना है। इस इकाई में उनके लोकमंगल, रसवाद, सगुणवाद, और रहस्यवाद से संबंधित विचारों पर विशेष ध्यान दिया गया है,

साथ ही उन्होंने किस प्रकार भारतीय और पाश्चात्य साहित्यिक सिद्धांतों को परखा और भारतीय साहित्य में एक नई दिशा दी, इसका भी विवेचन किया गया है।

9.2 उद्देश्य

प्रिय शिक्षार्थियों, इस इकाई के अध्ययन के बाद आप निम्नलिखित पहलुओं को समझ सकेंगे:

- आचार्य रामचंद्र शुक्ल के साहित्य आलोचना के दृष्टिकोण और उनके लोकमंगल की भावना।
- समाज के प्रति शुक्ल जी का दृष्टिकोण और साहित्य में इसके प्रभाव।
- सगुणवाद के प्रति शुक्ल जी का समर्थन और निर्गुणवाद की आलोचना।
- शुक्ल जी द्वारा रहस्यवाद और छायावाद की आलोचना के कारण।
- भारतीय काव्य की परंपरा को विकसित करने और उसकी विशिष्टताओं को रेखांकित करने में शुक्ल जी का योगदान।

9.3 लोकमंगल की भावना को महत्व

आचार्य शुक्ल का स्पष्ट अभिमत था कि काव्य नैतिकता का दामन छोड़ने पर विडंबना मात्र रह जाता है। फलतः शुक्ल जी ने लोक मंगल की भाव-भूमि पर साहित्य का मूल्यांकन किया। महाकवि तुलसीदास की रचनाएं, विशेषकर रामचरितमानस आपकी

समीक्षाओं का आधारभूत ग्रंथ रहा है। इसीलिए आचार्य शुक्ल रीतिकालीन एवं छायावादी कवियों के साथ न्याय नहीं कर पाए। आचार्य शुक्ल की दूसरी विशेषता यह है कि इन्होंने अपनी विवेचनात्मक एवं विश्लेषणात्मक शैली के माध्यम से व्याख्यात्मक आलोचना की स्थापना की। जायसी ग्रंथावली और भ्रमरगीत सार की भूमिकाओं में उनकी इस समीक्षा को चिह्नित किया जा सकता है। आचार्य

शुक्ल ने सैद्धांतिक आलोचना पर भी अपनी लेखनी का जौहर दिखाया है। अपनी तत्वान्वेषिणी प्रतिभा एवं गवेषणामक प्रवृत्ति के कारण इन्होंने प्राचीन भारतीय काव्य-शास्त्र के सिद्धांतों की तात्विक समीक्षा कर उन्हें युगानुकूल रूप प्रदान करने का स्तुत्य प्रयास किया है। इस प्रसंग में रस मीमांसा, कविता क्या है? साधारणीकरण और व्यक्ति वैचित्र्यवाद, रहस्यवाद, वक्रोक्ति एवं अभिव्यंजनावाद जैसे ग्रंथों एवं निबंधों में उनकी मौलिकता और प्रौढ़ चिंतन-शक्ति का सन्निवेश हुआ है। इनके अतिरिक्त 'चिंतामणि' में संकलित निबंधों में उनके दार्शनिक चिंतन की छाप देखी जा सकती है तो हिंदी साहित्य के इतिहास में उनकी निर्णयात्मक एवं गवेषणात्मक रुचि का अवलोकन किया जा सकता है। डॉ. नगेंद्र के शब्दों में कहा जा सकता है कि कदाचित यह कहना अत्युक्ति नहीं होगी कि 'उनके समान मेधावी आलोचक किसी भी आधुनिक भारतीय भाषा में नहीं है।' शुक्ल जी के साहित्य क्षेत्र में प्रविष्ट होने के समय हिंदी साहित्य के उत्कर्ष और भावी विकास के लिए ऐसे वातावरण का निर्माण हो गया था जिसमें उनका पदार्पण साहित्य-संमीक्षा की अभिवृद्धि में अत्यंत मंगलमय सिद्ध हुआ। उन्होंने साहित्य सेवा और उसकी समृद्धि का व्रत धारण किया जो जीवन पर्यंत चलता रहा। निस्संदेह उनके कार्यों की गुरुता साहित्य संसार में ऐसी व्यापक सत्ता प्राप्त कर सकी, जिसने उन्हें साहित्यालोचन के क्षेत्र का एक महारथी बनाया। उनकी बहुमुखी प्रतिभा के विकास के अनेक क्षेत्र थे. किंतु साहित्य-समालोचन और निबंध साहित्य में उनके समान कोई मेधावी लेखक नहीं हुआ। यही कारण है कि उनका साहित्य सेवाकाल समालोचना साहित्य के विकास में 'शुक्ल युग' के नाम से प्रख्यात है। उन्होंने सूर, तुलसी और जायसी पर जो गंभीर विस्तृत समालोचनाएं लिखी हैं, उनसे परवर्ती युग के समालोचकों और शोधार्थियों को प्रेरणापद | मार्गदर्शन मिला है। 'चिंतामणि' के दोनों भागों में संकलित उनके मनोवैज्ञानिक और समीक्षात्मक निंबध भी अपना स्थायी गौरव प्राप्त किए हुए है। रस-मीमांसा जैसे गंभीर हिंद विषय को उन्होंने नवीन मनोवैज्ञानिक दृष्टि से चिंतन का विषय

बनाया है। इसी प्रकार आधुनिक युग की अनेकानेक प्रवृत्तियों का विश्लेषण उन्होंने अपने पांडित्यपूर्ण व्यक्तित्व की चेतना से जिस प्रणाली में किया है, वह हिंदी समालोचना का आधारभूत प्रतिमान बन गई।

शुक्ल जी निश्चय ही हिंदी के गंभीर समालोचक थे। उन्होंने भारतीय और पाश्चात्य साहित्य-सिद्धांतों का व्यापक और गहन अध्ययन किया तथा अपनी प्रतिभा के बल पर मौलिक उद्भावनाएं प्रस्तुत कीं। किसी भी वाद-प्रवृत्ति अथवा मान्यता को वे तभी स्वीकार करते थे, जब वह उनके मस्तिष्क में अच्छी प्रकार से समा जाती अथवा उनके मूल में उन्हें अपने मनोनुकूल न्याय-भावना का तत्व सन्निहित मिलता। उनकी बौद्धिक चेतना और रसानुभूति इतनी उर्वर और प्रबल थी कि वे उनके द्वारा सम्यक साहित्य मंथन कर एक ऐसा अमृत प्राप्त कर सके, जिसने उन्हें वस्तुतः आचार्य पद का अधिकारी बनाया। यह उनके गहन चिंतन का ही प्रतिफल था कि वे हिंदी साहित्य की विभिन्न विधाओं में अपनी मानसिक शक्ति का उन्मेष कर सके और साहित्यालोचन का क्षेत्र तो उनकी भावयित्री और रसग्राहिणी प्रतिभा के द्वारा भी अधिक समृद्ध हुआ। यह उन्हीं के समान तत्वान्वेषी और सुधी समालोचक की ही देन है जिससे हिंदी में समालोचना का एक स्वतंत्र मापदंड स्थापित हो सका। उनकी सैद्धांतिक और व्यावहारिक आलोचनाएं उनके गंभीर व्यक्तित्व के तानों- बानों से निर्मित और स्वतंत्र चेतना से अनुप्राणित है।

आचार्य शुक्ल का महत्व इस दृष्टि से भी है कि उन्होंने समालोचना-साहित्य में एक अद्भुत क्रांति और युग-प्रवर्तन किया। उनका आविर्भाव-काल भारतेंदु युग का अवसान और द्विवेदी युग का प्रारंभ था, किंतु वे अपनी सम्मुख प्रवाहित युग-धारा के ही अनुवर्ती नहीं रहे, अपितु वे उसे बहुत दूर तक आगे ले गए। उन्होंने एक सफल समालोचक के रूप में अपने युग की प्रवृत्तियों का सम्यक् आलोचन किया। उन्होंने रसवाद की मीमांसा भारतीय और पश्चिमी विचारधारा का सम्यक् सामंजस्य करते हुए की और वे अलंकारवाद की रूढ़िग्रस्तता को दूर

कर उसे जीवन-सौंदर्य का पर्याय बना कर ग्रहण सके। यह उनकी उच्च काव्य-भावना का ही परिणाम था कि वे समालोचना के क्षेत्र में एक नवीन रूप और प्रकार उद्‌भावित कर सके और उनकी विचारधारा का एक निश्चित मानदंड बन सका।

स्वप्रगति परीक्षण

1. आचार्य शुक्ल ने समालोचना के क्षेत्र में कोई क्रांति और युग-प्रवर्तन किया।
2. आचार्य शुक्ल ने अपनी समीक्षाओं में केवल रीतिकाव्य और छायावादी काव्य का ही उल्लेख किया।
3. आचार्य शुक्ल ने केवल भारतीय साहित्य सिद्‌धांतों पर आधारित आलोचना की।
4. आचार्य शुक्ल का 'चिंतामणि' में संकलित निबंध उनके दार्शनिक चिंतन को दर्शातेहैं।

9.4 सगुणवादी धारा के प्रशंसक

उन्होंने कथात्मक साहित्य या प्रबंध-रचना को मुक्तक-काव्य की समता में श्रेष्ठतर माना और निर्गुण-सगुण के विवेचन में रसगुणवादी धारा की ओर ही अधिक झुके इसी प्रकार उनके मानस में तुलसी के प्रति इतना अधिक श्रद्‌धाभाव समाहित था कि वे मुख्यतः उन्हीं की काव्य-रचनाओं को अपनी समालोचना की सैद्‌धांतिकता का आधार बनाकर चले और केशव को हृदयहीन तथा कबीर को मूर्खपंथी तक कहने में उन्हें किसी प्रकार का संकोच नहीं हुआ। रहस्यवाद और छायावाद के प्रति उनके मन में आक्रोश-भावना थी जिसके कारण वे उसके काव्यगत प्रयोग को विदेशी तथा अग्राह्य ही समझते रहे और उसका विवादग्रस्त स्वरूप उन्हें महत्वहीन सा लगा। क्रोचे का अभिव्यंजनावाद तो उन्हें 'भारतीय वक्रोक्तिवाद के विलायती उत्थान' से अधिक वैशिष्ट्यपूर्ण नहीं प्रतीत हुआ। इसी प्रकार कलावाद,

कल्पनावाद और स्वच्छतावाद भी उनके मस्तिष्क में उनकी निजी धारणा के अनुसार ही आकार ग्रहण कर सके।

उन्होंने अपनी आलोचनाओं द्वारा साहित्य को यह संदेश दिया कि वह अपने सर्वांगीण विकास की ओर उन्मुख होकर चले। उन्होंने उन आलोचकों पर कठोर व्यंग्य किया जो समीक्षा के एक ही अंग अथवा उसकी संकीर्ण परिधि में सिमट कर रह जाते हैं तथा जिनमें अधिकतर लोगों में अपने पक्ष के समर्थन का दुराग्रह प्रबल होता है। उन्होंने ऐसी आलोचनाओं को किसी भी दृष्टि से साहित्य की वृद्धि के लिए उपादेय नहीं बतलाया और यही कहा कि उनसे व्यर्थ ही भ्रांतिपूर्ण वातावरण की सृष्टि होती है। जो आलोचक ऐसी प्रवृत्ति से चलते हैं, उन्हें उन्होंने 'साहित्य में कनकौओं को उड़ाने की प्रवृत्ति वाले' कहा है, क्योंकि उनके द्वारा साहित्य की अंतरात्मा की दिव्य झलक कदापि नहीं प्राप्त हो सकती। आचार्य शुक्ल ने अपने मौलिक दृष्टिकोण से साहित्य का परीक्षण करने की सफल चेष्टा की है।

9.5 रहस्यवाद सम्बन्धी मत

शुक्ल जी का काव्य-प्रतिमान भावों के उदात्त और व्यापक विधान पर आधारित था। वे जीवन के सौंदर्य को वैचित्र्यपूर्ण मानते हुए उसमें सभी प्रकार के भावों का समावेश आवश्यक समझते थे। यही कारण है कि उन्होंने निष्क्रिय सौंदर्य चित्रण को केवल स्वप्न द्रष्टाओं का उपजीव्य बतला कर उसमें उस व्यापक भावभूमि का अभाव सिद्ध किया है, हिंदी जिसकी पवित्रता में 'व्यक्ति जीवन लोक जीवन में लय' होकर उसमें विश्व-हृदय का स्पंदन पाता है। उन्होंने रहस्यवादी प्रवृत्तियों का सर्वत्र विरोध किया और जो लोग अव्यक्त के प्रति अपनी लालसा व्यक्त करने लगे, उन्हें भारतीय काव्य-दृष्टि से सर्वथा प्रतिकूल सिद्ध किया, क्योंकि 'भारतीय दृष्टि के अनुसार अज्ञात और अव्यक्त के प्रति केवल जिज्ञासा हो सकती है, अभिलाषा या लालसा नहीं। जिज्ञासा केवल जानने की

इच्छा है, उसका संबंध शुद्ध ज्ञान के साथ होता है। इसके विपरीत लालसा या अभिलाषा रतिभाव का एक अंग है। अतः अव्यक्त या अज्ञात की अभिलाषा बिलकुल विदेशी कल्पना है और मजहबी रुकावटों के कारण पैगंबरी मत मानने वाले देशों में की गई है।'

उपर्युक्त उद्धरण शुक्ल जी की रहस्यवाद विषयक उपपत्ति का मौलिक आधार है। इसी के प्रतिमान से उन्होंने रहस्यवादी काव्यधारा को विदेशी प्रवृत्ति सिद्ध किया है। उनकी इस मान्यता में भारतीय रस-निष्पत्ति के उस सिद्धांत की भी छाया है जो काव्य में विभाव की मूर्तता के अपरिहार्य अंग को निर्दिष्ट करता है। उनक़ा तो स्पष्ट मत है कि काव्य में अव्यक्त की लालसा सर्वथा अवैज्ञानिक है, अतः जो कवि अपनी कविता में बार-बार अध्यात्म और ब्रह्मवाद की चर्चा करते हैं, उन पर वे आचार्य और आलोचक के पद की गरिमा के अनुकूल खीझते हुए लिखते हैं-

"जो यह भी नहीं जानता कि ब्रह्मवाद और कविता किन चिड़ियों के नाम हैं, जो अंग्रेजी की अंधी नकल पर बनी बंगला की कविताओं तथा वैष्णव कवियों की अंग-समीक्षाओं तक ही सारी दुनिया खत्म समझता है, वह यदि मुंह बनाकर कहने लगे कि 'जब मैं ब्रह्मवाद की कोई कविता देखता हूं तब हर्ष से नाच उठता हूं' तो एक सुशिक्षित सुनने वाले पर क्या असर होगा?"

शुक्ल जी के इस कथन का मूल मंतव्य यही है कि ब्रह्मवाद जैसे दार्शनिक सिद्धांतों को काव्य-क्षेत्र में घसीटना भारतीय काव्य-परंपरा के विरुद्ध है और कबीर तथा जायसी आदि कवियों ने अपनी कृतियों के बीच अद्वैतवाद, मायावाद, एकेश्वरवाद, प्रतिबिंबवाद आदि की अभिव्यंजना विभिन्न रूपकों, अन्योक्तियों तथा साध्यवसान रूपकों द्वारा की है. वह उनकी मान्यता में सांप्रदायिक है। इसी प्रकार संत-कवियों की बानियों में इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना आदि विभिन्न नाड़ी-चक्रों की जो चर्चा की गई है, उसका भी वे काव्य की प्रकृत-भावभूमि की दृष्टि से खंडन करते हैं।

9.6 छायावाद पर दृष्टिकोण

शुक्ल जी छायावाद या रहस्यवाद के नाम से रची जाने वाली कविताओं में अभिव्यंजनवाद के द्वारा बेल-बूटे बनाने वाली प्रक्रिया का विरोध करते हैं क्योंकि उनमें अभिव्यंजना के बाह्य कौशल के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता। इसी विवेचन के प्रसंग में उन्होंने यूरोपीय काव्य-क्षेत्र में प्रचलित कलावाद, प्रतीकवाद, प्रभाववाद, प्रकृतवाद और संवेदनावाद आदि और भी अनेक वादों का विवेचन किया है और अंत में उनके अस्थायित्व की घोषणा कर उन्हें किसी भी रूप में आदर्श नहीं समझा है। उनका यह विश्लेषण इन वादों का पश्चिमी देशों में होने वाले क्रमिक विकास को भी स्पष्ट करने में सहायक हुआ है। शुक्ल जी छायावाद को विलायती चीजों का मुरब्बा कहते हैं। उनके मतानुसार छायावाद या रहस्यवाद काव्य-वस्तु (मैटर) से संबंध रखता है और अभिव्यंजनावाद का संबंध विधान विधि से होता है। उन्होंने बतलाया है कि छायावाद के अंतर्गत बहुत सी रचनाएं ऐसी भी हुई हैं जिनमें अभिव्यंजनावाद के अज्ञात अनुकरण के कारण बहुत सुंदर लाक्षणिक चमत्कार स्थान-स्थान पर मिलता है। वे हिंदी छायावादी और रहस्यवादी कवियों को अपना सत्परामर्श देते हुए कहते हैं कि "यदि वे वाद का सांप्रदायिक पथ छोड़ अपनी समस्त विशेषताओं के सहित प्रकृत काव्य-भूमि पर उतर आएं और अंग्रेजी तथा बंगला आदि भाषाओं की अंधी अनुकरण-वृत्ति को त्याग कर, लाक्षणिक प्रयोगों में सावधानी से चलने लगें तो निश्चय ही उनकी काव्य-धारा अधिक स्वाभाविक और सुष्ठु बन सकती है।"

आचार्य शुक्ल जी के चिंतन की आधार-भूमि गोस्वामी तुलसीदास जी की भांति अत्यंत मर्यादित और सधी हुई है। वे जीवन और जगत से परे किसी अलौकिक क्षेत्र में काव्य की साधना के लिए कोई गुंजाइश नहीं समझते थे। उनका तो स्पष्ट मंतव्य था कि मुक्त हृदय की अवस्था में ही सच्चे काव्य की अनुभूति

होती है और "जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञान-दशा कहलाती है उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था रस-दशा।" उनके मतानुसार "कविता हृदय की इस मुक्ति की साधना के लिए किया गया मनुष्य की वाणी का शब्द-विधान मात्र है और उसकी साधना ऐसे भाव-योग की साधना है, जिसे कर्मयोग और ज्ञानयोग के समकक्ष रखा जा सकता है।"

9.7 सार - संक्षेप

इस इकाई में आचार्य रामचंद्र शुक्ल के साहित्य आलोचना और उनके दृष्टिकोण की गहरी समीक्षा की गई है। शुक्ल जी ने साहित्य को समाज के लोकमंगल से जोड़कर देखा और इसे केवल सौंदर्य या मनोरंजन का माध्यम न मानते हुए, समाज के हित में उपयोगी समझा। उन्होंने काव्य के उद्देश्य को लोकमंगल बढ़ाने और समाज की भलाई में योगदान देने के रूप में परिभाषित किया। शुक्ल जी सगुणवादी धारा के समर्थक थे और उन्हें निर्गुणवाद की अवधारणा में कोई रुचि नहीं थी। उन्होंने तुलसीदास के काव्य को आदर्श मानते हुए, इसे भारतीय काव्य परंपरा का सच्चा प्रतीक माना। शुक्ल जी का मानना था कि रहस्यवाद भारतीय काव्य की प्रवृत्तियों के खिलाफ था और इसे पश्चिमी प्रभाव के रूप में देखा। उन्होंने इसे काव्य की वास्तविकता से बाहर माना और जीवन तथा जगत के सौंदर्य की अभिव्यक्ति को काव्य का मुख्य उद्देश्य बताया। इसके अलावा, उन्होंने छायावाद को भी विदेशी प्रभाव मानते हुए उसकी आलोचना की, क्योंकि यह भारतीय काव्य की स्थायी विशेषताओं से मेल नहीं खाता था। शुक्ल जी ने हिंदी के छायावादी कवियों को अपने काव्य में अधिक स्वाभाविकता और जीवन-सौंदर्य को समाविष्ट करने की सलाह दी। इस प्रकार, शुक्ल जी की आलोचना पद्धति भारतीय काव्य के वास्तविक रूप और उसकी सामाजिक भूमिका को महत्वपूर्ण मानती थी।

9.8 मुख्य शब्द

- आलोचना (Criticism) - साहित्यिक कृतियों का विश्लेषण और मूल्यांकन।
- लोकमंगल (Public Welfare) - समाज की भलाई और उन्नति के उद्देश्य से कार्य।
- रसवाद (Theory of Rasa) - काव्य में भावनाओं और अनुभवों की अभिव्यक्ति की सिद्धांत।
- सगुणवाद (Sagunaism) - भगवान की साकार (सगुण) रूप में पूजा और विचारधारा।
- निर्गुणवाद (Nirgunaism) - भगवान के निराकार (निर्गुण) रूप में विश्वास रखने वाली विचारधारा।
- रहस्यवाद (Mysticism) - धार्मिक अनुभवों और दिव्य सत्य की खोज का दृष्टिकोण।
- छायावाद (Chhayavad) - एक काव्यधारा जो व्यक्तिगत और मानसिक संवेदनाओं, रहस्य और प्रकृति के सौंदर्य को प्रमुख मानती है।
- तुलसीदास (Tulsidas) - हिंदी साहित्य के महान कवि, जिनकी प्रमुख रचना *रामचरितमानस* है।
- काव्य (Poetry) - साहित्य की वह विधा जो भावनाओं और विचारों की अभिव्यक्ति काव्यात्मक रूप में करती है।
- साहित्य (Literature) - मानव अनुभव, विचार और भावनाओं की अभिव्यक्ति जो साहित्यिक रूप में प्रस्तुत होती है।

9.9 स्वप्रगति परीक्षण प्रश्नों के उत्तर

प्रगति की जाँच

उत्तर: 1. सत्य

उत्तर: 2. असत्य

उत्तर: 3. असत्य

उत्तर: 4. सत्य

9.10 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. रामचंद्र शुक्ल की काव्यशास्त्र समीक्षा - राजकमल प्रकाशन, 2018
2. हिंदी साहित्य का इतिहास: आचार्य शुक्ल के दृष्टिकोण पर एक अध्ययन - भाषा विज्ञान प्रकाशन, 2022
3. आचार्य रामचंद्र शुक्ल का साहित्य और समाज - शारदा प्रकाशन, 2019
4. आचार्य रामचंद्र शुक्ल और हिंदी आलोचना - राधाकृष्ण प्रकाशन, 2021

9.11 अभ्यास प्रश्न

1. आचार्य रामचंद्र शुक्ल के अनुसार साहित्य का मुख्य उद्देश्य क्या होना चाहिए? उनके लोकमंगल के दृष्टिकोण को स्पष्ट करें।
2. शुक्ल जी ने सगुणवाद को क्यों महत्व दिया? उनके दृष्टिकोण में निर्गुणवाद का क्या स्थान है?
3. आचार्य शुक्ल का रहस्यवाद के प्रति क्या दृष्टिकोण था? उन्होंने इसे क्यों विदेशी प्रभाव माना?
4. आचार्य रामचंद्र शुक्ल के अनुसार छायावाद और रहस्यवाद की क्या सीमाएँ थीं? उन्होंने इन्हें भारतीय काव्य परंपरा से क्यों बाहर माना?
5. आचार्य शुक्ल ने तुलसीदास की काव्य रचनाओं को कैसे परिभाषित किया और इन्हें भारतीय काव्य का आदर्श क्यों माना?

इकाई 10

आचार्य नंददुलारे बाजपेयी

10.1 प्रस्तावना
10.2 उद्देश्य
10.3 रस निष्पत्ति
10.4 साधारणीकरण की सीमा
10.5 आचार्य शुक्ल से मत वैभिन्य व छायावाद की प्रतिष्ठा
10.6 प्रगतिवादी साहित्य का चिंतन
10.7 प्रयोगवादी साहित्य का चिंतन
10.8 विभिन्न वादों पर चिंतन
10.9 सार - संक्षेप
10.10 मुख्य शब्द
10.11 स्वप्रगति परीक्षण प्रश्नों के उत्तर
10.12 संदर्भ ग्रंथ सूची
10.13 अभ्यास प्रश्न

10.1 प्रस्तावना

आचार्य नंददुलारे बाजपेयी हिंदी साहित्य के महान आलोचक, कवि और साहित्यकार थे, जिनका साहित्यिक योगदान अपार और अमूल्य है। उन्होंने हिंदी साहित्य के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई और उसे नई दिशा देने का कार्य किया। उनकी आलोचनात्मक दृष्टि और काव्यशास्त्र पर गहरी समझ ने उन्हें एक विशिष्ट स्थान दिलाया। इस इकाई में हम उनके जीवन, कार्य, और विचारधारा पर चर्चा करेंगे, ताकि हम उनके साहित्यिक दृष्टिकोण और हिंदी

साहित्य के प्रति उनके योगदान को सही तरीके से समझ सकें। आचार्य नंददुलारे बाजपेयी का साहित्यिक धरोहर न केवल उनके समय का प्रतिबिंब है, बल्कि यह हिंदी साहित्य के विकास में एक मील का पत्थर भी है।

10.2 उद्देश्य

प्रिय शिक्षार्थियों, इस इकाई के अध्ययन के बाद आप निम्नलिखित पहलुओं को समझ सकेंगे:

- आचार्य नंददुलारे बाजपेयी के जीवन और साहित्यिक योगदान को।
- आचार्य बाजपेयी की आलोचनात्मक दृष्टि और काव्यशास्त्र में नवीनीकरण के कारण उनके योगदान को।
- हिंदी साहित्य में उनके रचनात्मक और आलोचनात्मक दृष्टिकोणों के महत्व को।
- हिंदी कविता और आलोचना के क्षेत्र में उनके योगदान से उत्पन्न महत्वपूर्ण बदलावों को।
- आचार्य बाजपेयी की साहित्यिक दृष्टि को समझकर हिंदी साहित्य की प्रगति में उनके योगदान को पहचानने की क्षमता।

10.3 रस निष्पत्ति

भरतमुनि के रस सूत्र 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगातद्रनिष्पतिः' में 'संयोग' और 'निष्पत्ति' का अर्थ समझाने के लिए चार आचार्यों भट्ट लोल्लट, शंकुक, भट्टनायक एवं अभिनव ने अपनी-अपनी व्याख्याएं प्रस्तुत कीं। आचार्य वाजपेयी ने इन चारों व्याख्याओं की विस्तार से समीक्षा की है। भट्ट लोल्लट के उत्पत्तिवाद, शंकुक का अनुमितिवाद, भट्टनायक के भुक्तिवाद एवं अभिनवगुप्त के अभिव्यक्तिवाद इन चारों वादों को आधुनिक मनोवैज्ञानिक या सौंदर्यशास्त्र संबंधी

दृष्टि से देखने की भी आवश्यकता है तथा जिस तार्किक क्रम में ये मत उपस्थित किए गए हैं, जिस तरह इन्हें सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया गया है उससे यह पता चलता है कि शास्त्रकारों को इनके मूल में मौलिकता और तात्विकता का अनुभव हुआ होगा, ऐसा आचार्य वाजपेयी का मानना है। वे यह भी कहते हैं कि जिस प्रकार वेदांत मत के रहते हुए भी अपने-अपने स्थान पर मीमांसा, न्याय और सांख्य मतों की भी पूर्ण प्रतिष्ठा है, उसी प्रकार अभिनवगुप्त के ध्वनिमत का निरूपण हो जाने पर भी पूर्ववर्ती तीनों आचार्यों की उपपत्तियां निरी निरर्थक नहीं हो जाती हैं। चारों मतों की समीक्षा के उपरांत आचार्य वाजपेयी इनका महत्वपूर्ण स्थान निर्धारित करते हुए कहते हैं- "चारों मत क्रमशः काव्य की प्रेषणीयता और काव्य-रस के आस्वादन की समस्या को समझाने का प्रयत्न करते हैं और उनमें से प्रत्येक मत समस्या के एक-एक पहलू को लेकर आगे बढ़ता है।

कवि-कल्पित नायक से लेकर अभिनेता के नाट्य-प्रदर्शन, सहृदय के भावन और काव्य की ध्वन्यात्मकता के पक्षों की व्याख्या करने वाले ये मत, हमारी दृष्टि में काव्य की एक अत्यंत आवश्यक समस्या के उद्घाटन की एक क्रमबद्ध योजना के रूप में उपस्थित किए गए हैं।" आचार्य वाजपेयी भट्टनायक के भुक्ति-सिद्धांत को शंकुक के अनुमति-सिद्धांत से एक कदम आगे मानते हैं।

स्वप्रगति परीक्षण

1. भरतमुनि के रस सूत्र में रस निष्पत्ति का आधार ",---------- ", --------- और ----------' है।
2. भट्ट लोल्लट का सिद्धांत '_____' के नाम से जाना जाता है।
3. अभिनवगुप्त का सिद्धांत '_____' के नाम से प्रसिद्ध है।

4. आचार्य वाजपेयी के अनुसार भट्टनायक के 'भुक्तिवाद' को '_____' के 'अनुमितिवाद' से एक कदम आगे माना गया है।

10.4 साधारणीकरण की सीमा

'साधारणीकरण' के संबंध में आचार्य वाजपेयी भट्टनायक से असहमति व्यक्त करते हुए अपना मत प्रस्तुत करते हैं कि "यह कहा जाना कि देवताओं और पूज्य व्यक्तियों के रति-भाव का साधारणीकरण प्रेक्षक को नहीं हो सकता, यह असाहित्यिक दलील है क्योंकि देवता या पूज्य चरित्र कवि और श्रोता दोनों के लिए समान पूज्य है। ऐसी अवस्था में कवि द्वारा वर्णित देवताओं का रतिभाव दर्शकों, श्रोताओं को उसी प्रकार प्रभावित करेगा, उसी भाव की सृष्टि करेगा, जिस भाव की अनुभूति कवि या नाटककार ने स्वतः की है। उससे भिन्न भाव की सृष्टि नहीं हो सकती। 'साधरणीकरण' का अर्थ रचयिता और उपभोक्ता (कवि और दर्शक) के बीच भावना का तादात्म्य ही है। साधारणीकरण वास्तव में कवि-कल्पित समस्त व्यापार का होता है, केवल किसी पात्र विशेष का नहीं।"

वाजपेयी जी ने विवेचन की तथ्यपरकता की दृष्टि से साधारणीकरण का अर्थ इस प्रकार स्पष्ट किया - "साधारणीकरण का अर्थ रचयिता और उपभोक्ता (कवि और दर्शक) के बीच भावना का तादात्म्य ही है। साधारणीकरण वास्तव में कवि-कल्पित समस्त व्यापार का होता है, केवल किसी पात्र विशेष का नहीं। इस तथ्य को न समझने के कारण ही साधारणीकरण के प्रश्न पर अनेक निरर्थक विवाद होते रहे हैं।"

10.5 आचार्य शुक्ल से मत वैभिन्य व छायावाद की प्रतिष्ठा

वाजपेयी जी को आधुनिक हिंदी समालोचना के क्षेत्र में महत्वपूर्ण स्थान प्रदान कराने में उनकी समीक्षा-कृति 'हिंदी साहित्य, बीसवीं शताब्दी' को सर्वप्रथम स्थान दिया जा सकता है। वाजपेयी जी ने पूर्वाग्रह अथवा दुराग्रह की भावना से दूर रह

कर एक निर्णायक समीक्षक के रूप में समालोच्य साहित्यकारों के संबंध में अपनी विवेकपूर्ण सम्मति निस्संकोच भाव से प्रकट की है। वे शुक्ल-युग की नैतिकता और मर्यादा में ही काव्य-समीक्षा का व्यापक रूप न देख कर उसे सौंदर्यमूलक स्वच्छंदतावादी दृष्टि से विवेचित करना अच्छा समझते हैं। वाजपेयी जी का हिंदी समीक्षकों की श्रेणी में विशेष महत्वपूर्ण स्थान है।

"काव्य का महत्व तो काव्य के अंतर्गत ही है, किसी भी बाहरी वस्तु में नहीं। सभी बाहरी वस्तुएं काव्य-निर्माण के अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थितियों का निर्माण कर सकती हैं, वे रचयिता के व्यक्तित्व पर विभिन्न प्रकार के प्रभाव डाल सकती है और डालती भी है, पर इन स्वीकृतियों के साथ हम यह अस्वीकार नहीं कर सकते कि काव्य और साहित्य की स्वतंत्र सत्ता है, उसकी स्वतंत्र प्रक्रिया है और उसकी परीक्षा के स्वतंत्र साधन हैं। काव्य तो मानव की उद्भावनात्मक या सर्जनात्मक शक्ति का परिणाम है। उसके उत्कर्ष-अपकर्ष का नियंत्रण बाह्य-स्थूल व्यापार या बाह्य बौद्धिक संस्कार और आदर्श थोड़ी ही मात्रा में कर सकते हैं।" यह वाजपेयी जी की प्रतिभा का ही चमत्कार था जिसने द्विवेदी-युग में कदर्शित किए गए छायावादी कवियों को साहित्य जगत में उच्च स्थान प्रदान किया और उनके काव्य-परीक्षण के लिए जिस प्रकार का प्रतिमान होना चाहिए, उसकी समालोचना क्षेत्र में प्रतिष्ठा की। इस दृष्टि से वे 'शुक्लोत्तर-युग' की प्रमुख प्रवृत्ति 'सौंदर्यमूलक स्वच्छंदतावाद' के प्रवर्तकों में से हैं और कालांतर में इस समीक्षा-धारा ने जो विकास किया है. उसके अधिकांश तत्वों के निर्माण का श्रेय आचार्य वाजपेयी जी को है।

वाजपेयी जी की समालोचनाओं का एक प्रमुख अंश साहित्य के क्षेत्र में समय-समय पर उद्भूत होकर विकास करने वाले विभिन्न वाद-प्रवादों की समीक्षा है। उन्होंने छायावाद, रहस्यवाद, परंपरावाद और प्रयोगवाद जैसे प्रमुख साहित्यिक वादों के साथ-साथ यथार्थवाद, आदर्शवाद, परंपरावाद, स्वच्छंदतावाद, अनुकृतिवाद और अभिव्यंजनावाद आदि काव्य-मतों का विवेचन अत्यंत प्रांजल शैली में किया

है। ये विवेचन उनकी अध्ययनशील प्रज्ञा और चिंतनशील विचारणा के मुख्य प्रतिबिंब है। वाजपेयी जी का छायावाद विषयक विवेचन तो अत्यंत प्रौढ़ और व्यापक धरातल पर अधिष्ठित है। उनके पूर्व जिन आचार्यों ने छायावाद की विवेचना की थी, उसमें उसके प्रति आक्रोश का स्वर ही उदात्त था, जिसका परिणाम यह हुआ कि छायावाद का सौंदर्य-पक्ष उनसे उद्घाटित नहीं हो सका। उस युग में छायावादी कवियों ने स्वयं उक्त वाद के विषय में अपनी धारणाएं व्यक्त कीं, किंतु उनके समर्थन की आवश्यकता सर्वत्र अनुभव की जा रही थी। वाजपेयी जी का छायावाद-विषयक विश्लेषण ऐसे समय में अत्यंत उपयुक्त सिद्ध हुआ। उन्होंने सर्वप्रथम तो उस भ्रांति के निवारण की चेष्टा की जिसके कारण छायावाद को भक्तिकालीन काव्य की भांति एक विशेष प्रकार की आध्यात्मिक दृष्टि से देखा जाता था और जिसके रचयिताओं का मानसिक संस्थान भक्त कवियों की कोटि में प्रक्षिप्त करने की एक विचार-परंपरा बन रही थी। वाजपेयी जी ने पर्याप्त प्रमाण देकर इस विषय का स्पष्टीकरण किया कि "छायावाद में भक्ति-काव्य की साकार वर्णनाओं के विपरीत निराकर पद्धति तो है ही, किंतु वे निराकार व्यंजनाएं भी कबीर जैसे ज्ञानमार्गी और जायसी जैसे सूफी कवियों से भिन्न कोटि की है।" सच तो यह है कि उनके मत से केवल 'अध्यात्मवाद' की तुलना से ही कवियों के मानसिक धरातल का विवेचन करने की अपेक्षा उन प्रेरक शक्तियों को विशेष महत्व दिया जाना चाहिए, जिनसे इस विषय का बोध हो सके कि काव्यकारों ने किस प्रकार का मौलिक विधान अपनी रचनाओं में प्रस्तुत किया है। उनका तो स्पष्ट निर्णय है कि 'नई छायावादी काव्य-धारा का भी एक आध्यात्मिक पक्ष है परंतु उसकी मुख्य प्रेरणा ध ार्मिक न होकर मानवीय ओर सांस्कृतिक है। उसे हम बीसवीं शताब्दी की वैज्ञानिक और भौतिक प्रगति की प्रतिक्रिया भी कह सकते हैं। वाजपेयी जी ने इसी विवेचन के प्रसंग में मध्यकालीन हिंदी काव्य और आधुनिक छायावादी काव्य के उन मौलिक विभेदों का पर्यवेक्षण भी किया है जिनके कारण 'मध्यकालीन काव्य की सीमा में मानव-चरित्र और

दृश्य-जगत अपने प्रकृत रूप में उपेक्षित ही रहे, जबकि नवीन काव्य में समस्त मानव-अनुभूतियों की व्यापकता पूरा स्थान पा सकी।'

10.6 प्रगतिवादी साहित्य का चिंतन

वाजपेयी जी की समालोचनाओं में किसी भी विषय को केवल सांप्रदायिक अथवा सीमित दृष्टिकोण से विवेचित करने की प्रवृत्ति का विरोध मिलता है। यद्यपि उनका मुख्य विवेच्य विषय आधुनिक साहित्य है, किंतु उन्होंने पुरातन साहित्य को भी नवीन प्रतिमानों में परीक्षित करने की आवश्यकता पर अधिक बल दिया है। वाजपेयी जी प्रगति को जीवन साहित्य की एक अनिवार्य प्रक्रिया मानते हुए उसकी संस्थिति प्रत्येक युग में अनिवार्य समझते हैं. क्योंकि उसके बिना हमारे सांस्कृतिक और सामाजिक जीवन में विकास की कल्पना ही नहीं की जा सकती। उन्होंने मनुष्य की सामाजिकता को महत्व देकर साहित्य को केवल व्यक्तिगत भावों के प्रदर्शन की ही भूमि नहीं माना है, अपितु उसका संबंध हमारी सामाजिक चेष्टाओं से भी जोड़ा है, जिनके कारण हमारे व्यक्तित्व को उन्नयन प्राप्त होता है। उनके मतानुसार व्यक्ति या समाज के बीच चलने वाले स्वाभाविक आदान-प्रदान को सचेत होकर ग्रहण करना काव्य-साहित्य को प्रगतिशील ही नहीं बनाता, अपितु उसे उत्थान भी प्रदान करता है। इस प्रकार उन्होंने प्रगतिशील साहित्य के लिए किन्हीं विशेष प्रकार की जीवन आस्थाओं अथवा बंधी बधाई परंपराओं में चलना अहितकर माना है, क्योंकि ऐसा करने से हम साहित्य के उस उदात्त लक्ष्य की अवहेलना कर देते हैं जिसके कारण उसे शाश्वत गौरव प्राप्त होता है।

वाजपेयी जी के प्रगतिशील साहित्य-विषयक विवेचन से स्पष्ट है कि वे प्रगति को जीवन के साथ ऐसे स्वरूप में संगठित करना उचित समझते हैं जिससे "जीवन संबंधिनी आधारभूत चेतना साहित्य से लुप्त न हो जाए, हम मृत्यु के अथवा अगति के उपासक न बन जाएं, निराशा और आत्मपीड़न को अर्ध्य न देने

लगें।" इससे उनका यह अभिप्राय नहीं कि "साहित्य में करुण रस अथवा ऊंचे आदर्श की कल्पनाओं का कोई स्थान नहीं है अपितु यह आशय अवश्य है कि 'साहित्य में आशा, निराशा, करुण और वीर आदि के लिए समान स्थान है किंतु उनकी नियोजना प्रगतिमूलक और उद्देश्यमूलक होनी चाहिए। उन्होंने साहित्य का युग जीवन के साथ संबंध स्वीकार किया है किंतु वे यह उचित नहीं समझते कि युग-जीवन की निराशा के पीछे हम आत्मविस्तृत हो जाएं। सच तो यह है कि उन्हें मृत्यु से अधिक वरेण्य जीवन लगता है अतः प्रगतिशील साहित्य में उसका अभिव्यंजन ऊर्जस्वित रूप में किया जाना हो सर्वथा समीचीन है।

वाजपेयी जी ने बुद्धिवादी सूत्र के आधार पर कुछ मनोवैज्ञानिक निदर्शन प्रस्तुत करते हुए अति श्रृंगारोन्मुख, अति उदासीन, केवल कौतूहलपूर्ण तथा केवल मनोरंजक प्रवृत्तियों को प्रगतिमूलक नहीं माना है। उनका तो स्पष्ट कहना है कि 'बाह्य संघर्ष की अपेक्षा बौद्धिक और मानसिक संघर्ष का प्रगतिशील साहित्य में अधिक महत्व है। उन्होंने प्रगतिशील साहित्य को समय सापेक्ष निर्दिष्ट कर ऐसे तीन सूत्रों की आयोजना की है जिसके द्वारा प्रगतिशील साहित्य का स्वरूप अधिक स्पष्टता से समझा जा सकता है। उन सूत्रों में-पहला सूत्र आत्मचेतना या जीवन-चेतना का है जिसके अभाव में साहित्य अथवा कला का वास्तविक निर्माण हो ही नहीं सकता। उन्होंने प्रगतिशील साहित्य का दूसरा सूत्र यह माना है कि वह परिवर्तन के क्रम को समझते हुए नवीन समस्याओं के संपर्क में आए और नवीन ज्ञान का उपयोग करना जाने। तीसरे सूत्र के अंतर्गत उन्होंने कला-निर्माण के पक्ष को महत्व दिया है। इन तीनों सूत्रों में उन्हें प्रगतिशील साहित्य की बाह्य तथा आभ्यंतरिक विशेषताओं का संपूर्ण संयोजन मिला है, जिसको स्वीकार करते हुए चलने से किसी भी प्रकार की रूढ़ि का साहित्य में संचार नहीं हो सकता और वह अधिकाधिक उत्थानमूलक बन सकता है। वाजपेयी जी ने इन तीनों सूत्रों के संबंध में होने वाली भ्रांतियों का भी निराकरण किया है और बतलाया है कि आधुनिक युग में समाजवादी विचारों का क्षेत्र श्रेष्ठ साहित्य के लिए सर्वाधिक

उपयुक्त है, किंतु वह किसी विशेष प्रकार की संकीर्ण मतवादी धारा के अंतर्गत संकुचित होकर नहीं प्रकट होना चाहिए। सच तो यह है कि वाजपेयी जी के मतानुसार कला का लक्ष्य प्रचार न होकर सृष्टि होता है और कला की प्रगतियां नई प्राण-प्रतिष्ठा, नए तौर-तरीके (टैक्नीक), नूतन छंद, नवीन भाषा और नई भावाभिव्यक्ति आदि है जो विशुद्ध साहित्यिक स्वरूप में प्रकट होती है। वे काव्यात्मक सृजन और प्रयोग में मौलिक अंतर मानते हैं और उनके मतानुसार कवि का सर्वप्रथम उत्तरदायित्व अपनी रसात्मक अनुभूतियों के प्रति होता है जबकि प्रयोग को ही सब कुछ मानने वाला साहित्यकार उसकी मूल चेतना से बहुत अधिक दूर और हटा हुआ रहता है।

10.7 प्रयोगवादी साहित्य का चिंतन

वाजपेयी जी का प्रयोगवाद-विषयक विवेचन अत्यंत व्यापक और युक्ति संगत है। प्रयोगवाद के संबंध में उनके विचारों का निष्कर्ष इस प्रकार है -

'प्रयोगवाद हिंदी में बैठे-ठाले का धंधा बन कर आया था। प्रयोक्ताओं के पास न तो काव्य-संबंधी कोई कौशल था और न किसी प्रकार की कथनीय वस्तु थी। धीरे-धीरे इस मजाक में भी सच्चाई जान पड़ने लगी और कुछ लोग इस अर्थहीन वस्तु में भी एक नए 'वाद' की संभावना देखने लगे। क्रमशः यह भाषा संबंधी बीहड़ प्रयोगों का अड्डा बन गया जिससे पाठकों को भी थोड़ी बहुत दिलचस्पी होने लगी। आगे चलकर इसमें टी.एस. इलियट की शैली में आधुनिक जीवन के खोखलेपन का परिचय कराया जाने लगा। यह वाद हिंदी में आरंभ से ही मध्यवर्ग के हार खाए और फिर भी शौकीन तबियत वाले व्यक्तियों के हाथ में रहा है। पिछले कुछ दिनों से इसमें इन निष्क्रिय व्यक्तियों की निराशा और गिरा हुआ मन प्रतिबिंबित होने लगा है। आश्चर्य नहीं, यदि निकट भविष्य में यह वही रंगत धारण करे जो पश्चिम में अति यथार्थवादियों की रचनाओं ने धारण किया है।'

10.8 विभिन्न वादों पर चिंतन

उन्होंने धार्मिक और नैतिक मूल्यों को प्रधानता देकर चलने वाले आदर्शवाद के लिए यथार्थ दृष्टि की आवश्यकता अनिवार्य बतलाई है तो आधुनिक यथार्थवाद में मार्क्सवादी द्वंद्वात्मक भौतिकवाद तथा फ्रायड और एडलर के सिद्धांतों के अनुयायी अंतश्चेतनावाद के दुर्बल पक्ष का भी उद्घाटन किया है जिनके अध्ययन से वाजपेयी जी के इन वादों की साहित्यगत महत्ता विषयक विचारों का सहज ही बोध हो जाता है।

वाजपेयी जी ने पश्चिमी काव्यमत के मूल प्रेरक अनुकृतिवाद का विश्लेषण प्लेटो हिं और अरस्तू की विचारधारा के अनुरूप किया है जो सामान्यतः परिचय-मूलक कहा जा सकता है। उन्होंने क्रोचे के अभिव्यंजनावाद का विश्लेषण करने के पूर्व यूरोपीय काव्य-शास्त्र के क्षेत्र में किए गए लैसिंग, विंकैलमेन तथा कांट के उन सौंदर्यमूलक और कालाभिव्यंजक विचारों का उद्घाटन किया है जिनसे क्रोचे को काव्यगत अभिव्यंजनावाद की प्रतिष्ठा करने में प्रेरणा मिली है। उनके क्रोचे के अभिव्यंजनावाद विषयक विवेचन में उक्त वाद की प्रमुख विशेषताओं के साथ-साथ इस विषय का भी सामान्य निरूपण हो गया है जो क्रोचे के अभिव्यंजनावाद के संबंध में आक्षेप करते हुए विवेचित किए जाते हैं। इसी प्रकार पश्चिमी साहित्य में परंपरा (क्लेसीसिज्म) और स्वच्छंदता (रोमेंटिसिज्म) संबंधी जिन दो प्रमुख काव्य-शैलियों का युग-परिस्थिति के अनुकूल जिस रूप में विकास हुआ है उनका मूल विभेद स्पष्ट करते हुए उन्होंने यह बतलाया है कि 'प्रथम प्रकार की शैली में वस्तु और शैली दो पृथक सत्ताएं हैं जबकि द्वितीय प्रकार की शैली में काव्य की मूल वस्तु

भावना है जिसके अंतर्गत उसके अन्य उपादान सन्निविष्ट किए जा सकते हैं।' पश्चिम के इन विभिन्न काव्य-मतों के अतिरिक्त वाजपेयी जी ने भारतीय काव्य-मतों का भी विश्लेषण किया है, जिनमें 'अलंकारमत, रीतिमत, गुणमत, वक्रोक्तिमत, ध्वनिमत और रसमत' प्रमुख हैं।

10.9 सार - संक्षेप

आचार्य नंददुलारे बाजपेयी का जीवन और कार्य हिंदी साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। वे न केवल एक प्रभावशाली आलोचक थे, बल्कि कवि और निबंधकार भी थे, जिन्होंने साहित्यिक आलोचना की नई परिभाषा दी। उनके योगदान में मुख्य रूप से काव्यशास्त्र, आलोचना और हिंदी साहित्य के समृद्ध इतिहास का समावेश है। उनकी आलोचनात्मक दृष्टि और सिद्धांतों ने हिंदी साहित्य के पाठकों को नए दृष्टिकोण से सोचने के लिए प्रेरित किया। आचार्य बाजपेयी के विचारों में भारतीय काव्यशास्त्र और पश्चिमी साहित्यशास्त्र का मेल हुआ, जिससे उन्होंने साहित्य के अध्ययन को एक व्यापक दृष्टिकोण दिया। उनका साहित्य न केवल आलोचना की बारीकियों को उजागर करता है, बल्कि यह हिंदी साहित्य की समृद्धि और विकास के लिए प्रेरणास्त्रोत भी है। इस इकाई में आचार्य नंददुलारे बाजपेयी के जीवन, कार्य और उनकी साहित्यिक धरोहर का अध्ययन किया गया है, जिससे उनकी प्रभावशाली उपस्थिति को पूरी तरह से समझा जा सकता है।

10.10 मुख्य शब्द

- आलोचना - साहित्य या कला की गहराई से समीक्षा और विश्लेषण। आलोचक किसी रचनात्मक कार्य के गुण और दोष का अध्ययन करके उस पर अपने विचार व्यक्त करते हैं।

- साहित्यिक इतिहास - साहित्य के विभिन्न कालों, शैलियों और लेखकों का अध्ययन। यह साहित्य के विकास और इसके प्रभावों को समझने में मदद करता है।
- सिद्धांत - कोई निश्चित विचारधारा या दर्शन जो किसी क्षेत्र में नियमों या प्रक्रियाओं का निर्धारण करता है। आचार्य बाजपेयी ने आलोचना के सिद्धांतों का विकास किया।
- पश्चिमी साहित्यशास्त्र - पश्चिमी देशों द्वारा विकसित साहित्य और उसकी आलोचना के सिद्धांत। यह दृष्टिकोण भारतीय साहित्य से भिन्न है और इसका अध्ययन हिंदी आलोचना में आचार्य बाजपेयी ने किया।
- धार्मिक साहित्य - वह साहित्य जो धार्मिक या आध्यात्मिक विचारों और सिद्धांतों पर आधारित होता है।
- सांस्कृतिक आलोचना - समाज और संस्कृति के संदर्भ में साहित्य का विश्लेषण। इसमें साहित्य को सांस्कृतिक संदर्भ में समझने की कोशिश की जाती है।
- तात्त्विक आलोचना - किसी साहित्यिक रचना का तात्त्विक और तात्त्विक दृष्टिकोण से विश्लेषण। इसमें रचनात्मकता, कला, और विचारधारा पर गहराई से चर्चा होती है।
- वस्तुनिष्ठ आलोचना - साहित्य या कला के कार्य को उसके बाहरी गुणों और वस्तुनिष्ठ तथ्यों के आधार पर मूल्यांकित करने की विधि। इसमें आलोचक का व्यक्तिगत प्रभाव कम होता है।
- साहित्यिक संवाद - साहित्यकारों के बीच या साहित्य और समाज के बीच विचारों का आदान-प्रदान। यह साहित्यिक विकास को प्रेरित करता है।

10.11 स्वप्रगति परीक्षण प्रश्नों के उत्तर

प्रगति की जाँच

उत्तर: 1. विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव

उत्तर: 2. उत्पत्तिवाद

उत्तर: 3. अभिव्यक्तिवाद

उत्तर: 4. शंकुक

10.12 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. आचार्य नंददुलारे बाजपेयी की साहित्यिक आलोचना, राजकमल प्रकाशन, 2003
2. साहित्य और समाज: आचार्य नंददुलारे बाजपेयी का योगदान, हिंदी साहित्य संस्थान, 2007
3. हिंदी साहित्य में आचार्य नंददुलारे बाजपेयी की भूमिका, वाणी प्रकाशन, 2011
4. आधुनिक हिंदी आलोचना में आचार्य नंददुलारे बाजपेयी, पेंग्विन इंडिया, 2015
5. आचार्य नंददुलारे बाजपेयी की काव्यधारा, पुस्तक मंडल, 2018

10.13 अभ्यास प्रश्न

1. आचार्य नंददुलारे बाजपेयी की आलोचना पद्धति के प्रमुख तत्व क्या थे? उनके दृष्टिकोण में साहित्य का उद्देश्य क्या था?
2. आचार्य नंददुलारे बाजपेयी के साहित्यिक पुनर्निर्माण के दृष्टिकोण को किस प्रकार परिभाषित किया जा सकता है? उदाहरण के साथ स्पष्ट करें।
3. आचार्य नंददुलारे बाजपेयी के धार्मिक साहित्य के प्रति दृष्टिकोण पर विचार करें। उन्होंने किस प्रकार धार्मिक और सांस्कृतिक संदर्भों में साहित्य को समझा?

4. 'सांस्कृतिक आलोचना' के अंतर्गत आचार्य नंददुलारे बाजपेयी के दृष्टिकोण को किस प्रकार व्याख्यायित किया जा सकता है?
5. आचार्य नंददुलारे बाजपेयी ने तात्त्विक आलोचना की अवधारणा को कैसे परिभाषित किया और इसे साहित्य के अध्ययन में क्यों महत्वपूर्ण माना?

इकाई 11

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी

11.1 प्रस्तावना

11.2 उद्देश्य

11.3 रस सम्बन्धी दृष्टिकोण

11.4 रस व् अलंकार चिंतन

11.5 भाषा समस्या का स्वरुप

11.6 प्रगतिवादी साहित्यालोचन

11.7 सौंदर्य व् संस्कृति बोध

11.8 सार - संक्षेप

11.9 मुख्य शब्द

11.10 स्वप्रगति परीक्षण प्रश्नों के उत्तर

11.11 संदर्भ ग्रंथ सूची

11.12 अभ्यास प्रश्न

11.1 प्रस्तावना

उत्तर प्रदेश के बलिया जिला में जन्मे आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी हिंदी के लब्धप्रतिष्ठ लेखक व समालोचक रहे हैं। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' उनकी प्रसिद्ध उपन्यास कृति है। 'हिंदी साहित्य का आदिकाल', एवं 'कबीर' इनके समालोचनात्मक ग्रंथों में विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। आचार्य द्विवेदी आधुनिक काल के सर्वश्रेष्ठ निबंधकारों, इतिहासकारों में गिने जाते हैं। आधुनिक समीक्षकों में उनका नाम अग्रगण्य है। उनके उपन्यास कम किंतु अत्यंत रोचक और महत्वपूर्ण हैं। यद्यपि वे मूलतः काव्यशास्त्री नहीं हैं किंतु काव्यशास्त्र और

काव्यात्मवाद पर लिखे गए उनके कुछ निबंध हमें काव्यशास्त्र से संबंधित उनके मतों का परिचय देते हैं।

आचार्य द्विवेदी रसवादी प्रतीत होते हैं। उनके गद्य साहित्य की सरसता भी यही दर्शाती है इसलिए उनके निबंध ललित निबंधों की श्रेणी में रखे जाते हैं। आचार्य द्विवेदी 'काव्य रस की परंपरा' नामक निबंध में नंदिकेश्वर से आरंभ कर रीतिकाल तक रस की परंपरा पर चर्चा करते हैं। संस्कृत आचार्यों के मतों और सूत्रों पर विवेचन प्रस्तुत करते हैं। इसमें उन्होंने काव्यशास्त्रीय और कामशास्त्रीय विनोदों के मिलते-जुलते स्वरूप को देखकर कहा- "काव्य को केवल काव्यशास्त्र ने ही नहीं प्रभावित किया है, कामसूत्र ने भी किया है, अतः इन वैनोदिक सामग्रियों का कामशास्त्र से मिलना न तो आश्चर्य का कारण है और न कामशास्त्रीय वैनोदिक प्रकरण और काव्यशास्त्रीय वैनोदिक प्रकरण की एकता की ही निशानी है।" आचार्य द्विवेदी कहते हैं कि भरत के पूर्ववर्ती काल में 'रस' शब्द का अर्थ श्रृंगार ही समझा जाता था। जो परवर्ती काल में पूरी तरह अमान्य नहीं हुआ।

11.2 उद्देश्य

प्रिय शिक्षार्थियों, इस इकाई के अध्ययन के बाद आप निम्नलिखित पहलुओं को समझ सकेंगे:

- आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के साहित्यिक योगदान और उनके विचारों का विश्लेषण।
- रस और अलंकार के सिद्धांतों को समझना, जैसे कि आचार्य द्विवेदी ने इन्हें प्रस्तुत किया।
- काव्य, रस, और सहृदयता के बीच संबंध को जानना।
- आचार्य द्विवेदी के अनुसार साहित्य का उद्देश्य क्या होना चाहिए, इसे समझना।

- प्रगतिवाद और उसकी साहित्यिक सीमाओं पर आचार्य द्विवेदी की आलोचना का विश्लेषण।
- भारतीय काव्यशास्त्र और साहित्यिक चिंतन की आधुनिक और पारंपरिक व्याख्याओं के बीच संतुलन को समझना।

11.3 रस सम्बन्धी दृष्टिकोण

रवीन्द्रनाथ की काव्य परिभाषाओं का उल्लेख करते हुए आचार्य द्विवेदी 'रस' को परिभाषित करते हैं-"हम जो कुछ देखते हैं, सुनते हैं, जानते हैं, उसके साथ जब अनिर्वचनीय का योग होता है तो हम उसे 'रस' कहते हैं, अर्थात वह वस्तु जिसे हम अनुभव करते हैं पर व्याख्या द्वारा समझा नहीं सकते है।" रसानुभूति के विषय में उनका मत उल्लेखनीय है, "आधुनिक पाठक रस को अनुभूति के लिए काल्पनिक नर-नारियों की सृष्टि नहीं करता, अपने संचित अनुभवों का हो प्रयोग करता है। भारतीय अलंकार शास्त्रों की चरितार्थता इसी में है कि उन्होंने काव्यार्थ को समझने के लिए वैज्ञानिक मान निश्चय करने का मार्ग दिखाया है। मेरा निश्चित मत है कि हमारे अलंकारशास्त्र रसबोध में सहायक हैं, बाधक नहीं। यदि कोई सचमुच भारतीय साहित्य का रस अनुभव करना चाहे तो उसे भारतवर्ष के चिरसंचित संस्कारों का अध्ययन अवश्य कर लेना चाहिए। जब हम देश और काल के विश्वासों को ठीक-ठाक समझ लेंगे, तभी उनके आधार पर रचित साहित्य के अनाविल रस रूप का परिचय पा सकेंगे।"

• साधारणीकरण विचार

सहृदय एवं साधारणीकरण के संबंध में आचार्य द्विवेदी कहते हैं-"काव्य के शब्दों में पाठक को रजोगुण और तमोगुण के पचड़े से हटाकर सत्वस्थ करने की शक्ति होती है। उसे आनंद के साथ उसके सहवर्ती स्थूल उपादानों की लपेट में नहीं आना पड़ता। उसका आनंद विशुद्ध मानसिक आनंद होता है। जिस सहृदय के हृदय में स्थायी भावों की अनुभूति जितनी ही अधिक होगी. वह उतने ही गाढ़े

भाव से रस का अनुभव कर सकेगा। जो साहित्य शास्त्र का मर्मज्ञ है, उसी के चित्त में कवि की सरस वाणी प्रसार पाती है। कवि का रस-लोक अपने आप में परिपूर्ण नहीं होता। उसे मनुष्य का ग्राहक हृदय चाहिए। सहृदय चित्त ही उसका आनंद ले सकता है।" आचार्य द्विवेदी कहते हैं कि "रस विश्वजनीन होता है। उसमें कोई वैयक्तिक राग-द्वेष नहीं होता। रस-बोध के समय सहृदय विभावों के साथ अपना अभेद अनुभव करता है। अभेद की अनुभूति में कोई बाधा पड़े तो रसानुभव असंभव हो जाता है।

• द्विवेदी जी की रचना

'पुनर्नवा' में आचार्य देवराज कहते हैं-शब्द का अर्थ केवल वक्ता की इच्छा का विषय नहीं है (वक्तुरिच्छा हि तात्पर्यम्) श्रोता और संदर्भ भी उसमें कुछ न कुछ जोड़ते घटाते रहते हैं। मैं जब कभी अपनी व्याकुलता छंदों की भाषा में अभिव्यक्त करना चाहता हूं तो सुनने वाले उसका ठीक अर्थ नहीं समझते। कुछ न कुछ वह बदलकर ही उन तक पहुंचती है। मेरे हृदय के साथ जिसका हृदय एकतान हो गया वही मेरी बात पूरी तरह समझ पाएगा। ऐसे समान हृदय वाले कम ही होते हैं, बहुत कम। मैं ऐसे ही लोगों को 'सहृदय' कहता हूं। हृदय के अतल गांभीर्य की वेदना ऐसे सहृदय ही समझ सकते हैं। इस प्रसंग से द्विवेदी जी ने इस सहृदय शब्द की व्याख्या तो की ही साथ ही इस भ्रम का निवारण भी किया है कि व्यवहार में वक्ता का अभिप्रेत अर्थ ही शब्दार्थ होता है।

स्वप्रगति परीक्षण

नीचे दिए गए प्रत्येक कथन को ध्यानपूर्वक पढ़ें और सत्य अथवा असत्य का चयन करें -

1. आचार्य द्विवेदी के अनुसार रस विश्वजनीन होता है और उसमें कोई वैयक्तिक राग-द्वेष नहीं होता।
2. 'पुनर्नवा' में आचार्य देवराज ने शब्द का अर्थ केवल श्रोता की इच्छा का विषय माना है।

3. आचार्य द्विवेदी के मतानुसार, रसानुभव के समय विभावों के साथ सहृदय का अभेद अनुभव बाधा रहित होता है।
4. आचार्य द्विवेदी के अनुसार, रस का आनंद स्थूल उपादानों से युक्त होता है।

11.4 रस व् अलंकार चिंतन

रसानुभूति का आनंद उस आनंद के समान है जो योगियों को अनुभव होता है। यद्यपि अपने ही चित्त का पुनः पुनः अनुभूत स्थायी-भाव अपने आकार के समान ही अभिन्न है, तथापि काव्य-नैपुण्य से वह गोचर किया जा सकता है, आस्वादन ही इसका प्राण है, विभावादि हिंदी 3 के रहने पर ही यह रहता है। रस व्यंग्य है वाच्य नहीं। रस निर्वैयक्तिक ओर अलौकिक होता है। रस आस्वादयिता के बाहर नहीं होता।" रस ब्रह्मानंद सहोदर है। यही काव्य की आत्मा है।

द्विवेदी जी कहते हैं-"समूचा भारतीय काव्य-साहित्य 'रस' को प्रत्यक्ष करने का प्रयत्न है। यद्यपि ध्वनि-संप्रदाय अन्यान्य अलंकार संप्रदायों की अपेक्षा नवीन था तथापि 'रस' के प्राचीन सिद्धांत को आत्मसात करने की शक्ति उसी में थी। रस प्रकृत्या ही व्यंजनीय है उसे ध्वनि के अंतर्गत ही आना चाहिए था। यह तो हमें नहीं मालूम कि ध्वनिकार का दावा कि 'काव्य की आत्मा ध्वनि है', यह सिद्धांत पूर्वाचार्यों का है, कहां तक ठीक है, परंतु इसमें कोई संदेह नहीं कि भरतमुनि के ग्रंथ में रस-ध्वनि का बीज हमें मिल सकता है।" रस की महत्ता के साथ औचित्य को भी महत्व प्रदान करते हुए आचार्य द्विवेदी मानते हैं कि साहित्य ही मानव जाति की अंतर्निहित एकता को स्थापित करने में सहयोगी सिद्ध होता है। मानवीय संस्कृति की नींव को मजबूत करता है। इसके लिए शब्द और अर्थ के औचित्य को समझना होगा। काव्य स्थूल जगत से विच्छिन्न होकर नहीं रह सकता। शब्द और अर्थ ही उसके शरीर हैं। अर्थ शब्दों द्वारा सूचित बाह्य सत्ता को प्रकट करते हैं।" एक व्यक्ति के चित्त में स्थित अर्थ को

दूसरे के चित्त में प्रवेश कराके ही शब्द सार्थक होता है। यहां अर्थ को दूसरे के चित्त में प्रवेश कराने की प्रक्रिया में औचित्य आवश्यक है। वरना अर्थ, अनर्थ में या निरर्थक भी सिद्ध हो सकता है।

अलंकारों पर आचार्य द्विवेदी की संक्षिप्त और सतर्क टिप्पणी है कि "अर्थ-भारहीन शब्दालंकार न तो काव्य में गाढ़ अनुभूति ही पैदा करते हैं, और न संगीत का प्रवाह ही। वे दोनों के केवल घटिया प्रभाव भर उत्पन्न करते हैं। परंतु जहां शब्दालंकार में अर्थ-भार बना रहता है, वहां वे काव्यगत प्रभाव में संगीत की सहज गति भर देते हैं। परंतु अर्थालंकार शब्द के प्राणप्रद और विशेषाधान-हेतुक, दोनों ही धर्मों में गाढ़ अनुभूति कर रस ले आते हैं। अर्थालंकार जब आवेग सहचर होकर आते हैं, तो वाक्य में अधिक ऊर्जस्वल तेज भर देते हैं पर जब आवेगहीन होकर आते हैं, तो चमत्कारी उक्ति भर रह जाते हैं।" आचार्य द्विवेदी काव्यात्मवाद संबंधी चर्चा में 'रस' को महत्व देते हैं तथा भक्ति रस और उसके स्वरूप मधुर रस को ही सर्वश्रेष्ठ मानते हैं। आत्मा द्वारा अनुभूत यह अलौकिक रस ही उन्हें भाता है। उनके निबंधों में यह सरसता देखी जा सकती है, अनुभव की जा सकती है। आचार्य द्विवेदी की काव्यात्मवाद संबंधी मान्यताएं, विशेष रूप से रस संबंधी चिंतन महत्वपूर्ण है।

आचार्य पं. हजारीप्रसाद द्विवेदी ने विशेष अवसरों पर जो अपने साहित्यिक और समीक्षात्मक निबंध लिखे थे, उनके संकलन उनकी विविध समीक्षा कृतियों के रूप में प्रकाशित हुए हैं। हमारी 'साहित्यिक समस्याएं' नामक पुस्तक उनकी एक ऐसी ही रचना है जिसमें द्विवेदी जी ने सैद्धांतिक निरूपण के साथ-साथ अपनी निजी मान्यताओं का भी विश्लेषण किया है।

द्विवेदी जी ने सर्वप्रथम भारतवर्ष की भाषा समस्या को अपनी समालोचना का विषय बनाया है। उनका कहना है कि आज जिस रूप में इस समस्या को स्वरूप प्रदान किया जा रहा है, वह अत्यंत हेय और घृणित है। उनका मूल मंतव्य यही है कि संस्कृत भाषा और साहित्य को अंतस्थ किए बिना हिंदी भाषा भी हमारी

वर्तमान समस्या को नहीं सुलझा सकती, क्योंकि संस्कृत भाषा साहित्य की ज्ञान-राशि हमारी संस्कृति के अंग प्रत्यंग में रमी हुई है। वे हिंदी भाषा की शक्ति पर भी मुग्ध हैं और उन्हें भारतीय साहित्य में एक ऐसी चेतना और जीवंतता मिलती है जिसके कारण वह भारत को ही नहीं अपितु विश्व-जीवन को भी भव्यतम मार्गदर्शन करा सकता है।

11.5 भाषा समस्या का स्वरुप

द्विवेदी जी का साहित्य का मूल्यांकन संबंधी दृष्टिकोण अत्यंत उदार और प्रगतिशील है। यद्यपि उनका प्राचीन शास्त्रीयता का अध्ययन अत्यंत गंभीर और व्यापक है, किंतु आज के प्रगतिशील युग में वे उसकी सीमाओं से भी अपरिचित नहीं है। उनकी मान्यता है कि बिना नूतन साहित्यिक दृष्टिकोण को स्वीकार किए हम अपने आधुनिक साहित्य की समालोचना कर ही नहीं सकते और जो समालोचक अपनी रूढ़िग्रस्तता और संकीर्णता में ही उलझे हुए हैं उनमें साहित्य के सच्चे मूल्यांकन के स्थान पर समस्याओं को ही प्रश्रय देने की प्रवृत्ति है। द्विवेदी जी के अनुसार साहित्य-निर्माण का लक्ष्य भी अत्यंत पावन और आदर्शपूर्ण होना चाहिए जिससे मनुष्य दैवी गुणों की उपलब्धि की ओर उन्मुख हो। उनकी विचारधारा में वह साहित्य हीन श्रेणी का है जो केवल वाग्विलास के संकीर्ण क्षेत्र को लेकर चलता है। वे साहित्यकार की शक्ति को इतनी अद्भुत मानते हैं जिसके द्वारा महान् सांस्कृतिक क्रांतियां की जा सकती हैं और हमारा सामाजिक स्तर बहुत ऊंचा उठाया जा सकता है।

11.6 प्रगतिवादी साहित्यालोचन

द्विवेदी जी प्रगतिशील साहित्य के विरोधी नहीं, किंतु उसके समर्थकों की उस नीति के अवश्य विरोधी हैं जिसके द्वारा वे साहित्य की सार्वजनीनता को वर्ग, क्लास या श्रेणी का नाम लेकर धूमिल बना देते हैं। साथ ही साथ उनका यह भी

कहना है कि प्रगतिवाद की धुन में अपने सहस्रों वर्षों की ज्ञान राशियों को केवल पूंजीवादी व्यवस्था की उपज कह कर ठुकरा देना शोभनीय नहीं है। वे प्रगतिवाद की केवल उन रचनाओं के विरोधी हैं जिनमें ग्राम्य, अश्लील, जुगुप्सित या रसाभासमूलक प्रवृत्तियां पाई जाती हैं। उन्होंने भविष्य के लिए समाजवादी व्यवस्था की अनिवार्यता का संकेत कर के प्रगतिवादियों को व्यापक दृष्टि से सोचने की सम्मति दी है, क्योंकि कोरे मार्क्सवाद से ही किसी स्थिर और शाश्वत तत्व-ज्ञान का बोध नहीं हो सकता ये वस्तुतः अपने देश की चिंतन-परंपरा की व्यापकता ओर गंभीरता में ही किसी नूतन मतवाद को ग्रहण करना समीचीन समझते हैं. क्योंकि ऐसा करने पर ही साहित्य निर्माण का श्रेयस्कर नूतन मार्ग प्राप्त किया जा सकता है।

द्विवेदी जी कहते हैं-"प्रगतिशील लेखकों में दो श्रेणी के लेखक हैं। एक तो वे, जो कम्युनिस्ट पार्टी से संबंधित हैं और पार्टी की निर्धारित नीति और अंगुलि-निर्देश पर साहित्य लिखते हैं। दूसरे वे, जो पार्टी से संबंधित नहीं हैं पर इन (मार्क्सवादी) विचारों को मानते और तदनुसार यत्न करते हैं- कम्युनिस्ट पार्टी से जिन साहित्यकारों का संबंध है। उनको पार्टी के निर्देश पर चलना पड़ता है। पार्टी का इस प्रकार स्वतंत्र चिंतन के मार्ग में आना हितकर नहीं हो सकता। भविष्य में या तो पार्टी को अपना अंकुश उठा लेना पड़ेगा या प्रथम श्रेणी के साहित्यकारों से वंचित रहना पड़ेगा" (हिंदी साहित्य, पृष्ठ 494)। आज द्विवेदी जी की यह भविष्यवाणी सत्य सिद्ध हो रही है।

11.7 सौंदर्य व् संस्कृति बोध

द्विवेदी जी सौंदर्य को सामंजस्य के रूप में रेखांकित करना चाहते हैं। वे अपनी बात को समझाने के लिए मानते हैं कि शक्तित्रिक् (इच्छा, ज्ञान और क्रिया) के सहज योग से विशुद्ध चैतन्य की गोचर जगत के रूप में अभिव्यक्ति हो रही है, संसार का समस्त आकर्षण, उल्लास, लालित्य और सौंदर्य इसी चित् की

स्वातंत्र्यात्मा इच्छाशक्ति के अनुकूल स्पंदन का नाम है। जहां विपरीत है, वहां इस मूल इच्छात्मक छंदोधारा का प्रातिकूल्य है। द्विवेदी जी मानते हैं कि पश्चिम के पंडितों ने व्यक्तिचित्त की इच्छा को सौंदर्य कहा है, जो सौंदर्य को व्यक्तिसापेक्ष तत्व की खिड़कियों में खड़ा कर अव्यवस्था और तर्क-वितर्क का कारण बनता है। अतः देश-काल-सापेक्ष और परंपरा-स्वीकृत जनवर्ग विशेष के समष्टिचित्त की इच्छा को, सौंदर्य मानने के लिए विवश होना पड़ता है। द्विवेदी जी की दृष्टि में, 'कालिदास ने भी व्यक्तिचित्त की इच्छा को ही सौंदर्य माना, परंतु उनकी व्यक्ति-इच्छा समष्टिव्यापिनी इच्छा का ही प्रतिरूप है, विशिष्ट रूप है।' सर्माष्ट-इच्छा विश्वव्यापिनी मंगलेच्छा के अनुकूल होने पर ही व्यक्तिगत इच्छा सार्थक होती है। व्यक्तिगत इच्छा उसके प्रतिकूल जाकर कुत्सित हो जाती है। समष्टि-इच्छा चेतन धर्म है-जो बात चेतन धर्म के अनुकूल है, वही सुंदर है। समष्टि-चेतना सर्जनात्मक है, मिमृक्षा है, व्यक्तिगत इच्छा उसके अनुकूल रहकर ही चरितार्थ होती है। जिस इच्छा में अजान है, मोह है, दूसरों को दुखी, उदास करने की वृत्ति है, वह पाप इच्छा है। जड़त्व से अभिभूत होती है। सौंदर्य उसमें नहीं रहता। कालिदास की लालित्य योजना के संदर्भ में 'सौंदर्य' की अपनी अवधारणा द्विवेदी जी ने स्पष्ट की है। व्यक्ति व्यक्ति जितने अंश में विरोधी हैं, वह जड़ता का प्रकाश है और जितने में सामंजस्य है वह चेतना की अभिव्यक्ति है। फलतः सामंजस्य का यही सामंजस्य सौंदर्य है-असामंजस्य असौंदर्य। समष्टि या समाज का मेरुदंड यही सामंजस्य है, इसके अभाव में वह टूटने लगता है, जड़ता हावी हो जाती है. चेतन की अभिव्यक्ति पर। व्यष्टि-व्यष्टि-खंड-खंड के भीतर व्याप्त अखंड मनुष्यता ही आस्वाद गोचर होकर रस रूप में प्रतीत होती है। द्विवेदी जी इस दृष्टि से साहित्य की सर्जना और मंथना में प्रवृत्त होते हैं। ये चेतना की जययात्रा के रूप में सब कुछ देखते हैं और मनुष्यता को ही सर्वोच्च सांस्कृतिक उपलब्धि के रूप में मानते हैं।

आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी कहते हैं कि द्विवेदी जी स्वयं कहते हैं कि अतीत के शव को यदि ठीक ढंग से साधा जाए तो यह हमारी प्रगति में साधक बन जाता है और साधना में कहीं कचाई रह जाए तो विक्षुब्ध शव हमें ही हड़प जाए। महाशक्ति शव के वक्षस पर कलात्मक नर्तन-सर्जन की सारी संभावनाएं बिखेरती रहती है। बात यह है कि द्विवेदी जी प्राचीन भारतीय साहित्य के अगाध पंडित हैं, अतीत का साक्षात्कार उसी के माध्यम से करते हैं। सवाल यह है कि इस साक्षात्कृत 'अतीत' के 'शव' का वह करें क्या? उन्हें विश्वास है कि उस 'अतीत' के 'शव' की साधना ढंग से की जाए, तो वह वर्तमान और भविष्य को अभीष्ट दिशा में परिवर्तित कर सकती है। वर्तमान की विकृति को अनुध्यात सुरूपता में बदलने की तड़पन प्रत्येक सर्जक को होती है और इस परिवर्तन के लिए साधना करनी पड़ती है। द्विवेदी जी अतीत की साधना करते हैं। इतिहास देवता की आराधना करते हैं। वे इस आराधना में महाकवि रवीन्द्र की आधुनिक दृष्टि का उपयोग करते हैं-वैसे 'दृष्टि' स्रष्टा की अपनी होती है। द्विवेदी जी भी उनकी ज्ञान-दृष्टि से अपनी ज्ञान-दृष्टि, सर्जक दृष्टि को बल देते हैं। रवीन्द्र की सर्जक चेतना मध्यकालीन वैष्णव चेतना का ही आधुनिकीकरण है-द्विवेदी जी में भी कबीर और तुलसी के माध्यम से वह जागरूक हैं-इसीलिए सेवाभाव में मानवता की चरितार्थता मानने वाले प्रेमचंद उन्हें सबसे अधिक नजदीक लगते हैं। द्विवेदी जी की हिंदी साहित्य के 'ये ढाई अक्षर' (कबीर और तुलसी पूरे दो और प्रेमचंद आधा) हृदयग्राही लगते हैं-मानवता के पक्षधर हैं ये। इस मध्यकालीन मानवी वैष्णवी चेतना का आधुनिकीकरण ही शव साधना है।

'अनामदास का पोथा' में द्विवेदी जी कहते हैं- "तुम्हारा स्वभाव प्रेम है। उसके माध्यम से तुम सत्य का साक्षात्कार कर सकते हो यहां साध्य ही जब साधक क आत्मदान पाकर सवयं साधन बन जाता है तभी 'सत्य' पकड़ में आता है। इस प्रकार द्विवेदी जी अपने चिंतन को आधुनिक बनाते हैं और चिन्मुखी मानवतावाद की पताका फहारते हैं। साहित्य को भी वे इसी मनुष्यता की उपलब्धि

में सहायक मानते हैं। वे कहते | हैं-मनुष्य को देवता बनाना ही काव्य का सबसे बड़ा उद्देश्य है। मनुष्य को उसकी स्वार्थबुद्धि से ऊपर उठाना, उसको इहलोक की संकीर्णताओं से ऊपर उठाकर सत्वगुण में प्रतिष्ठित करना, परदुखकातर और संवेदनशील बनाना काव्य का काम है। साहित्य के माध्यम से उनका सर्जक इसी उद्देश्य की पूर्ति करता है, चिंतन के इसी महारस के पान से उनका साधक अवधूत सर्जक, झुलसती लू में भी शिरीष की तरह फूलता रहा, देवदार की तरह उन्नत आकाश का स्पर्श करता रहा। वह कहता रहा-सर्वत्र आत्मानुभूति का प्रत्यक्ष प्रमाण है दूसरों के सुख के लिए अपने आपको गलित द्राक्षा की तरह निचोड़कर दे देना। इससे बड़ा तप मुझे मालूम नहीं द्विवेदी जी साहित्य के सर्जन के माध्यम से यही तप करते हैं।

द्विवेदी जी शोधी और पंडित रहे हैं। भारतीय प्राचीन साहित्य और दर्शन के अध्येता रहे हैं। आगमों के विभिन्न रूपों का परिशीलन किया है और जिसे 'फ्री थिंकिंग' मुक्त चिंतन कहा जाता है-उनके निबंधकार रूप में वह है ही। इतिहास की सामग्री तो लेते हैं पर उसकी प्रामाणिकता सब समय असंदिग्ध नहीं रह पाती। उससे उदासीन होकर भी बंधे रहने का रहस्य यह है कि परंपरा में अतीत में इतिहास की शव-साधना में उनकी गंभीर आस्था है। इस माने में वे राष्ट्रीय होकर भी अंतर्राष्ट्रीय है। कारण, उनका ध्यान उन मूल्यों पर ज्यादा केंद्रित है जो विश्व समाज के लिए उपादेय है। समाज और राष्ट्र की समस्याओं से इनकी सर्जक चेतना सर्वत्र आक्रांत लक्षित होती है पर वे उससे आगे भी बढ़ते हैं।

द्विवेदी जी के उपन्यास ऐतिहासिक कम सांस्कृतिक ज्यादा है। भारतीय संस्कृति की देन में उन्होंने कहा है कि संस्कृति का संबंध किसी व्यक्ति विशेष, देशविदेश या कालविशेष से नहीं है-इसके विपरीत वह सार्वभौम, सार्वकालिक और सार्वजनीन है। उनका अभिप्राय यह है कि वह ऐसा तत्व है जिससे मानव उस भूमि का अनुभव करता है जो अविभाज्य, एक और अखंड है। जो विभक्त होने का बंटा

हुआ होने का अनुभव कराए वह विकृति और जिससे एक और अखंड होने का अनुभव हो वह संस्कृति। इसीलिए गीताकार कहता है-

"अविभक्तं विभक्तेषु यः पश्यति स पश्यति"

उसी का देखना सही देखना है जो विभक्त में अविभक्त को देखता है। ऐसा वही देखता है जिसकी चेतना निर्मल हो। कारण, जिसकी चेतना की आंख में मल का पीलिया होगा-वह सत्य को नहीं देख पाएगा। उनका कहना है कि 'संस्कृति' तत्वतः न भारतीय होती है और न अन्यदेशीय। इसी प्रकार न तो 'प्राचीन' होती है और न ही 'आधुनिक' या 'मध्यकालीन'-' इनकी उनकी' होने का तो सवाल ही नहीं उठता। उसका कारण यह है कि 'संस्कृति' में यदि कोई विशेषण जुड़ गया तो उसका स्वरूप परिच्छिन्न अर्थात 'विभक्त' हो जाएगा। विशेष्य (संस्कृति) की अपरिच्छिन्नता समाप्त हो जाएगी वह सखंड हो जाएगी। अपनी अखंडता में यदि हम उसे मानव मात्र में विद्यमान 'मानवता' ही मान लें तो मान सकते हैं। पर सवाल शेष यह रह जाता है-व्यवहार प्रचलित विशिष्ट प्रयोग का या सविशेषण प्रयोग का। प्रयोग तो 'भारतीय संस्कृति' का अर्थ होता है-फिर इसका अर्थ क्या किया जाए? द्विवेदी जी का पक्ष यह है कि 'भारतीय संस्कृति' का अर्थ है : भारतीय पद्धति से प्राप्त की गई संस्कृति। मतलब यह विशिष्ट प्रयोग मध्यमपदलोपी समास है। इसमें 'पद्धति' शब्द गुप्त है। 'मानवता' को पाने का मतलब है उसका चरितार्थ होना। वह भूमा है-उससे बड़ी कोई चीज नहीं है। पर हर देश, हर काल में हर व्यक्ति या जाति उसे पाने की पद्धति अपनी प्रकृति के अनुरूप तय करते हैं। इस संदर्भ में भारतीयों की भी एक पद्धति है-वह मानवता को चरितार्थ करने के लिए उन्मुखी इच्छा स्वातंत्र्य का वरण करते हैं-अनुरूप मार्ग पकड़ते हैं-तप और साधना करते हैं-तीनों ऋणों: पितृ ऋण, ऋषि ऋण और देवऋण अदा कर 'अल्प' से 'भूमा' की ओर जाते हैं। मतलब समाज से जुड़कर 'संस्कृति' का साक्षात्कार करते हैं। समाज से आत्मा का सातत्य कैसे बना रहे, इसके लिए वे लोग ब्रह्मचर्य की दृढ़ शिला पर प्रतिष्ठित रहकर गृहस्थ

बनते हैं और 'आत्मा वै जायते पुत्रः' से पुत्र रूप में जुड़कर पितृऋण से मुक्ति पाते हैं। पुनः जिस अर्जित ज्ञान से उन्होंने स्वयं व्यवहार यात्रा की है पुत्र को ज्ञानदान देकर उसे ऋषिऋण से भी मुक्ति दिलानी है। इतना ही नहीं, उनकी शरीर यात्रा प्रकृति से कुछ पाकर हुई है-अतः दान कर दानशीलता पैदाकर उस देवऋण से भी मुक्त होना है। संतति पैदाकर, ज्ञान संपन्न कर और फिर दानवृत्ति से मंडितकर सेवावृत्ति से विभूषित कर, उसे समाज की धारा में विसर्जित करना है। इस पद्धति से चलकर वह 'अल्प' से 'धूमा' की ओर बढ़ता है, खंड से अखंड होता है। उन्होंने अन्यत्र भी कहा है-संस्कृति उच्चतम चिंतन का मूर्त रूप है। चिंतन मूर्त होता है आचार में और उच्चतम होता है धूमा की ओर ले जाने वाली पद्धति से जुड़कर। 'अनामदास का पोथा' में भी उन्होंने कहा है- "जिजीविषा है तो जीवन रहेगा, जीवन रहेगा तो अनंत संभावनाएं भी रहेंगी। सब चलता रहेगा। यही प्रकृति है। इसे सुनियंत्रित रूप से चलाने का प्रयास शुभ है। वही संस्कृति है। प्रकृति को सुनियंत्रित रूप से चलाने का ही नाम संस्कृति है।"

सर्वत्र सौंदर्य देखना सौंदर्य साधना की चरम परिणति है। 'भारतीय संस्कृति और साधना' में कविराज गोपीनाथ का कथन है-एक सौंदर्य ही जब नाना सौंदर्य है एवं वह मौलिक नाना सौंदर्य ही जब जगत में भिन्न-भिन्न सौंदयों के रूप में प्रकाशमान है तब जगत सौंदर्य सार है-यह जाना जा सकता है। सभी वस्तुएं सुंदर हैं. सभी रसमय हैं किंतु चित्त में मल और चांचल्य रहने से देखने के समय वह अनुभूत नहीं होता है। रस तब सुख और दुख के रूप में तथा सौंदर्य और कुत्सित के रूप में विभक्त ही दिखाई पड़ता है।" हम नियम के संसार में उतर आते हैं। प्रतिभा या प्रातिभ चेतना के जगत में रहते हुए भी व्यक्ति 'नियतिकृत नियमरहित' लोक का प्राणी हो जाता है।

काव्य की और-और समस्याओं पर भी द्विवेदी जी ने प्रकाश डाला है। उन्होंने भट्टिनी से कहलवाया है- "तुम्हीं (कवि) ऐसे हो जो नररत्न से लेकर किन्नर लोक तक व्याप्त एक ही रागात्मक हृदय, एक ही करुणा चित्त को हृदयंगम करा

सकते हो। मनुष्य लोभवश, मोहवश, द्वेषवश पशुता की ओर बढ़ता जा रहा है। तुम (कवि) इसके हृदय को संवेदनशील और कोमल बना सकते हो।" बाणभट्ट के माध्यम से द्विवेदी जी काव्य के प्रयोजन पर भी विचार कर रहे हैं-अतीत के माध्यम से आज के संदर्भ में। आज के मात्स्यन्यायी मानव की दवा काव्य के ही पास है। बाणभट्ट के शब्दों में कवि वही है, जिसकी प्रतिभा का आकुंठ विलास नरलोक से किन्नर-लोक तक फैले हुए एक ही रागात्मक हृदय का परिचय पा सके तभी तो वह मनुष्य की निम्नतर वृत्तियों को सात्विक बना सकेगा। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की समीक्षा दृष्टि मानवतावाद से ओत-प्रोत हैं तथा परवर्ती आलोचकों को श्रेष्ठ समीक्षा के उत्तम गुणों से अवगत कराती है।

11.8 सार - संक्षेप

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी हिंदी साहित्य के महान आलोचक और काव्यशास्त्रज्ञ थे। उनके योगदान में काव्य, रस, और अलंकार के महत्व पर गहरी विचारधाराएं शामिल हैं। वे मानते थे कि काव्य में 'रस' का अनुभव शब्दों से परे होता है, जो केवल सहृदय पाठक ही महसूस कर सकते हैं। उन्होंने हिंदी साहित्य की आलोचना करते समय संस्कृत साहित्य और उसकी शास्त्रीय विधियों के महत्व को भी रेखांकित किया। उनका दृष्टिकोण प्रगतिशील था, लेकिन वे साहित्य की सार्वभौमिकता से जुड़े कुछ दृष्टिकोणों से असहमत थे। द्विवेदी जी ने काव्यशास्त्र और साहित्य में रस और अलंकार को गहरे रूप से जोड़ा, और उनकी काव्य-आलोचना में यह स्पष्ट दिखाई देता है कि वे काव्य को न केवल शास्त्रीय दृष्टिकोण से, बल्कि एक अनुभव के रूप में भी देखते थे।

11.9 मुख्य शब्द

- शब्दरूप: किसी शब्द का रूप या रूपांतरण, जैसे कि किसी विशेष काव्य विधा में शब्द का उपयोग।

- विधान: काव्य में उपयोग किए गए रचनात्मक विधान या संरचना, जैसे छंद, मात्रा, या काव्य का रूप।
- साहित्यिक धारा: किसी विशेष समय, स्थान, या सामाजिक-राजनीतिक स्थिति में साहित्य का एक समूह, जिसमें समान विचारधारा या शैली का पालन किया जाता है।
- प्रकृतिवादी: वह साहित्यिक प्रवृत्ति जो प्राकृतिक सौंदर्य और मानव जीवन से जुड़ी हुई विचारधारा पर आधारित होती है।
- अर्थवृत्त: कविता के शब्दों, वाक्य या भावों का व्यापक अर्थ और व्याख्या। यह अर्थ कविता को गहरे संदर्भ में प्रस्तुत करता है।
- संदेश: काव्य का वह उद्देश्य या शिक्षा, जो लेखक या कवि पाठकों तक पहुँचाना चाहता है।
- वक्रोक्ति: वाक्य की ऐसी संरचना या शैली, जिसमें किसी साधारण या सामान्य विचार को अप्रत्यक्ष तरीके से या उलटकर व्यक्त किया जाता है। इसे घुमावदार या मोड़-लिया हुआ भाषाशास्त्र भी कहा जाता है।
- साहित्यिक आलोचना: साहित्य के विभिन्न रूपों और उनकी कला, शिल्प, और प्रभाव का विश्लेषण।

11.10 स्वप्रगति परीक्षण प्रश्नों के उत्तर

प्रगति की जाँच

उत्तर: 1. **सत्य**

उत्तर: 2. **असत्य**

उत्तर: 3. **सत्य**

उत्तर: 4. **असत्य**

11.11 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी और हिंदी साहित्य - शंकर प्रकाशन, 2000
2. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की आलोचना - हिंदी साहित्य प्रकाशन, 2005
3. हजारी प्रसाद द्विवेदी का रचनात्मक संसार - साहित्य अकादमी, 2010
4. हजारी प्रसाद द्विवेदी: जीवन और साहित्य - राजकमल प्रकाशन, 2015

11.12 अभ्यास प्रश्न

1. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के साहित्यिक दृष्टिकोण और उनके योगदान को भारतीय साहित्य के संदर्भ में कैसे समझा जा सकता है?
2. आचार्य द्विवेदी के 'काव्य का शास्त्र' में काव्यशास्त्र के मौलिक तत्वों पर उनके विचारों की चर्चा करें।
3. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के काव्यशास्त्र और काव्यात्मवाद पर दृष्टिकोण पर चर्चा करें।
4. 'रस' और 'अलंकार' के संदर्भ में आचार्य द्विवेदी के विचारों की व्याख्या करें।
5. आचार्य द्विवेदी के 'सहृदय' और 'साधारणीकरण' संबंधी विचारों की व्याख्या करें।

इकाई 12

डॉ रामविलास शर्मा

12.1 प्रस्तावना

12.2 उद्देश्य

12.3 सैद्धांतिक समीक्षा

12.4 रूप, भावना और विचारों के समन्वय से कला सृष्टि

12.5 काव्य का माध्यम

12.6 सौंदर्य की सत्ता

12.7 रस सम्बन्धी विवेचन

12.8 मार्क्सवाद की परख

12.9 सार - संक्षेप

12.10 मुख्य शब्द

12.11 स्वप्रगति परीक्षण प्रश्नों के उत्तर

12.12 संदर्भ ग्रंथ सूची

12.13. अभ्यास प्रश्न

12.1 प्रस्तावना

डॉ. रामविलास शर्मा हिंदी की प्रगतिवादी समीक्षा में एक महत्वपूर्ण व्यक्तित्व हैं। एक रचनाकार के रूप में हिंदी संसार से उनका संबंध प्रथमतः एक कवि के रूप में स्थापित हुआ था। 1934 में उन्होंने एक उपन्यास भी लिखा था 'चार दिन'। उपन्यासकार के रूप में तो वे प्रसिद्ध न हुए, लेकिन उनके कवि-व्यक्तित्व ने हिंदी जगत में यथेष्ट सम्मान प्राप्त किया। 1943 में अज्ञेय जी द्वारा संपादित 'तार सप्तक' नामक काव्य संकलन के एक कवि के रूप में भी उन्हें

प्रसिद्धि मिली और 'रूप-तरंग' के नाम से अपनी कविताओं का एक संकलन भी उन्होंने साहित्य जगत को भेंट किया। लेकिन प्रगतिशील आंदोलन के विकास तथा उसमें उनके सक्रिय सहयोग के साथ-साथ उनका कवि व्यक्तित्व पीछे छूटता गया और अंततः एक समीक्षक के रूप में ही वे विशेष समादृत हुए। अपने व्यक्तित्व के इस उभय पक्षी स्वरूप का विश्लेषण करते हुए संस्कृति एवं साहित्य की भूमिका में वे कहते हैं- 'मैंने अपना साहित्यिक जीवन कविता लिखने से आरंभ किया था। कहा जाता है कि असफल कवि सफल समालोचक बन जाता है। यह संशयात्मक है कि कवि रूप में बिल्कुल असफल रहा हूं। इसलिए आलोचना की सफलता भी मेरे निकट संशयात्मक ही है। लेकिन इस 'संशयात्मकता' का भी कोई आधार नहीं है। आज हिंदी संसार उन्हें प्रगतिवादी समीक्षा-धारा के प्रतिनिधि समीक्षक के रूप में स्वीकार कर चुका है, भले ही यह स्वीकृति एक वाद-विशेष की सीमा में उन्हें आबद्ध करके ही क्यों न दी गई हो?

हिंदी समीक्षा के क्षेत्र में उनका प्रवेश, स्वच्छंदतावाद के समीक्षक के रूप में हुआ। 1934-35 के बीच 'शैली और रवींद्रनाथ' तथा 'निराला की कविता' शीर्षक निबंधों में उनकी मार्क्सवादी तथा जनवादी दृष्टि कहीं भी स्पष्ट नहीं है। उनमें काव्य तथा कला के 'नवीन सौंदर्य' तथा 'नये स्वर परिधान' का ही प्रमुख रूप से विवेचन किया गया है। उस समय निराला के काव्य सौंदर्य का विवेचन करते हुए उन्होंने यह भी कहा था 'कविता हृदय की भाषा है, उसको समझने के लिए अधिक आवश्यकता

भावुकता की है, न कि फिलॉसफी की।' लेकिन 1936 के बाद, प्रगतिशील आंदोलन हि के विकास के साथ डॉ. शर्मा की समीक्षा नये आदर्शों से प्रभावित तथा विकसित हुई। उस समय से लेकर अब तक समीक्षा-विषयक उनकी अनेक कृतियां प्रकाश में आ चुकी हैं.

12.2 उद्देश्य

प्रिय शिक्षार्थियों, इस इकाई के अध्ययन के बाद आप निम्नलिखित पहलुओं को समझ सकेंगे:

- डॉ. रामविलास शर्मा की साहित्यिक दृष्टिकोण और समीक्षा विधि को।
- काव्य रचनाओं के वस्तु और रूप के संबंध का विश्लेषण, जैसा कि डॉ. शर्मा ने प्रस्तुत किया।
- साहित्य और कला का सृजन इंद्रिय बोध, भावना और विचारों के समन्वय से कैसे संभव होता है, यह जानना।
- काव्य की संरचना में इन तत्वों का महत्व समझना।
- डॉ. शर्मा के अनुसार, काव्य के माध्यम के रूप में शब्द का उपयोग और उसका इंद्रिय जगत से जुड़ा होना।
- शब्द की ध्वनि और अर्थ के द्वारा भावनाओं की अभिव्यक्ति को समझना।

12.3 सैद्धांतिक समीक्षा

वस्तु और रूप किसी भी रचना के दो प्रमुख अंग होते हैं-1. वस्तु पक्ष और 2. रूप पक्ष। काव्य कृति में वस्तु पक्ष के अंतर्गत अनुभूति, भाव और विचार आदि की परिगणना होती है। वस्तु जगत की यथार्थता जो काव्य के रूप में परिणत होती है, इसी के अंतर्गत समाहित है। इसे काव्य का अंतरंग पक्ष भी कहा जाता है। रूप पक्ष जो काव्य का बहिरंग है, के अंतर्गत भाषा और शिल्प आदि परिगणित हैं। काव्य की लय, छंद आदि उपकरण इसी से संबद्ध हैं। रूपवादी विचारक सामान्यतः रचना में इन्हीं तत्वों की प्रधानता स्वीकार करते हैं। ऐसे विचारकों को कलावादी अथवा सौंदर्यवादी भी कहा गया है। वस्तुवादी विचारक इसके विपरीत वस्तु तत्व को ही प्रमुख मानते हैं। काव्य में नियोजित वस्तु जगत की

यथार्थता पर इनकी दृष्टि प्रमुख रूप से केंद्रित रहती है। ये दोनों दृष्टियां स्वयं में एकांगी है। ये वस्तु और रूप को संयुक्त रूप से आवश्यक न मानकर पृथक रूप में आवश्यक मानते हैं।

12.4 रूप, भावना और विचारों के समन्वय से कला सृष्टि

डॉ. शर्मा लोक जीवन और साहित्य में कहते हैं 'साहित्य में मनुष्य की बाह्य इंद्रियां, हृदय और मस्तिष्क तीनों का संबंध होता है। रूप, भावना तथा विचार की एकता से कला सृष्टि संभव है।' जहां तक उनके द्वारा प्रस्तुत इंद्रिय बोध की प्राथमिकता का प्रश्न है तो उनका यह दृष्टिकोण मार्क्स की उस विचारधारा का अनुसरण है, जिनमें प्रत्येक शास्त्र के अध्ययन के लिए इंद्रिय-बोध को प्रस्थान बिंदु माना गया है। कला-सृष्टि का आधार उनके मत से मनुष्य का इंद्रिय-बोध है। स्वाधीनता और राष्ट्रीय साहित्य में वे स्वयं लिखते हैं कि "मनुष्य की चेतना में सबसे व्यापक स्तर इंद्रिय बोध का है। उसके विचार बदल जाते हैं, भाव बदल जाते हैं लेकिन उसका इंद्रिय बोध अपेक्षाकृत स्थायी होता है। साहित्य का प्रभाव दर्शन और विज्ञान से अधिक व्यापक इसीलिए होता है कि उसका संबंध इंद्रिय बोध से है। साहित्य का माध्यम ही रूपमय है। कल्पना के द्वारा साहित्य श्रोता या पाठक के मन में भिन्न-भिन्न रूपों की सृष्टि करता है। इंद्रिय बोध के अभाव में शुद्ध कल्पना असंभव होती है। उनके मत से इंद्रिय बोध सामाजिक परिस्थितियों का सीधा प्रतिबिंब हिंदी आ नहीं है। उनके शब्दों में 'मनुष्य की आत्मगत ऐंद्रियता उसके वस्तुगत सामाजिक जीवन से ही विकसित और समृद्ध होती है लेकिन यह ऐंद्रियता उसके वस्तुगत जीवन का सीधा प्रतिबिंब नहीं है।" इंद्रिय बोध के साथ ही मनुष्य की भावसत्ता का भी विकास होता है। वाह्य जगत का इंद्रिय-बोध और मनुष्य के मन का भाव जगत एक ही यथार्थ के दो पक्ष हैं जो एक-दूसरे से निरपेक्ष न होकर परंपरा संग्रथित हैं। डॉ. शर्मा के अनुसार, मनुष्य का भाव-जगत उतना व्यापक और सार्वजनीन नहीं है जितना उसका

इंद्रिय बोध, पर उसके विचार-जगत से ही वह अधिक व्यापक है साहित्य का कार्य भावों की पुष्टि करना है, उन्होंने कला तथा साहित्य की सरसता का मूल आधार भाव को ही माना है। उनके शब्दों में 'कला और साहित्य की सरसता का सबसे बड़ा कारण उनका यह भावना-मूलक स्वभाव है।

काव्य तथा कला-सृष्टि का तीसरा उपादान विचार-जगत है। मनुष्य के भाव-जगत की अपेक्षा उसके धार्मिक, राजनीतिक और आर्थिक विचारों में अधिक परिवर्तन होता है। डॉ. शर्मा के शब्दों में 'साहित्य के सभी तत्व समान रूप से परिवर्तनशील नहीं है. इंद्रिय-बोध की अपेक्षा भाव, और भावों की अपेक्षा विचार अधिक परिवर्तनशील हैं। जो लोग साहित्य में विचारों के महत्व की परख नहीं कर पाते. वे साहित्य का प्रभाव कम कर देते हैं।'

वे कहते हैं कि 'श्रेष्ठ विचारों के न होने पर केवल हृदय सिन्धु से काव्य के मुक्तामणि निकालना असंभव है।'

12.5 काव्य का माध्यम

काव्य का माध्यम शब्द है। हीगल के अनुसार, शब्द एक मानसिक सृष्टि है और उसमें भौतिकता का पर्यवसान हो जाता है। अतः वह अतींद्रिय होता है। डॉ. शर्मा ने हीगल के इस मत का खंडन करते हुए यह स्थापना दी है कि समस्त कलाओं यहां तक कि काव्य कला का माध्यम भी भौतिक वर्ण से मुक्त नहीं रहता। उनके शब्दों में 'कला के माध्यम की ऐंद्रियता देशकाल की सीमाओं से बंधा हुआ वह आकाश है। जिसमें मनुष्य के भाव विहंग उड़ान भरते हैं। यह ऐंद्रियता उस भौतिक जगत का प्रतीक है जिसके बाहर विचार तत्व अथवा विचारधारा किसी का भी अस्तित्व नहीं है। अपनी पुस्तक 'स्वाधीनता और राष्ट्रीय साहित्य' में उन्होंने पंत तथा तुलसीदास जी की कुछ पंक्तियां उधृत करते हुए यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि शब्दों की ध्वनि के द्वारा उतनी ही भाव व्यंजना संभव है। जितनी कि उनके अर्थ से प्रकट होती है। अपने विवेचन क्रम में फ्रांसीसी

कवि बोदलेयर को उद्धृत करते हुए उन्होंने स्पष्ट कहा है "शब्दों का चयन कर भिन्न रंगों वाले चित्र खींचे जा सकते हैं, मूर्त अर्थ द्वारा कहकर नहीं वरन ध्वनि से इंगित होकर शब्दों की ध्वनि में रेखाएं भी होती हैं।"

12.6 सौंदर्य की सत्ता

भाववादियों के अनुसार सौंदर्य की स्थिति रचयिता के मन में अथवा उसकी आत्मा में है। जबकि वस्तुवादी विचारक सौंदर्य की स्थिति वस्तुजगत की यथार्थता में मानते हैं। उनके अनुसार रचयिता वस्तु जगत के सौंदर्य को ही कलाकृति में नियोजित करता है।

डॉ. शर्मा ने इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा है 'प्रकृति, मानव जीवन तथा ललित कलाओं के आनंददायक गुण का नाम सौंदर्य है। इस स्थापना पर यह आपत्ति की जा सकती है कि 'कला में कुरूप और असुंदर को भी स्थान मिलता है साहित्य में वीभत्स का भी चित्रण होता है और उसे सुंदर कैसे कहा जा सकता है। इस आपत्ति का उत्तर देते हुए उन्होंने कहा है 'कला में कुरूप और असुंदर विवादी स्वरों के समान हैं जो राग के रूप को निखार देते हैं। वीभत्स का चित्रण देख कर हम उससे प्रेम नहीं करने लगते, हम उस कला से प्रेम करते हैं जो हमें वीभत्स से घृणा करना सिखाती है।... जिसे हम कुरूप, असुंदर और वीभत्स कहते हैं, कला में उसकी परिणति सौंदर्य में होती है।'

भाववादी विचारकों के अनुसार सौंदर्य आत्मगत है जबकि वस्तुवादी विचारकों ने उसे वस्तुगत यथार्थता से संबद्ध माना है। चूंकि इंद्रियों के माध्यम से इस जगत की यथार्थता का बोध होता है। अतः इंद्रियों के माध्यम से जिस सौंदर्य की प्रतीति होती है उसकी सत्ता वस्तुगत है। डॉ. शर्मा ने भी इस तथ्य को स्वीकार करते हुए कहा है 'इंद्रियों से जिस सौंदर्य 'की अनुभूति होती है, बाह्य जगत में उसकी वस्तुगत सत्ता है।'

साहित्य-सृजन के हेतु के रूप में जिन तत्वों इंद्रिय बोध, भाव तथा विचार के समन्वय पर उन्होंने बल दिया है, वे भी उनके अनुसार समाज-सापेक्ष हैं। इंद्रियों द्वारा जिस आनन्द का बोध होता है, उसकी वस्तुगत सत्ता बाह्य जगत में ही निहित रहती है। भाव-जगत का आधार भी इसी प्रकार व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन की वे अनुभूतियां ही हैं जिनका विकास सामाजिक जीवन के धरातल पर ही संभव है। सामाजिक जीवन की परिस्थितियां मनुष्य के विचार जगत में परिवर्तन ला देती हैं। अतः रूप, भावना और विचार की अन्विति जिस कला को जन्म देती है उसका समाज निरपेक्ष होना किसी प्रकार संभव नहीं है। इस संबंध में अपना मत स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा है 'कलाकार जिस सौंदर्य की सृष्टि करता है वह समाज निरपेक्ष किसी व्यक्ति की कल्पना की उपज नहीं है, वरन सामाजिक जीवन और सामाजिक विकास से उसका घनिष्ट संबंध होता है।'

काव्य और कला का सौंदर्य स्रोत, सामाजिक जीवन ही है। 'समाज के भीतर जो जीर्ण और मरणशील तत्व हैं, जो जीवन और उदीयमान तत्व हैं, इनसे बाहर सौंदर्य की सत्ता नहीं। जो जीर्ण और मरणशील है उनके लिए सुंदरता मृत्यु में है, अन्याय और अत्याचार के फरेब को ढंकने में है, भविष्य से त्रस्त होने और क्षण में ही जीवन की साधें पूरी करने की हैं। जो जीवित और उदीयमान हैं, उनके लिए सुंदरता सत्य में है, मृत्यु को जीतने में है, अज्ञान, अत्याचार और अन्याय की दुनिया को दफनाने में हिंदी है, सुख और शांति के उज्ज्वल भविष्य की ओर बढ़ने में है। साहित्य उस मंजिल तक पहुंचने का शक्तिशाली साधन है।

12.7 रस सम्बन्धी विवेचन

डॉ. शर्मा का रस-संबंधी विवेचन भी सौंदर्य सापेक्ष है। सौंदर्य दर्शन की परिणति उनके अनुसार रसानुभूति में होती है। इसका विवेचन करते हुए उन्होंने कहा 'सौंदर्य-यानी सुंदर वस्तु-से हुई प्रेरणा (स्टिमुलस)। नारी नामक प्रेरणाकेंद्र पुरुष को चिरकाल से बाधित करता रहा है। नारी हुई 'कंडीशंड स्टीमुलस', पुरुष की

रसानुभूति हुई 'कंडीशंड रिफ्लैक्स'। रस और सौंदर्य का यही मौलिक संबंध है।' उनके मत से सौंदर्य वस्तुतः कलाकृति का उत्कर्ष है और रस उस उत्कर्ष की सहृदयजन्य प्रतीति। भारतीय काव्य शास्त्र में रस-प्रतीति के संबंध में जो विभिन्न मत प्रस्तुत किए गए हैं उन्हें वे एक-दूसरे का विरोधी न मानकर पूरक के रूप में स्वीकार करते हैं। डॉ. शर्मा ने भी इस संबंध में कहा 'रस निष्पत्ति के सिलसिले में उत्पत्तिवाद, अनुमानवाद, भुक्तिवाद और अभिव्यंजनावाद नाम से जो चार मत प्रचलित हैं, वे एक-दूसरे के विरोधी न होकर पूरक साबित हो सकते हैं।'

भारतीय काव्य शास्त्रियों ने आनंदानुभूति को काव्य अथवा कला का साध्य माना है। इसके विपरीत डॉ. शर्मा आनंदानुभूति को काव्य तथा कला का परम साध्य न मानकर साहित्यशास्त्र का प्रस्थान बिंदु स्वीकार करते हैं। उनका कथन है कि 'साहित्य से आनंद मिलता है, यह अनुभव सिद्ध बात है, लेकिन साहित्यशास्त्र यहां समाप्त नहीं होता बल्कि यहीं से उसका श्रीगणेश होता है। साहित्य से जिस आनंद की उपलब्धि होती है उसकी सत्ता मानव कर्म में है और उसको प्रभावित करने में ही उसकी उपयोगिता सिद्ध होती है। सौंदर्य और उपयोगिता थोड़ी देर के लिए परस्पर विरोधी भले ही प्रतीत होते हों परंतु उनकी द्वंद्वात्मक एकता के अभाव में साहित्य की सृष्टि नहीं हो सकती। अतः 'साहित्य शास्त्र की उपयोगिता यह होगी कि वह साहित्य और जीवन के संबंध की वास्तविकता प्रकट कर दे, जनता के लिए अहित कर साहित्य और अहितकर साहित्यशास्त्र से भ्रम का पर्दा उठा दे', क्योंकि 'साहित्य जनता के लिए यह हमारा जातीय सिद्धांत बन चुका है।'

• साहित्यकार की भूमिका

डॉ. शर्मा के अनुसार 'यदि साहित्य समाज का दर्पण होता तो संसार को बदलने की बात न उठती। कवि का काम यथार्थ जीवन को प्रतिबिंबित करना ही होता तो वह प्रजापति का दर्जा न पाता। वास्तव में प्रजापति ने जो समाज बनाया है, उससे असंतुष्ट होकर नया समाज बनाना कवि का जन्मसिद्ध अधिकार है।'

प्रजापति के धरातल पर कवि की यह प्रतिष्ठा ही उसे अनुकर्ता मात्र नहीं रहने देती। उसकी कृति सामाजिक जीवन का प्रतिबिंब न होकर सामाजिक जीवन पर आधारित एक स्वतंत्र सौंदर्यमयी सृष्टि बनकर प्रस्तुत होती है। मात्र प्रतिविंव ग्रहण करने में कवि का स्वतंत्र व्यक्तित्व कैसे उभर सकता है? डॉ. शर्मा के मतानुसार कवि का व्यक्तित्व पूरे वेग से तभी निखरता है जब वह समर्थ रूप से परिवर्तन चाहने वाली जनता के आगे कवि-पुरोहित की तरह बढ़ता है।

साहित्य सामाजिक जीवन में स्फूर्ति और प्रेरणा का संचार करता है। डॉ. शर्मा के शब्दों में "साहित्य का पांचजन्य समर भूमि में उदासीनता का राग नहीं सुनाता। यह मनुष्य को भाग्य के आसरे बैठने और पिंजड़े में पंख फड़फड़ाने की प्रेरणा नहीं देता। इसी तरह की प्रेरणा देने वालों के वह पंख कतर देता है।"

प्रत्येक साहित्यकार के लिए यह आवश्यक है कि वह सामाजिक यथार्थता को ग्रहण करते हुए जनशक्ति को चेतना की नई भूमिकाओं की ओर अग्रसर करे, सुख और जनकल्याण का प्रशस्त आधार प्रस्तुत करे। यही साहित्य का सामाजिक उपयोग होगा। वैयक्तिक तथा कल्पनात्मक साहित्य की भावधारा समाज को सुख और शांति का स्वप्न नहीं दे सकती क्योंकि "साहित्य की अमर सरिता भी आर्थिक और राजनीतिक उत्पीड़न के महापर्वत को काटकर प्रवाहित की जाती है। अपनी कुदाल फेंककर इस पर्वत की चट्टान के नीचे बैठा हुआ साहित्यकार कल्पना की आकाश गंगा से धरती के हृदय को सरस नहीं बना सकता।"

डॉ. शर्मा ने शिवदानसिंह चौहान की इस स्थापना का कि कलाकार स्वभावतः प्रगतिशील होता है। इसी दृष्टि से खंडन किया है। कहा है कि 'अगर कलाकार स्वभावतः प्रगतिशील होता है तो साहित्य में प्रगतिशील या प्रतिक्रियावादी का भेद करना निरर्थक है।'

डॉ. शर्मा का कथन है "जो लोग कहते हैं साहित्य स्वभाव से प्रगतिशील रहता है। वे अप्रत्यक्ष रूप से यह मानकर चलते हैं कि साहित्य प्रतिक्रियावादी भी होता है। प्रगतिशील शब्द सापेक्ष अर्थ का बोधक है। कोई भी घटना-प्रवाह किसी की

तुलना में ही प्रगतिशील होगा। इसीलिए निरपेक्ष अर्थ में प्रगतिशील शब्द का व्यवहार कर सकना मुमकिन नहीं है।"

डॉ. शर्मा के मत से 'न तो साहित्यकार स्वभावतः प्रगतिशील होता है न आलोचक। वे प्रगतिशील तभी होते हैं जब वे जन साधारण का पक्ष लेते हैं।'

प्रगतिशील साहित्यकार के लिए दो चीजें आवश्यक हैं 'समाज के परस्पर विरोधी संबंधों का चित्रण तथा विकासमान संभावना की कल्पनापरक अभिव्यक्ति।' आज के युग का सत्य यह है कि एक तरफ जनता साम्राज्यवाद से मुक्ति के लिए संघर्ष कर रही है दूसरी तरफ साम्राज्यवादी ताकतें और उसके हिमायती उसे दबाने और बनाए रखने की कोशिश कर रहे हैं। इस द्वंद्व में कलाकार किसी अद्वैत युग सत्य का सहारा न लेकर जनता या उसके विरोधियों का पक्ष लेता है इसलिए स्वभावतः प्रगतिशील होकर उस युग विशेष और समाज विशेष और जनता का पक्ष लेने पर ही उसे प्रगतिशील कहा जा सकता है।

12.8 मार्क्सवाद की परख

डॉ. शर्मा के शब्दों में 'मार्क्सवाद सिखाता है कि संस्कृति किसी समाज की आर्थिक व्यवस्था का मानसिक प्रतिबिंब है। आर्थिक व्यवस्था अगर नींव है तो संस्कृति उसके ऊपर की इमारत है।'

फिर भी यह समझना कि समाज व्यवस्था के परिवर्तन के साथ ही सांस्कृतिक धरातल पर भी तत्कालिक परिवर्तन का आभास होने लगता है, एक भ्रम मात्र है।

डॉ. शर्मा के अनुसार, 'मार्क्स ने जब यह कहा था कि आर्थिक व्यवस्था के आधार पर संस्कृति का महल बनता है तो इसका मतलब यह नहीं था कि पिछली संस्कृति में ग्रहण करने लायक कोई बात नहीं होती।' वस्तुतः नई संस्कृति तथा नवीन सामाजिक चेतना को समृद्ध करने में पूर्ववर्ती युगों की सांस्कृतिक चेतना का भी महत्वपूर्ण योग होता है। वे कहते हैं-

'नई संस्कृति और नई सामाजिक चेतना के भीतर नये साहित्यकार और लेखक का कर्त्तव्य होता है कि वे पुरानी संस्कृति के तत्व और रूपों को अपने भीतर समेट कर उन्हें अधिक पुष्ट और विकसित करें।' उनके अनुसार इस विषय में स्वयं मार्क्सवादियों ने भ्रम की गुंजाइश नहीं रहने दी है। फिर भी अगर कोई यह दावा करे कि मार्क्सवाद प्राचीन संस्कृति का विरोधी है तो इसका कारण मार्क्सवाद का अज्ञान हो सकता है।

डॉ. रामविलास शर्मा की व्यावहारिक समीक्षा भी मूलतः मार्क्सवादी आदर्शों पर आधारित है। वे कवि लेखक तथा समीक्षक ही उनके लिए प्रमुख रूप से विवेच्य हैं, जिसकी कृतियों में जनवादी तत्वों की प्रधानता रही है अथवा जिनके अंतर्गत स्वस्थ सामाजिक मूल्यों की स्थापना हो सकी है। इस दृष्टि से आधुनिक हिंदी साहित्य के अंतर्गत उन्हें निराला, प्रेमचंद और आचार्य शुक्ल के व्यक्तित्व सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रतीत हुए।

• समीक्षा-शैली

समीक्षा-शैली की दृष्टि के विचार करने पर डॉ. शर्मा के विवेचन में नकारात्मक वृत्ति का ही प्राधान्य है। उनकी शैली को आचार्य वाजपेयी के शब्द में 'वाद-विवादात्मक' अथवा Polymical की संज्ञा दे सकते हैं वैयक्तिक आरोप-प्रत्यारोप के साथ उनमें व्यंग्य का प्राचुर्य है, विरोधियों को मर्माहत कर देने की क्षमता है, लेकिन साथ ही साहित्यिक मर्यादा तथा संतुलन का अभाव भी कहीं-कहीं दृष्टिगोचर होता है। इस अर्थ में उनकी समीक्षा-शैली को हम विशुद्ध रूप से साहित्यिक शैली की संज्ञा नहीं दे सकते।

फिर भी डॉ. शर्मा की शैली में एक प्रकार की विशेषता है, और वह है उनकी सरलता। उनकी समीक्षा बिल्कुल स्पष्ट तथा सहज-ग्राह्य है। जिस सहजता के साथ डॉ. शर्मा ने मार्क्सवादी आदर्शों की साहित्यिक परिणति दिखाई है वह इस धारा के अन्य समीक्षक नहीं कर सके हैं। सरलता तथा स्वच्छंदता से युक्त डॉ. शर्मा जी की समीक्षा-शैली को कुछ आलोचकों ने पत्रकारिता की शैली कहा।

तथापि वैयक्तिक आरोप-प्रत्यारोप तथा खंडन मंडन की प्रक्रिया से जहां कहीं भी मुक्त है वहां वह पर्याप्त विचारोत्तेजक है। उनकी अंतिम कृतियों में, विशेषतया, 'स्वाधीनता और राष्ट्रीय साहित्य' तथा 'आस्था और सौंदर्य' में, इस शैली को देखा जा सकता है।

स्वप्रगति परीक्षण

1. डॉ. शर्मा के अनुसार, मार्क्सवाद सिखाता है कि संस्कृति किसी समाज की _____ व्यवस्था का मानसिक प्रतिबिंब है।
2. डॉ. शर्मा का मानना है कि नई संस्कृति को समृद्ध करने में _____ युगों की सांस्कृतिक चेतना का भी महत्वपूर्ण योगदान होता है।
3. आचार्य वाजपेयी ने डॉ. शर्मा की समीक्षा-शैली को 'वाद-विवादात्मक' या _____ की संज्ञा दी है।
4. डॉ. शर्मा की अंतिम कृतियों में _____ और _____ शामिल हैं।

12.9 सार - संक्षेप

इस इकाई में डॉ. रामविलास शर्मा के साहित्यिक दृष्टिकोण और उनकी समीक्षा विधि पर विस्तृत चर्चा की गई है। वे काव्य रचनाओं में वस्तु और रूप के बीच अंतर और उनके संबंध को महत्व देते हैं, जहां वस्तु में भावनाओं, विचारों और अनुभूतियों का समावेश होता है, वहीं रूप में शिल्प, भाषा और काव्य उपकरण शामिल होते हैं। डॉ. शर्मा का मानना है कि काव्य की सृजनात्मकता इंद्रिय बोध, भावना और विचारों के समन्वय से उत्पन्न होती है, और इनका आपस में गहरा संबंध है। उन्होंने साहित्य के प्रभाव को इंद्रिय बोध से जोड़ा है और यह बताया है कि साहित्य का माध्यम शब्द है, जिसमें ध्वनि और अर्थ दोनों का महत्व है।

वे मानते हैं कि शब्दों की ध्वनि में भी भावनाओं की गहरी अभिव्यक्ति संभव होती है, जो उनके विचारों की महत्वपूर्ण विशेषता है।

12.10 मुख्य शब्द

- वस्तु पक्ष - काव्य रचनाओं का वह पहलू जिसमें भावनाएं, विचार, और अनुभूतियां शामिल होती हैं। इसे काव्य का अंतरंग पक्ष भी कहा जाता है।
- रूप पक्ष - काव्य के बाहरी तत्व, जैसे कि भाषा, शिल्प, लय, और छंद। यह काव्य का बाह्य रूप है।
- इंद्रिय बोध - बाहरी संसार का आभास और अनुभव, जो मनुष्य के पांचों इंद्रियों के माध्यम से होता है। डॉ. शर्मा के अनुसार यह साहित्य और कला का आधार है।
- भावसत्ता - मनुष्य के अंदर का भावनात्मक संसार, जिसे साहित्य में व्यक्त किया जाता है। यह इंद्रिय बोध से अधिक व्यापक होता है।
- विचार जगत - मनुष्य के मानसिक और बौद्धिक विचार, जैसे कि धार्मिक, राजनीतिक और सामाजिक विचार। यह साहित्य में गहरी भूमिका निभाता है।
- काव्य का माध्यम - शब्द, जो साहित्य और कला का अभिव्यक्ति रूप है। डॉ. शर्मा के अनुसार शब्दों की ध्वनि और अर्थ दोनों ही काव्य में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।
- शब्द और ध्वनि - काव्य में शब्दों का चयन और उनकी ध्वनियों के माध्यम से भावनाओं का व्यक्तिकरण। यह साहित्यिक अभिव्यक्ति के महत्वपूर्ण उपकरण हैं।

12.11 स्वप्रगति परीक्षण प्रश्नों के उत्तर

प्रगति की जाँच

उत्तर: 1. आर्थिक

उत्तर: 2. पूर्ववर्ती

उत्तर: 3. Polymical

उत्तर: 4. 'स्वाधीनता और राष्ट्रीय साहित्य', 'आस्था और सौंदर्य'

12.12 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. रामविलास शर्मा: जीवन और काव्य, डॉ. रामविलास शर्मा, राजकमल प्रकाशन, 2005
2. काव्य और आलोचना: रामविलास शर्मा के दृष्टिकोण, डॉ. सुषमा सिंह, पुस्तक माला प्रकाशन, 2010
3. हिंदी साहित्य के आलोचक डॉ. रामविलास शर्मा, डॉ. रामकृष्ण यादव, गंगा प्रकाशन, 2012
4. रामविलास शर्मा की आलोचनात्मक दृष्टि, डॉ. रेखा शर्मा, राधा कृष्ण प्रकाशन, 2015
5. भारतीय साहित्य में प्रगतिवादी आलोचना का योगदान, डॉ. शांति देवी, वाणी प्रकाशन, 2018

12.13 अभ्यास प्रश्न

1. वस्तु और रूप पक्ष के अंतर को स्पष्ट करें और उदाहरण के साथ समझाएं।
2. डॉ. रामविलास शर्मा के अनुसार, कला और साहित्य की सृजनात्मकता में इंद्रिय बोध की भूमिका पर चर्चा करें।
3. काव्य के माध्यम के रूप में शब्द की भूमिका को डॉ. शर्मा के दृष्टिकोण से समझाएं।

4. मनुष्य के विचार-जगत, भाव-जगत और इंद्रिय बोध के आपसी संबंधों को डॉ. रामविलास शर्मा के विचारों के माध्यम से व्याख्यायित करें।
5. काव्य और कला में रूप, भावना और विचार के समन्वय के महत्व को डॉ. शर्मा के दृष्टिकोण से समझाएं।

ब्लॉक - IV

इकाई 13

हिंदी आलोचना का विकास

13.1 प्रस्तावना

13.2 उद्देश्य

13.3 हिंदी आलोचना का विकासक्रम

13.4 हिंदी के प्रमुख आलोचक और उनकी आलोचना दृष्टि

13.5 हिंदी के प्रमुख आलोचक एवं आलोचनाएँ

13.6 सार - संक्षेप

13.7 मुख्य शब्द

13.8 स्वप्रगति परीक्षण प्रश्नों के उत्तर

13.9 संदर्भ ग्रंथ सूची

13.10 अभ्यास प्रश्न

13.1 प्रस्तावना

आलोचना का व्यवस्थित एवं विधिवत विकास आधुनिक काल में हुआ। गद्य साहित्य के विकास के साथ-साथ आलोचना भी समृद्ध होती गई। आलोचकों के लिए निष्पक्षता, अभिव्यक्ति की क्षमता, सहृदयता तथा विषय विशेष में निपुण होना आवश्यक माना गया। आलोचना के विकास को इसके साहित्य के माध्यम से देखा जाता है। आलोचना साहित्य को चार वर्गों-भारतेंदु युग, द्विवेदी युग, शुक्ल युग तथा शुक्लोत्तर युग में बांटकर इसका अध्ययन किया जाता है। इन युगों का नामकरण इनके प्रवर्तक आचार्यों के नाम पर पड़ा। भारतेंदु हरिश्चंद्र, महावीर प्रसाद द्विवेदी, रामचंद्र शुक्ल वे महत्वपूर्ण आलोचक हैं जिन्हें आधारशिला माना जाता है। इसके साथ ही आचार्य नंद दुलारे वाजपेयी आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, डॉ. राम विलास शर्मा आदि महत्वपूर्ण आलोचक हैं जिन्होंने

अपने चिंतन से आलोचना पद्धतियों को समृद्ध किया और परवर्ती आचार्यों के लिए प्रेरक बने।

13.2 उद्देश्य

प्रिय शिक्षार्थियों, इस इकाई के अध्ययन के बाद आप निम्नलिखित पहलुओं को समझ सकेंगे:

- आलोचना की व्युत्पत्ति और विकास की विस्तृत जानकारी।
- आलोचना और आलोचक के लिए आवश्यक गुणों का परिचय।
- आलोचना साहित्य के विकास के वर्गीकरण की समझ।
- आचार्य रामचंद्र शुक्ल, आचार्य नंददुलारे वाजपेयी, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी और डॉ. रामविलास शर्मा जैसे प्रतिनिधि आलोचकों के काव्य और गद्य साहित्य संबंधी दृष्टिकोण को।

13.3 हिंदी आलोचना का विकासक्रम

आलोचना-व्युत्पत्तिपरक अर्थ 'आ' उपसर्ग पूर्व लोच् 'दर्शने' धातु के साथ 'ल्युट्' प्रत्यय के योग से 'आलोचन' एवं 'टाप्' (स्त्रीलिंग) प्रत्यय के लगने से 'आलोचना' शब्द व्युत्पन्न होता है जिसका अर्थ होता है-किसी वस्तु को चारों ओर से देखना या विचार करना। व्यावहारिक रूप में हम यह कह सकते हैं कि किसी वस्तु या विधा पर किसी या किन्हीं आधारों पर विचार करना या परीक्षण करना आलोचना है। कोई भी वस्तु, विधा या व्यक्ति जब हमारे समक्ष उपस्थित होता है तो हमारे मस्तिष्क में उसके प्रति एक भौतिक प्रतिक्रिया होती है और कुछ क्षण में उस वस्तु, विधा या व्यक्ति के संबंध में कुछ धारणाएं जन्म ले लेती हैं। ये धारणाएं ही हमें उन वस्तुओं के संबंध में एक निश्चित दृष्टि प्रदान करती है। वस्तुतः इस दृष्टि का नाम ही आलोचना है। जब हम 'आलोचना' शब्द को उसके पारिभाषिक अर्थ के संदर्भ में देखते हैं तो प्रतीत होता है कि 'आलोचना' साहित्य

की वह विधा है, जो कलाकार की सृष्टि में निहित रहस्य को सर्वजन हिताय, साकार रूप प्रदान करती है। आलोचक किसी कृति को हृदयंगम करता है, उसके रस-प्रवाह में अपने को निमग्न कर देता है और फिर उसकी विशेषताओं पर विचार करता हुआ उसकी उपलब्धियों एवं कमियों का खाका खींचता है।

इतना ही नहीं कृतियों को श्रेणीबद्ध करना, लक्ष्य ग्रंथों के आधार पर लक्षणों की स्थापना करना या फिर उन लक्षणों के आधार पर किसी कृति का मूल्यांकन करना एवं उस पर अपना निर्णय देना या अन्य कृतियों को उसके समकक्ष रख कर तुलनात्मक अध्ययन करना आदि समस्त स्थितियां भी आलोचना के कार्यक्षेत्र के अंतर्गत ही आती है।

आजकल आलोचना का क्षेत्र और भी विस्तृत हो गया है। आज का पाठक केवल इतने से ही संतुष्ट नहीं होता कि किसी कृति के अध्ययन के पश्चात वह कौन-सी रस-धारा में निमग्न हुआ, बल्कि उसकी दृष्टि कृति के सांस्कृतिक, सामाजिक, राजनीतिक, मनोवैज्ञानिक पहलुओं पर भी टिकती है। वास्तविकता यह है कि सहृदय सामाजिक काव्य कृति में जीवन के उन समस्त उत्थान-पतनों की सटीक झांकी पा लेना चाहता है,

जिसे उसने स्वयं भोगा है या अन्य लोग जिसे भोग रहे हैं। इतना ही नहीं वह उसे भी जान लेना चाहता है, जिसे वर्तमान सामाजिक परिप्रेक्ष्य में परिणाम स्वरूप वह भोग सकता है। कवि या कलाकार ने बहुत संभव है सहृदय-सामाजिक की इन समस्त क्षुधाओं को परितृप्त करने का प्रयास अपनी कृति में किया हो, किंतु सभी लोग उसका अनुसंधान कर सकें, यह आवश्यक नहीं है। फलतः कवि कर्म की उन समस्त उपलब्धियों को प्रकाश में लाना ही आलोचना का कार्यक्षेत्र है। वस्तुतः किसी कृति के गुण-दोषों को प्रकाश में लाना ही आलोचना नहीं है, बल्कि सामाजिक एवं कला के परिप्रेक्ष्य में कवि-कर्म की व्यख्या करना और उसे चर्वण योग्य बनाना ही आलोचक का कर्म है और यही वस्तुतः आलोचना, समालोचना या सत्समालोचना है।

आलोचना जब काव्य का विश्लेषण, विवेचन एवं मूल्यांकन प्रस्तुत करती है तो वह कलात्मकता के साथ-साथ वैज्ञानिकता का भी आंचल थामती है। काव्य जहां निष्कर्ष के प्रति उदासीन रहता है, वहां आलोचना निष्कर्ष की अनदेखी नहीं कर सकती और सही निष्कर्ष वैज्ञानिक पद्धति के बिना संभव नहीं है। क्योंकि निष्कर्ष या निर्णय के लिए किसी काव्य कृति का विश्लेषण एवं विवेचन अपरिहार्य है, जबकि विश्लेषण वैज्ञानिक पद्धति का एक अंग है।

विद्वानों ने अत्यंत सावधानी के साथ आलोचक के लिए कतिपय अपरिहार्य गुणों का निर्धारण किया है जो इस प्रकार है (क) विषय का निष्णात पंडित, (ख) निष्पक्षता, (ग) अभिव्यक्ति की क्षमता और (घ) सहृदयता ।

स्वप्रगति परीक्षण

1. 'आलोचना' शब्द का व्युत्पत्तिपरक अर्थ है _____।
2. आलोचना का कार्य किसी कृति के _____ एवं _____ को प्रकाश में लाना है।
3. आलोचना में _____ पद्धति का उपयोग निष्कर्ष तक पहुंचने के लिए आवश्यक होता है।
4. आलोचक के लिए आवश्यक गुणों में से एक है _____।

13.4 हिंदी के प्रमुख आलोचक और उनकी आलोचना दृष्टि

हिंदी साहित्य के आदिकाल में गद्य साहित्य के अभाव के कारण अथवा अन्य कारणों से आलोचना के स्वतंत्र विकास के कोई चिह्न दृष्टिगत नहीं होते। उत्तरकालीन संस्कृत साहित्य की तरह किसी विद्वान या भावुक कलाकार की किसी कवि या कृति पर की गई कोई आलोचनात्मक टिप्पणी भी उलपब्ध नहीं

होती। फलतः कहा जा सकता है कि हिंदी साहित्य के आदि काल में काव्य-शास्त्र या आलोचना जैसी किसी विधा का अस्तित्व नहीं था।

कतिपय विद्वान कवियों द्वारा अपने काव्य-ग्रंथों में व्यक्त उन काव्य-शास्त्रीय उक्तियों में आलोचना के विकास का दर्शन करते हैं, जो उन्होंने प्रसंगवश अपने संबंध में, अपनी कृति के संबंध में अथवा काव्य-शास्त्र के किसी पक्ष या अंग के संबंध में कहीं है। उदाहरण के लिए विद्यापति, प्रसिद्ध हिंदी कवि मलिक मुहम्मद जायसी, महाकवि तुलसीदास। इन कवियों ने या तो अपने संबंध में कुछ कह दिया है या फिर किसी काव्य-संबंधी सामान्य उक्ति पर कथन कर दिया है, जो परंपरागत संस्कृत साहित्य से चली आ रही है।

आलोचना साहित्य का बीज-वपन निश्चय ही भक्तिकाल में हो गया था, किंतु यह बीज वपन कवियों की व्यक्तिगत उक्तियों से नहीं अपितु विद्वान सहृदय पाठकों की उन सूक्तियों से है जो किसी कृति के रस-सागर में निमग्न होने के पश्चात उद्गमित हुई है। भक्तिकाल में हमारा आलोचना के दो रूपों से परिचय होता है। एक तो शास्त्रीय या सैद्धांतिक आलोचना से, जिसका शुद्ध परंपरागत शास्त्रीय रूप नंददास के 'रस मंजरी' ग्रंथ में उपलब्ध होता है। दूसरे, व्यावहारिक आलोचना के तुलनात्मक एवं प्रभावात्मक रूपों का दर्शन होता है, जब कोई विद्वान किसी कृति के चिंतन और मनन के पश्चात अपने प्रभाव की अभिव्यक्ति कर बैठा है, यथा-

किधौं सूर को सर लगौ किधौं सूर की पीर।
किधौं सूर को पद लगौ तनमन धुनत शरीर।।

अनेक विद्वानों का अभिमत है कि स्वयं सूरदास जी ने 'साहित्य-लहरी' ग्रंथ का प्रणयन किया था जिसमें साहित्य-शास्त्र संबंधी अनेक सिद्धांतों का प्रतिपादन किया गया है।

जहां तक प्रभावात्मक आलोचना का प्रश्न है उसका बीज-वपन भी भक्ति काल में हो चुका था। तुलसी और सूर की श्रेणी में गंग कवि और कवि केशवदास के

नामों का उल्लेख तत्कालीन आलोचक प्रायः करते रहे हैं। महाकवि तुलसीदास के संबंध में रहीम खानखाना की निम्नलिखित उक्ति प्रभावात्मक आलोचना का अच्छा उदाहरण है-

सुरतिय नरतिय, नागतिय, सब चाहति अस होय।
गोद लिए हुलसी फिरै, तुलसी सो सुत होय ॥

इसी प्रकार संस्कृत शैली में सूरदास पर लिखी गई निम्नलिखित उक्ति को तुलनात्मक आलोचना का आधार माना जा सकता है, यथा-

उत्तम पद कवि गंग के, कविता को बलवीर।
केशव अर्थ गंभीर को, सूर तीन गुन धीर ॥

रीतिकालीन आचार्यों ने हिंदी साहित्य में एक प्रणालीबद्ध आलोचना की स्थापना की। यह इतर तथ्य है कि आधुनिककाल में आलोचना का जो स्वरूप उभर कर सामने आया. उसके साथ रीतिकालीन आलोचना का योगदान नगण्य है। यद्यपि आधुनिककाल में भी हमारे आलोचना-शास्त्र पर संस्कृत काव्य-शास्त्र का अप्रतिम प्रभाव है। रसवादी आचार्य, रामचंद्र शुक्ल, डॉ. नगेंद्र प्रभृति विद्वान अपनी प्राचीन परंपरा से पूर्णतः जुड़े रहे किंतु इन्होंने प्राचीन काव्य-शास्त्र का जो मौलिक विवेचन, सिद्धांतों की नवीन एवं सटीक व्याख्याएं तथा अपने परिवेश के साथ उन सिद्धांतों की संसिद्धि का जो स्तुत्य प्रयास किया है, वह रीतिकालीन आचार्यों में उपलब्ध नहीं होता। वास्तविकता तो यह है कि रीतिकालीन आचार्यों का प्रमुख लक्ष्य लक्षणों की स्थापना न होकर स्वरचित उदाहरण प्रस्तुत करना था। फलतः लक्षण गौण हो गए और उदाहरण मनोरम और हृदयग्राही हो उठे।

इतना सब होने पर भी इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि संस्कृत साहित्य के पश्चात काव्य-शास्त्र की एक परंपरा, जो धीरे-धीरे लुप्त होती जा रही थी उसकी पुनः स्थापना का श्रेय रीतिकालीन आचार्यों को ही जाता है। कम से कम इतना स्वीकार करने के लिए तो हमें तैयार रहना ही चाहिए कि द्विवेदी युगीन अनुवाद परंपरा ने जिस प्रकार कथा, नाटक, उपन्यास आदि के लिए जैसे

एक आधारभूमि तैयार की. उसी प्रकार रीतिकालीन आचार्यों ने भी काव्य-शास्त्र के लिए एक आधारभूमि तैयार की। परीक्षा गुरु और संयोगिता स्वयंवर जैसी कृतियों ने जिस प्रकार गोदान, कंकाल, लज्जा जैसे उपन्यासों को प्रेरणा दी उसी प्रकार रीतिकालीन आचायर्यों के काव्य-शास्त्रीय ग्रंथों ने आचार्य शुक्ल और डॉ. नगेंद्र के व्यक्तित्व निर्माण में अपना योगदान किया है। दोनों ही आचार्य इस तथ्य से इंकार नहीं कर सकते। अतः रीतिकाल पर मौलिकता के अभाव की मुद्रा अंकित कर आगे निकल जाना न तो उचित ही है और न काम्य ही, अपितु ऐसा करके हम उन विद्वानों के परिश्रम के प्रति अन्याय ही करते हैं। स्वयं आचार्य शुक्ल ने महाराजा जसवंतसिंह के 'भाषाभूषण', मतिराम के 'रसराज' और 'ललित ललाम', सुखदेव मिश्र के 'वृत्त विचार' आदि ग्रंथों की प्रशंसा की है। रीतिकाल का इस दृष्टि से एक ऐतिहासिक महत्व तो है ही।

वस्तुतः काव्य साधना के अनुरूप आलोचना का तात्कालिक सही विकास आधुनिककाल में ही हुआ है। इसके अनेक कारण हैं।

1. शास्त्रीय विवेचन एवं काव्य-विश्लेषण के लिए गद्य का होना परमावश्यक होता है। आधुनिककाल में गद्य लेखन का आविर्भाव हो चुका था, जो आधुनिककाल के आचार्यों के लिए अत्यंत सुविधाजनक रहा।

2. आंग्ल भाषा के पठन-पाठन ने विद्वानों को विवेचन एवं विश्लेषण की मौलिक दृष्टि प्रदान की, इससे भी इनकार नहीं किया जा सकता।

3. अनेक सांस्कृतिक विद्वानों ने भारत में सांस्कृतिक पुनरुत्थान का श्रीगणेश किया, जिससे संस्कृत भाषा के अध्ययन की ओर विद्वानों की रुचि बढ़ी और हमने संस्कृत काव्य-शास्त्र को नये परिप्रेक्ष्य में देखने और तदनुरूप उसकी व्याख्या करने का प्रयास किया।

4. पाश्चात्य जगत् की औद्योगिक क्रांति ने भी भारतीय मनीषियों को वैज्ञानिक दृष्टि प्रदान की तथा जीवन के समस्त पहलुओं को उसके उसी रूप में देखने की ओर उन्मुख किया। फलतः हम काव्य में प्राचीन आदर्शों, काव्य के विभिन्न अंगों

एवं उपांगों के साथ-साथ जीवन के उन पहलुओं के विवेचन की ओर भी उन्मुख हुए जिसे हम भोग रहे थे।

5. हमने काव्य को राष्ट्रीय चेतना के संदर्भ में भी देखने का प्रयास किया और जीवन के सामाजिक एवं आर्थिक पहलुओं को भी काव्य का अभिन्न अंग मान कर काव्य में उसे खोजने का प्रयास किया। फलतः आलोचना का बहुमुखी विकास हुआ और काव्य के प्राचीन मानदंड आज की आलोचना के केवल एक अंग (सैद्धांतिक या शास्त्रीय आलोचना) के रूप में ही समाहित होकर रह गए।

संस्कृत काव्य-शास्त्र में जिन विभिन्न संप्रदायों का उद्गम हुआ था, वे काव्य के भाव पक्ष या कला पक्ष तक सीमित हो गए। आज का आलोचक रस-निष्पत्ति की शास्त्रीय व्याख्या से संतुष्ट नहीं होना चाहता, बल्कि वह काव्य के प्रतिपाद्य या कथ्य का विवेचन सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक, मनोवैज्ञानिक आदि अनेक दृष्टियों से करना चाहता है ओर इन सब दृष्टियों से यह कहां तक सफल और असफल रहा है, उसका मूल्यांकन कर उस पर अपना निर्णय भी देना चाहता है। इन सब कारणों से आलोचना का क्षेत्र अत्यंत विस्तृत होता चला गया। इस दृष्टि से आधुनिक काल के आलोचना साहित्य को चार वर्गों में वर्गीकृत किया जा सकता है-

(1) भारतेंदु युग (2) द्विवेदी युग (3) शुक्ल युग, और (4) शुक्लोत्तर युग। कतिपय विद्वान आचार्य शुक्ल को प्रमुख बिंदु मान कर इसे केवल तीन युगों में ही विभाजित करना अधिक उपयुक्त समझते हैं; यथा (1) शुक्ल पूर्व युग, (2) शुक्ल युग, और (3) शुक्लोत्तर युग।

प्रस्तुत प्रसंग में हम प्रथम वर्गीकरण को ही महत्व देना पसंद करेंगे।

1. भारतेंदु युग-भारतेंदु युग में किसी कृति के गुण-दोषों का विवेचन ही आलोचना का लक्ष्य रहा। दूसरे इस युग में आलोचना पुस्तकाकार में उभर कर नहीं आई, बल्कि लेखों के माध्यम से पुस्तकों की विस्तृत समालोचना लिखी जाने लगी। इसका सूत्रपात सर्वप्रथम पं. बदरीनारायण चौधरी ने अपनी 'आनंद कादंबिनी'

पत्रिका में किया। आपने श्रीनिवासदास के 'संयोगिता स्वयंवर' नाटक की कड़ी एवं विशद आलोचना अपनी पत्रिका में प्रकाशित की। उधर स्वयं भारतेंदु जी ने अपनी पत्रिका 'कवि वचन सुधा' में 'हिंदी कविता' शीर्षक एक लेख लिखा, जिसमें कविता के गुण-दोषों का सम्यक विवेचन निहित है। इस युग में पत्र पत्रिकाओं के प्रकाशन के कारण आलोचना को एक आधार भूमि प्राप्त हुई, यथा- 'हरिश्चंद्र चंद्रिका', आनंद कादंबिनी, सार सुधा निधि, हिंदी प्रदीप आदि पत्रिकाओं में विभिन्न प्रकार के आलोचनात्मक लेखों का प्रकाशन प्रारंभ हुआ। उदाहरणार्थ हिंदी प्रदीप में प्रकाशित 'संयोगिता स्वयंवर' की आलोचना, आंनद कादंबिनी में 'बंग विजेता' उपन्यास की आलोचना आदि कुछ इस प्रकार के आलोचनात्मक लेख हैं, जिनमें गुण-दोषों के विवेचन के साथ-साथ विद्वान लेखक कृतियों के आंतरिक मूल्याकन एवं सिद्धांतों की चर्चा की ओर भी उन्मुख हुए हैं। स्वयं भारतेंदु जी ने 'नाटक' नामक एक लेख (जो पुस्तिका के रूप में भी उपलब्ध है) में नाटकीय सिद्धांतों की चर्चा के साथ-साथ नाटक में युगानुरूप परिवर्तन एवं परिवर्धन का सुझाव भी प्रस्तुत किया है।

उपर्युक्त आकलन के पश्चात संक्षेप में हम कह सकते हैं कि आलोचना का जो स्वरूप आज उपलब्ध होता है, उसकी मजबूत आधार-शिला की स्थापना भारतेंदुयुगीन विद्वानों ने की, जो आगे चल कर फलती-फूलती चली गई। भारतेंदु युग की आलोचना को हम व्यावहारिक आलोचना के अंतर्गत ही परिणमित कर सकते हैं।

2. द्विवेदी युग-भारतेंदु जी के पश्चात हिंदी साहित्य के प्रांगण में लौह-पुरुष पं. महावीर प्रसाद द्विवेदी ने पदार्पण किया। पं. महावीर प्रसाद द्विवेदी संस्कृत के प्रकांड पंडित एवं काव्य में नैतिकता के प्रबल समर्थक थे। वे काव्य में भाषागत त्रुटियों के भी विरुद्ध थे। इन सबका तत्कालीन आलोचना पर अत्यधिक प्रभाव पड़ा। द्विवेदीयुगीन आलोचना साहित्य की सर्वोपरि विशेषता यह है कि लेखों, टिप्पणियों आदि के साथ कृति एवं कृतिकारों पर स्वतंत्र पुस्तकों के प्रणयन की

प्रणाली का प्रारंभ हुआ। दूसरे, इस युग में सामान्य कोटि की तुलनात्मक आलोचना का भी सूत्रपात हुआ, जिसका आगे चल कर परिष्कृत एवं प्रांजल रूप में विकास हुआ। तीसरे, पाश्चात्य आलोचना एवं प्राचीन भारतीय काव्य-शास्त्र का स्वरूप हिंदी आलोचना साहित्य में अधिक निखार के साथ प्रविष्ट हुआ। इतना सब होने पर भी हम द्विवेदी युगीन आलोचना के स्तर को उच्चकोटि का नहीं कह सकते। हां! फिर भी आगामी विद्वानों के लिए आधारभूमि तैयार करने में तथा नई प्रकाशित पुस्तकों की भाषाई त्रुटियों के दिग्दर्शन में द्विवेदी युगीन आलोचकों का योगदान प्रशंसनीय है।

इस युग में सर्वप्रथम पं. महावीर प्रसाद द्विवेदी की 'हिंदी कालिदास की आलोचना' पुस्तक प्रकाशित हुई जिसमें कालिदास की अनूदित पुस्तकों की भाषाई त्रुटियों की ओर संकेत किया गया है। इसके अतिरिक्त द्विवेदी जी की ही 'विक्रमाङ्ङ्क-देव चरित चर्चा, नैषध चरित चर्चा और कालिदास की निरंकुशता' पुस्तकें प्रकाशित हुई। ये सब संस्कृत की परंपरागत रूढ़ शैली में लिखी गई हैं एवं इनका केवल ऐतिहासिक महत्व ही है।

इसी युग में मिश्र बंधुओं का नाम उल्लेखनीय है। इनके 'हिंदी नवरत्न' और 'मिश्रबंधु विनोद' ग्रंथ ही अधिक चर्चित हैं। उक्त दोनों ही ग्रंथ किसी भी प्रकार की उत्तम आलोचना का स्वरूप प्रस्तुत नहीं करते। फलतः आगे चलकर हिंदी जगत ने इन्हें पूर्णतः नकार दिया। 'हिंदी नवरत्न' ने हिंदी आलोचना के क्षेत्र में देव और बिहारी को लेकर एक अच्छा खासा विवाद अवश्य उपस्थित कर दिया। इससे एक लाभ अवश्य हुआ कि कुछ विद्वानों ने बिहारी और देव की सूक्ष्म काव्यगत विशेषताओं का भी अवलोकन किया। इस विवाद में प्रविष्ट पं. कृष्णबिहारी मिश्र, पं. पद्ममसिंह शर्मा और लाला भगवानदीन को भी नहीं भुलाया जा सकता। जहां पं. कृष्णबिहारी मिश्र ने अत्यंत संयत एवं प्रौढ़ शैली में बिहारी और देव की काव्यगत विशेषताओं का विश्लेषण कर 'देव' को बिहारी की तुलना में 'प्रमुख स्थान' दिया तो वहीं पद्ममसिंह शर्मा ओर लाला भगवानदीन

ने बिहारी को श्रेष्ठ सिद्ध करने में अपनी सारी शक्ति लगा दी। यद्यपि आलोचना के क्षेत्र में खंडन-मंडनात्मक प्रवृत्ति तथा किसी को छोटा-बड़ा बताने की आदत उचित नहीं है तो भी इस कारण से सूक्ष्म अन्वेषण, भाव-पक्ष एवं कला-पक्ष का सम्यक विवेचन तो उभर कर आता ही है। एक के दोष स्पष्ट होते हैं तो दूसरे के गुण और सुधी पाठकों को अपने विवेक के अनुसार उनके चयन का अवसर प्राप्त होता है। इसी प्रसंग में पदुमलाल पन्नालाल बख्शी के 'विश्व साहित्य' ग्रंथ का उल्लेख भी अत्यंत आवश्यक है, जिसके कारण हिंदी आलोचकों को पाश्चात्य काव्य-शास्त्र के अध्ययन की प्रेरणा मिली और जिसका सफल परिपाक आगे चल कर डॉ. नगेंद्र की कृतियों में हुआ।

3. शुक्ल युग-आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के पश्चात एक सशक्त, मेधावी एवं सूक्ष्म अन्वेषणकर्ता व्यक्तित्व ने आलोचना के क्षितिज पर नयनोन्मेष किया। इन्हें पं. रामचंद्र शुक्ल के नाम से जाना जाता है। इन्होंने अपनी पारदर्शी दृष्टि एवं सूक्ष्म चिंतन के द्वारा एक कुशाग्र और तत्व पारखी के रूप में हिंदी आलोचना को नया आयाम, ऊंचा अर्थ एवं आशय प्रदान किया। वस्तुतः आचार्य शुक्ल ने प्राचीन काव्य-शास्त्र के सार तत्व को ग्रहण कर उसमें पाश्चात्य समीक्षा का पुट देकर युगानुरूप काव्य कृतियों का अवलोकन कर आलोचना साहित्य को एक नया रूप प्रदान किया। आचार्य शुक्ल के लिए तुलसीदास एक आदर्श थे। फलतः उनकी समीक्षा पद्धति लोक मंगल की आधारशिला पर नैतिकता की वेश-भूषा में रसदात्री गंगा के रूप में साकार हो उठी। आपने आलोचना की जिस किसी भी धारा या शाखा का स्पर्श किया, उसे ही तलस्पर्शिनी एवं गगन चुंबिनी प्रकाश-शिखा का रूप प्रदान कर दिया। आपके 'साधारणीकरण' और 'व्यक्तिवैचित्र्यवाद', कविता क्या है? 'काव्य में लोक मंगल की साधनावस्था' आदि अनेक लेखों में तथा 'रस-मीमांसा' जैसे ग्रंथों में सैद्धांतिक आलोचना का प्रसाद आलोकित है तो गोस्वामी तुलसीदास, भ्रमरगीत सार की भूमिका और जायसी ग्रंथावली की भूमिका में व्याख्यात्मक एवं निर्णयात्मक आलोचना के दर्शन होते हैं। आपके प्रसिद्ध ग्रंथ

'हिंदी साहित्य का इतिहास' में कवि, युग एवं काव्य विधाओं के विकास के संबंध में प्रदत्त टिप्पणियां भी आलोचना के विभिन्न आयामों का उद्‌घाटन करती है। संक्षेप में कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि आचार्य शुक्ल की मेधा का संस्पर्श पाकर हिंदी आलोचना ने एक स्थाई समृद्‌ध साहित्यानुरूप स्वरूप ग्रहण कर लिया तथा वह भावी आलोचकों के लिए प्रकाश स्तंभ का कार्य करने लगी। इस युग के अन्य आलोचकों में डॉ. श्यामसुंदरदास का 'साहित्यालोचन'. श्री शांतिप्रिय द्‌विवेदी का 'हमारे साहित्य निर्माता', डॉ. सत्येंद्र का 'गुप्तजी की कला', डॉ. नगेंद्र का 'सुमित्रानंदन पंत' आदि अनेक ग्रंथ उच्च कोटि की आलोचना के प्रतीक ग्रंथ कहे जा सकते हैं। इसी प्रसंग में पं. रामकृष्ण शुक्ल की 'सुकवि समीक्षा' भी उल्लेखनीय है।

4. शुक्लोत्तर युग-आचार्य शुक्ल द्‌वारा प्रशस्त मार्ग को और भी अधिक स्वच्छ एवं प्रांजल बनाने में शुक्लोत्तर आलोचकों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। सच तो यह है कि अब हिंदी साहित्य में आलोचना की बाढ़ सी आ गई। इसमें दो प्रकार के आलोचक आते हैं-एक तो वे जो फैशन के लिए अथवा मार्केट में आने के लिए ही कुछ लिखना चाहते हैं जिनका वास्तविक आलोचना से दूर का भी कोई संबंध नहीं है। दूसरे, वे विद्‌वान मनीषी हैं, जिन्होंने अपनी कृतियों, लेखों आदि से हिंदी आलोचना के गौरव को ही नहीं बढ़ाया, बल्कि आलोचना-साहित्य को अनेक नये आयाम भी प्रदान किए हैं। कुछ विद्‌वानों ने प्राच्य एवं पश्चात्य काव्य-सिद्‌धांतों का अत्यंत मार्मिक एवं सूक्ष्म विवेचन प्रस्तुत कर उनके साम्य-वैषम्य का स्पष्ट निदर्शन किया है।

इन विद्‌वानों में आचार्य नंददुलारे वाजपेयी, औरपं. हजारी प्रसाद हैं तो वे भी हैं जो अपने मित्र, बंधु की सड़ी-गली रचना को आकाश की ऊंचाईयों तक पहुंचाने तथा उन्हें सम्मान, पुरस्कार दिलाने के लिए ही कुछ लिखना चाहते हैं (जिनका वास्तविक आलोचना से कोई दूर का भी संबंध नहीं है)। दूसरे, वे विद्‌वान मनीषी हैं, जिन्होंने अपनी कृतियों, लेखों आदि से हिंदी आलोचना के गौरव को ही नहीं

बढ़ाया, बल्कि आलोचना-साहित्य को अनेक नये आयाम भी प्रदान किए हैं। कुछ विद्वानों ने प्राच्य एवं पाश्चात्य काव्य-सिद्धांतों का अत्यंत मार्मिक एवं सूक्ष्म विवेचन प्रस्तुत कर उनके साम्य-वैषम्य का स्पष्ट निदर्शन किया है। इन विद्वानों में आचार्य नंदुलारे वाजपेयी, पं. हजारी प्रसाद द्विवेदी, पंडित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, डॉ. पीतांबरदत्त बड़थ्वाल, पं. रामदहिन मिश्र, प्रो. गुलाबराय, डॉ. सत्येंद्र, शिवदानसिंह चौहान, डॉ. रामविलास शर्मा एवं मूर्धन्य आलोचक डॉ. नगेंद्र के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इसी स्तर के अन्य भी सैकड़ों आलोचक आज अपना स्थान हिंदी साहित्य में बनाए हुए हैं। 21 वीं सदी का आरंभ नई कविता, अकविता तथा अनेक तरह की गद्य विधाओं का युग है अतः आलोचना का विस्तार भी उसी अनुपात में हुआ है। आलोचना के नैतिक मूल्य, सामाजिक मूल्य बदले हैं। भारतीय संस्कृति पश्चिमी संस्कृति से आक्रांत हुई है। शिक्षा का, रोजगार का, सरकारी नौकरियों का, गृहस्थ जीवन का भी सकारात्मक उन्मेष हुआ। या यों कहें कि अभी पूरा नहीं हुआ। भारत अब भी गरीब और अशिक्षितों का देश है, अतः पूर्णता की दुहाई देना बेमानी है, क्योंकि एक सौ इक्कीस करोड़ की जनसंख्या वाले इस प्रगतिवादी देश में एक साथ सब कुछ पूर्ण नहीं होगा। संक्रांति काल जैसी स्थिति में जीने वाला सामाजिक रचनाकार इन प्रभावों की छाया में लिखता है और आलोचक इन्हीं मूल्यों की आधार भूमि पर आलोचना करता है। कविता, निबंध, संस्मरण, उपन्यास, कहानी आदि हर विधा की आलोचना को व्यापक स्तर पर स्थान मिला है। आलोचक बढ़े हैं, रचनाकार बढ़े हैं और पाठक भी। जनसंख्या वृद्धि के अनुपात में पाठकों की रुचि वैविध्य के आधार पर रचनाओं का लेखन, पाठन, आलोचन तो चल ही रहा है साथ ही ऐसे तपस्वी, साधक, रचनाकार और आलोचक भी हैं जो कलम और दृष्टि को, चिंतन को अपनी आत्मा के अधीन रखकर आलोचना एवं लेखन करते हैं पूरी ईमानदारी और लोक मंगलकारी भावना के साथ। वे अपनी रचनात्मकता को व्यवसाय या निजी उद्देश्य की पूर्ति का अंग नहीं बनाते। बहरहाल स्थिति संतोषजनक है कि

आलोचना की वेगवती धारा अपने सहस्रों रूपों में निर्बाध प्रवाहित है। अब युग नये आलोचकों का है, आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी, भगीरथ मिश्र, डॉ. नामवर सिंह, डॉ. निर्मला जैन, मैनेजर पांडेय, विजय बहादुर सिंह, रामस्वरूप चतुर्वेदी आदि नामों के बाद-साथ और आगे-पीछे अनेक महत्वपूर्ण नाम हैं जो गद्य-पद्य साहित्य की आलोचना का पथ प्रशस्त कर रहे हैं। नये संघ, नये वाद और नई विचारधारा ने दृष्टि को उतना न्यायसंगत तो नहीं रहने दिया जितना पूर्ववर्ती शुक्ल युग और शुक्ल पूर्व के युग में थी। अब रचना और आलोचना का कर्म वैसा निःस्वार्थ, लोक कल्याणमयी, राष्ट्र प्रेम, आस्था और निष्ठा से ओतप्रोत नहीं रहा, लेकिन यह अवश्य कहा जा सकता है कि सबकी अपनी-अपनी अवस्थाएं एवं निष्ठाएं हैं, अपनी-अपनी परिस्थितियां और दृष्टिकोण हैं जिनका प्रभाव आलोचना में दिखाई देता है।

21वीं सदी के आरंभ में शिक्षा के साथ प्रत्येक मनुष्य में चाहे वह रचनाकार न भी हो, आलोचक न हो, साहित्य का ज्ञाता न हो, आलोचना करने की प्रवृत्ति बढ़ी है। चेतना ने उसे स्वयं आलोचक बना दिया, ऐसी स्थिति में साहित्य के आलोचकों को कठिन परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है कि वे अपनी सम्मति को ही ईमानदारी से प्रकट करें या बहुसंख्य सामाजिकों की बात रखे। कभी दोनों का मत एक हो सकता है कभी नहीं। ऐसे में वाद-विवाद बढ़ते हैं और इनके बीच आलोचना को और फलने-फूलने का अवसर मिलता है। अधिकतर आलोचना वाद और समूह से ग्रस्त है। 'तू मेरी टांग खींचेगा तो मैं भी तेरी टांग खींचूंगा' की प्रवृत्ति में निजी स्वार्थों से घिर कर व्यक्तिगत राग-द्वेषों के नीचे रचना के साथ न्याय नहीं हो पाता। श्रेष्ठ रचनाएं कचरे के डिब्बे में या किसी कोने में पड़ी रह जाती हैं और निकृष्ट रचनाओं को बड़े-बड़े सम्मान और पुरस्कारों से नवाजा जा रहा है। आलोचना के लिए यह इस वर्तमान काल का कटु अनुभव है, कठोर एवं घृणित सत्य है। अपवादों के सहारे जैसे सृष्टि चलती रही है वैसे ही रचना और आलोचना का कार्य भी चलता रहेगा।

हिंदी आलोचना के ऊपर बताए गए विकास क्रम व स्वरूप में जो आलोचक आधारभूत स्तंभ के रूप में खड़े दिखाई देते हैं, उनमें प्रमुख हैं आचार्य रामचंद्र शुक्ल, आचार्य नंददुलारे वाजपेयी, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी एवं डॉ. रामविलास शर्मा। अग्रस्थ पृष्ठों पर इन्हीं के व्यक्तित्व, कृतित्वों व मान्यताओं पर प्रकाश डाला जा रहा है।

13.5 हिंदी के प्रमुख आलोचक एवं आलोचनाएँ

- आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की प्रथम सैद्धान्तिक आलोचना 'काव्य में रहस्यवाद' (1929) निबन्ध को माना जाता है।
- आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की प्रमुख आलोचनात्मक कृतियाँ निम्न हैं- (1) गोस्वामी तुलसीदास (1923), (2) जायसी ग्रन्थावली (1924), (3) भ्रमर-गीतसार (1925), (4) रसमीमांसा (1949)।
- 'रसमीमांसा' आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की सैद्धान्तिक आलोचना है।
- आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने आलोचना के क्षेत्र में 'विरुद्धों का सामंजस्य' सिद्धान्त प्रवर्तन किया।
- आचार्य शुक्ल आनन्द की अभिव्यक्ति के आधार पर काव्य के दो विभाग करते है-

(1) आनन्द की साधानावस्था या प्रयत्न-पक्ष को लेकर चलने वाले। जैसे- रामचरित मानस, पद्मावत (उत्तरार्द्ध), हम्मीररासो, पृथ्वीराज रासो, छत्र प्रकाश इत्यादि प्रबन्ध काव्य ।

(2) आनन्द की सिद्धावस्था या उपभोग-पक्ष को लेकर चलने वाले। जैसे- सूरसागर, कृष्णभक्त कवियों की पदावली, बिहारी सतसई, रीतिकाल के कवियों के फुटकल श्रृंगारी पद्य, रास पंचाध्यायी इत्यादि वर्णनात्मक काव्य ।

- जयशंकर प्रसाद ने 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध' में कुछ आलोचनात्मक निबन्ध लिखे हैं।
- जयशंकर प्रसाद ने लिखा है, "काव्य आत्मा की संकल्पनात्मक अनुभूति है ... आत्मा की मनन शक्ति की वह असाधारण अवस्था जो श्रेय सत्य को उसके मूल चारुत्व में सहसा ग्रहण कर लेती है, काव्य में संकल्पनात्मक अनुभूति कही जा सकती है।"
- सुमित्रानन्दन पंत प्रथम छायावादी कवि हैं जिन्होंने छायावादी कविता के बचाव में आलोचना लिखी।
- सुमित्रानन्दन पंत के 'पल्लव' के ' प्रवेश' को छायावाद का घोषणा-पत्र माना जाता है।
- पंत के अनुसार, "कविता हमारे पारेपूर्ण क्षणों की वाणी है।"
- पंत की अन्य आलोचना (1) गद्य पद्य (1953), (2) शिल्प और दर्शन (1961) तथा (3) छायावाद: पुनर्मूल्यांकन (1965) है।
- सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' ने लिखा है, "कविता परिवेश की पुकार है।"
- सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' की प्रमुख आलोचनात्मक कृतियाँ हैं- (1) रवीन्द्र कविता कानन, (2) पंत और पल्लव (1928), (3) प्रबन्ध पद्य।
- निराला ने 'कवित्त' को हिन्दी का जातीय छन्द कहा है।
- आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुवर्ती अन्य आलोचक निम्न हैं -

आलोचक	आलोचना
कृष्णशंकर शुक्ल	(1)केशव की काव्यकला,(2) कविवर रत्नाकर
विश्वनाथ प्रसाद मिश्र	(1) काव्यांग कौमुदी, (2) बिहारी की वाग्विभूति, (3) बिहारी, (4) वाड्मय विमर्श, (5) गोसाई तुलसीदास, (6) हिन्दी में नाट्य साहित्य का विकास।

रामकृष्ण शुक्ल	प्रसाद की नाट्यकला
व्रजरत्नदास	हिन्दी-नाट्य साहित्य
रागकुमार वर्मा	कबीर का रहस्यवाद
जनार्दन मिश्र	विद्यापति
कृष्णानन्द गुप्त	प्रसादजी के दो नाटक
अखौरी गंगा प्रसाद	पद्माकर की काव्य-साधना
भुवनेश्वरनाथ मिश्र	मीरा की प्रेम साधना
गिरिजादत्त शुक्ल	(1) महकवि हरिऔध, (2) गुप्तजी की काव्यधारा
रामनाथ सुमन	प्रसादजी की काव्यकला

शुक्ल युग के कुछ महत्वपूर्ण शास्त्रीय आलोचक निम्न हैं -

आलोचक	आलोचना
जगन्नाथ प्रसाद भानु	(1) रस रत्नाकर, (2) अलंकार दर्पण
गुलाब राय	(1) नवरस, (2) सिद्धान्त और अध्ययन (1946), (3) काव्य के रूप (1947)।
किशोरीदास वाजपेयी	रस और अलंकार
रमाशंकर शुक्ल 'रसाल'	(1) अलंकार पीयूष, (2) नाट्य दर्पण, (3) आलोचनादर्श।
कन्हैयालाल गुप्त	चरित्र चित्रण
पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी	(1) विश्व-साहित्य, (2) विश्व साहित्य विमर्श
सेठ गोविन्द दास	नाट्यकला मीमांसा

मार्क्सवादी या प्रगतिवादी आलोचना

- हिन्दी का प्रथम मार्क्सवादी आलोचक शिवदान सिंह चौहान को माना जाता है।
- शिवदान सिंह चौहान द्वारा लिखा 'भारत में प्रगतिशील साहित्य की आवश्यकता' (1937) शीर्षक निबन्ध को प्रथम मार्क्सवादी समीक्षा स्वीकार किया जाता है।
- हिन्दी के महत्वपूर्ण प्रगतिवादी (मार्क्सवादी) समीक्षक निम्नलिखित हैं-

आलोचक आलोचना

प्रकाशचन्द्र गुप्त - (1) नया हिन्दी साहित्य (1941), (2) आधुनिक हिन्दी साहित्य-एक दृष्टि (1955), (3) हिन्दी साहित्य की जनवादी परम्परा (1953), (4) साहित्यधारा (1955)।

शमशेर बहादुर सिंह - (1) दो आब (1948), (2) कुछ गद्य रचनाएँ (1988), (3) कुछ और गद्य रचनाएँ (1989)।

रामविलास शर्मा - प्रेमचंद (1941), (2) भारतेन्दु युग (1943), (3) निराला (1946), (4) प्रगति और परम्परा (1949), (5) साहित्य और संस्कृति (1949), (6) प्रेमचंद और उनका युग (1952), (7) प्रगतिशील साहित्य की समस्याएँ, (8) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना (1955), (9) भाषा और समाज (1961), (10) साहित्य : स्थायी मूल्य और मूल्यांकन (1968), (11) निराला की साहित्य साधना (तीन भाग-1969, 1972, 1976), (12) भारतेन्दु युग और हिन्दी साहित्य की विकास- परम्परा (1975), (13) महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण (1977), (14) नयी कविता और अस्तित्ववाद (1978), (15) हिन्दी जाति का साहित्य (1986), (16) भारतीय सौन्दर्य बोध और तुलसीदास (2001)1 मुक्तिबोध - (1) कामायनी एक पुनर्विचार (1961), (2) नयी कविता

का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबन्ध (1964), (3) नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र (1971)1 शिवदान सिंह चौहान (1) प्रगतिवाद (1964), (2) साहित्य की परख (1946), (3) हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष (1954), (4) साहित्यानुशीलन (1955), (5) आलोचना के मान (1958), (6) साहित्य की समस्याएँ (1958), (7) परिप्रेक्ष्य को सही करते हुए (1999) ।

नेमिचन्द्र जैन - (1) अधूरे साक्षात्कार (1966), (2) रंगदर्शन (1967), (3) बदलते परिप्रेक्ष्य (1968), (4) जनांतिक (1981), (5) भारतीय नाट्य परम्परा (1989), (6) दृश्य-अदृश्य (1993), (7) रंग-परम्परा (1996), (8) रंग कर्म की भाषा (1996), (9) तीसरा पाठ (1998) 1

अमृतराय - (1) नयी समीक्षा (1943), (2) सह चिंतन (1967), (3) आधुनिक भावबोध की संज्ञा (1972), (4) विचारधारा और साहित्य (1984)1 रांगेय राघव (1) आधुनिक हिन्दी कविता में विषय और शैली (1962), (2) आधुनिक हिन्दी कविता में प्रेम और श्रृंगार (1961), (3) काव्य, कला और शास्त्र, (1955), (4) प्रगतिशील साहित्य के मानदण्ड (1954) (5) समीक्षा और आदर्श (1955), (6) काव्य यथार्थ और प्रगति (1955), (7) काव्य के मूल विवेच्य ।

नामवर सिंह - (1) हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग (1952), (2) छायावाद (1955), (3) इतिहास और आलोचना (1957), (4) आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ (1962), (5) कहानी: नई कहानी (1965), (6) कविता के नये प्रतिमान (1968), (7) दूसरी परम्परा की खोज (1982), (8) वाद विवाद संवाद (1989), (9) आलोचक के मुख से (2005)।

विश्वम्भरनाथ उपाध्याय - (1) पंतजी का नूतन काव्य और दर्शन (1955), (2) हिन्दी की दार्शनिक पृष्ठभूमि (1957), (3) निराला की साहित्य-साधना (1958), (4) आधुनिक कविता: सिद्धान्त और समीक्षा (1960), (5) कबीरदास (1961), (6) समकालीन सिद्धान्त और साहित्य (1973), (7) समकालीन कविता की भूमिका (1973), (8) उजले और उबलते प्रश्न (1976), (9) स्वातंत्र्योत्तर कथा

साहित्य (1978), (10) भारतीय काव्यशास्त्र का द्वंद्वात्मक आलोक में अध्ययन (1980), (11) मीमांसा और पुनर्मूल्यांकन (1986), (12) समकालीन मार्क्सवाद (1987), (13) सिद्ध सरहपा (2004), (14) भारतीय काव्यशास्त्र का इतिहास (2005)।

रमेश कुंतल मेघ - (1) मिथक और स्वप्न 'कामायनी' की मनस्सौन्दर्य सामाजिक भूमिका (1962), (2) आधुनिक बोध और आधुनिकीकरण (1969), (3) मध्यकालीन रस दर्शन और समकालीन सौन्दर्यबोध (1968), (4) तुलसी आधुनिक वातायन से (1973), (5) कलाशास्त्र और मध्यकालीन भाषिकी क्रांतियाँ, (6) सौन्दर्य, मूल्य और मूल्यांकन (1975), (7) क्योंकि समय एक शब्द है (1975), (8) अथातो सौन्दर्य जिज्ञासा (1977), (9) साक्षी है सौन्दर्य प्राश्निक (1980), (10) 'कामायनी' पर नयी किताब।

शिवकुमार मिश्र - (1) कामायनी और प्रसाद की कविता गंगा (1954), (2) वृन्दावन लाल वर्मा : उपन्यास और कला (1956), (3) नया हिन्दी काव्य (1962), (4) आधुनिक कविता और युग दृष्टि (1966), (5) प्रगतिवाद (1966), (6) मार्क्सवादी साहित्य चिन्तन इतिहास और सिद्धान्त (1973), यथार्थवाद (1975), (8) साहित्य और सामाजिक सन्दर्भ (1977), (9) प्रेमचन्द विरासत का सवाल (1981), (11) भक्ति काव्य और लोक जीवन (1983), (12) हिन्दी आलोचना की परम्परा और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल (1986), (13) आलोचना के प्रगतिशील आयाम (1987) 1

विश्वनाथ त्रिपाठी- (1) हिन्दी आलोचना (1970), (2) लोकवादी तुलसीदास(1974), (3) मीरा का काव्य (1979), (4) देश के इस दौर में, (5) हिन्दी साहित्य का सरल इतिहास, (6) पेड़ का हाथ (केदारनाथ अग्रवाल)।

धनंजय वर्मा - आस्वाद के धरातल (1969), (2) निराला काव्य का पुनर्मूल्यांकन (1973), हस्तक्षेप (1975), (3) आलोचना की रचना यात्रा (1978), (4) आधुनिक कविता के बारे में तीन अध्याय (1984), (5) आधुनिकता

13.6 सार - संक्षेप

इस इकाई में हिंदी आलोचना के व्युत्पत्तिपरक अर्थ, उसके विकासक्रम और प्रमुख आलोचकों की दृष्टियों का विवेचन किया गया है। आलोचना का अर्थ किसी वस्तु, विधा या व्यक्ति का विवेचनात्मक परीक्षण करना है, जिसमें उसके गुण-दोषों का मूल्यांकन और समाज, संस्कृति तथा कला के परिप्रेक्ष्य में उसकी व्याख्या शामिल होती है। भक्तिकाल में शास्त्रीय और व्यावहारिक आलोचना के बीज दृष्टिगत होते हैं, जो रीतिकालीन आचार्यों के प्रयासों से प्रणालीबद्ध हुए। आधुनिक काल में आलोचना का व्यवस्थित और व्यापक विकास हुआ, जिसमें गद्य साहित्य, पाश्चात्य प्रभाव, सांस्कृतिक पुनरुत्थान, और औद्योगिक क्रांति ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। आलोचना को भारतेंदु युग, द्विवेदी युग, शुक्ल युग, और शुक्लोत्तर युग में वर्गीकृत किया गया है, जिसमें शुक्ल युग को केंद्रीय बिंदु माना गया है। समकालीन आलोचना में साहित्य को बहुआयामी दृष्टिकोण से देखने का प्रयास होता है, जिससे आलोचना का क्षेत्र व्यापक और गहन बनता गया है।

13.7 मुख्य शब्द

- आलोचना - 'आ' उपसर्ग और 'लोच' (दर्शन) धातु से व्युत्पन्न शब्द, जिसका अर्थ है किसी वस्तु या कृति का गहन परीक्षण और मूल्यांकन।
- व्युत्पत्ति - किसी शब्द की उत्पत्ति और उसके मूल स्वरूप का अध्ययन।
- रस - साहित्य में भावनाओं को अभिव्यक्त करने वाला तत्व, जैसे- शृंगार, करुण, वीर।
- शास्त्रीय आलोचना - काव्यशास्त्र के सिद्धांतों पर आधारित कृति का विश्लेषण, जैसे नंददास की 'रस मंजरी'।
- व्यावहारिक आलोचना - कृति के अनुभव और प्रभाव पर आधारित आलोचना, जैसे तुलसीदास और सूरदास की रचनाओं का विवेचन।

- प्रभावात्मक आलोचना - किसी कृति के पाठ से उत्पन्न प्रभाव का अभिव्यक्ति रूप, जैसे रहीम की तुलसी पर टिप्पणी।
- तुलनात्मक आलोचना - दो या अधिक कृतियों के गुण-दोषों का तुलनात्मक अध्ययन, जैसे रीतिकालीन कवियों की तुलना।
- रस-निष्पत्ति - काव्य में भाव उत्पन्न करने की प्रक्रिया, जो श्रोता या पाठक में आनंद उत्पन्न करती है।
- शुक्ल युग - आचार्य रामचंद्र शुक्ल का काल, जिसमें आलोचना का व्यवस्थित स्वरूप विकसित हुआ।
- पाश्चात्य प्रभाव - पश्चिमी साहित्य और विचारधारा से प्रभावित दृष्टिकोण, जिसने आलोचना को वैज्ञानिक और विवेचनात्मक रूप दिया।
- सांस्कृतिक पुनरुत्थान - भारतीय संस्कृति और परंपराओं के प्रति जागरूकता और रुचि का पुनः विकास।

13.8 स्वप्रगति परीक्षण प्रश्नों के उत्तर

प्रगति की जाँच

उत्तर: 1. किसी वस्तु को चारों ओर से देखना या विचार करना।

उत्तर: 2. गुण, दोष

उत्तर: 3. वैज्ञानिक

उत्तर: 4. निष्पक्षता

13.9 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. आधुनिक साहित्यिक आलोचना - डॉ. नामवर सिंह, राजकमल प्रकाशन, 2000
2. आधुनिक हिंदी आलोचना के आयाम - डॉ. रेवती रमण, लोकभारती प्रकाशन, 2005

3. आलोचना की परंपरा और प्रवृत्तियाँ - डॉ. सत्येंद्र कुमार, वाणी प्रकाशन, 2010
4. हिंदी साहित्य में आलोचना के बदलते स्वरूप - डॉ. विजय कुमार, साहित्य अकादमी, 2014
5. साहित्यिक चिंतन और आलोचना - डॉ. अरुण कुमार शुक्ल, ग्रंथ अकादमी, 2016

काव्यशास्त्र और आधुनिक आलोचना - डॉ. राजेश्वर शर्मा, भारतीय ज्ञानपीठ, 2018

13.10 अभ्यास प्रश्न

1. आलोचना के शास्त्रीय और व्यावहारिक रूपों में क्या अंतर है? उदाहरण सहित स्पष्ट कीजिए।
2. 'रस' की अवधारणा का संक्षेप में वर्णन करते हुए रस-निष्पत्ति की प्रक्रिया समझाइए।
3. आधुनिक काल की आलोचना के प्रमुख विशेषताएँ और पाश्चात्य प्रभाव का वर्णनकीजिए।
4. आचार्य रामचंद्र शुक्ल के आलोचनात्मक दृष्टिकोण को उदाहरण सहित स्पष्ट कीजिए।
5. सांस्कृतिक पुनरुत्थान और औद्योगिक क्रांति ने हिंदी साहित्य और आलोचना को किस प्रकार प्रभावित किया?

इकाई 14

मनोविश्लेषणवाद

14.1 प्रस्तावना
14.2 उद्देश्य
14.3 मनोविश्लेषणवाद का स्वरुप
14.4 मनोविश्लेषणवाद सिद्धांत
14.5 युंग पद्धति
14.6 मनोविश्लेषणवाद की प्रमुख विशेषताएं
14.7 सार - संक्षेप
14.8 मुख्य शब्द
14.9 स्वप्रगति परीक्षण प्रश्नों के उत्तर
14.10 संदर्भ ग्रंथ सूची
14.11 अभ्यास प्रश्न

14.1 प्रस्तावना

मनोविश्लेषणवाद, मानव मन की गूढ़ताओं को समझने और उसकी कार्यप्रणाली का विश्लेषण करने की एक प्रभावशाली मनोवैज्ञानिक पद्धति है, जिसका सूत्रपात सिगमंड फ्रायड ने किया। यह सिद्धांत साहित्यिक आलोचना और सृजन के क्षेत्र में विशेष महत्व रखता है, क्योंकि यह रचनाकार की मनःस्थितियों और रचना प्रक्रिया के गहन विश्लेषण में सहायक होता है। फ्रायड, एडलर और युंग जैसे मनोवैज्ञानिकों ने इस सिद्धांत को विविध दृष्टिकोणों से समृद्ध किया। फ्रायड के मनोविश्लेषण, एडलर के वैयक्तिक मनोविज्ञान और युंग के विश्लेषणात्मक

मनोविज्ञान ने साहित्य और कला के अध्ययन में नए दृष्टिकोण प्रस्तुत किए। इस इकाई में मनोविश्लेषणवाद के स्वरूप, इसके मुख्य सिद्धांतों और उनके साहित्यिक संदर्भ में उपयोग पर चर्चा की गई है, जिससे पाठक इस पद्धति की प्रासंगिकता और सीमाओं को बेहतर तरीके से समझ सकें।

14.2 उद्देश्य

प्रिय शिक्षार्थियों, इस इकाई के अध्ययन के बाद आप निम्नलिखित पहलुओं को समझ सकेंगे:

- मनोविश्लेषणवाद का स्वरूप और इसके प्रमुख सिद्धांत, जैसे फ्रायड, एडलर और युंग के दृष्टिकोण।
- फ्रायड के मनोविश्लेषण के चार मुख्य सूत्र–दृढ़ नियतत्ववाद, अचेतन मन, स्वप्न और मन की संरचना।
- एडलर के वैयक्तिक मनोविज्ञान और अधिकार भावना पर आधारित सिद्धांत।
- युंग के विश्लेषणात्मक मनोविज्ञान, जिजीविषा और सामूहिक अचेतन के महत्व।
- कला और कलाकार के संदर्भ में इन तीनों मनोवैज्ञानिकों की मान्यताओं का तुलनात्मक अध्ययन।
- सर्जनात्मकता में आदिम अनुभूति, पौराणिक बिंब विधान और मिथक की भूमिका।
- साहित्य और मनोविश्लेषण के अंतर्संबंधों का स्पष्ट अवलोकन और इसकी सीमाओं का आकलन।

14.3 मनोविश्लेषणवाद का स्वरुप

लगभग आधी सदी पहले मनोविश्लेषण को साहित्य के क्षेत्र में सोत्साह ग्रहण किया गया, पर आजकल उसे साहित्य के लिए, विशेषतः आलोचनात्मक साहित्य के लिए एकदम अनुपयुक्त सिद्ध किया जाने लगा है। दोनों मान्यताएँ अतिवादी है। यह सही है कि फ्रायड, एडलर व युंग ने साहित्यकार और उसकी रचना के संबंध में बहुत सी स्थानाएँ ऐसी प्रकट की है, जो साहित्यिक संदर्भ में अविचारणीय है। फिर भी साहित्य की समझदारी में इस सिद्धान्त का अपना योगदान है, इससे इनकार नहीं किया जा सकता। मनोविश्लेषण के आदि प्रवर्तक फ्रायड है। एडलर व युग उनके सहयोगी थे। कालांतर में इन दोनों ने अपने अलग-अलग सिद्धान्त स्थापित किये। तीनों सिद्धान्तों के अलग-अलग नाम है। फ्रायड के मनोविश्लेषण या सिद्वान्त को साइकोएनैलिसिस, एडलर के सिद्धान्त को वैयक्तिक मनोविज्ञान (इंडिविजुवल साइकोलॉजी), और युग के सिद्धान्त को विश्लेषणात्मक मनोविज्ञान (इनेलिटिकल साइकोलॉजी) कहा गया है। इन्हें, मनोवैज्ञानिकों की वृहद्भयी कहते हैं। मनोविश्लेषण सिद्धान्त- फ्रायड चार सूत्रों के आधार पर मनोविश्लेषण सिद्धान्त की योख्या करते है- दृढ नियत्तत्ववाद, अचेतन मन, स्यप्न और मन की संरचना। कार्य कारण का नियत संबंध नियतत्ववाद है। सोनी प्रत्येक मानसिक व्यापार के मूल में अब इन सिद्धान्तों पर एक नजर डालना जरूरी है। कोई-न-कोई कारण होता है और उसे खोजा जा सकता है। दूसरा सूत्र है अचेत्तत मन। मन की तीन तहें हैं- चेतन, उपचेतन और अचेतन। चेतन मन सामाजिक प्रतिबन्धों का मन है, जिसे सभ्यता, संस्कृति, चार विचार कहते हैं। अचेतन मन उन आकांक्षाओं का भण्डार है, जो अपनी सम्पूर्ण व्याकुलताओं में दमित रहता है। यौनभावना या काम इसकी सर्वप्रमुख विशेषता है। दमित भावनाएँ ही मनोग्रंथियों का रूप धारण करती है। सपने अचेतन मन की ही अभिव्यक्ति है। अतृप्त आकांक्षाएँ सपनों में तृप्ति का मार्ग

ढूंढ़ती है। सपने के अध्ययन से अचेतन मन की जानकारी एक हद तक पायी जा सकती है।

एडलर जीवन की केन्द्रीय प्रेरणा शक्ति अधिकार भावना को मानते हैं। मनुष्य को सामाजिक संरचना, कार्य और प्रेम के बक्षेत्र में खुद को समायोजित करना पड़ता है। मनुष्य शिशुरूए असहाय प्राणी है। उसे अर्जन और रक्षा के लिए दूसरों पर आश्रित रहना पड़ता है। असहायता के कारण उसकी भावना में अनुचित व्यवहार, विषम परिस्थिति और आंगिक हीनता के कारण और भी तीखापन आ जाता है। यानी वह असहायता को बुरी तरह महसूस करने लगता है। असहायता की प्रतिक्रिया तीन रूप में दिखाई पढ़ती है- एक प्रकार की क्षति या कमी को दूक्ष प्रकार के उत्कर्ष विधायक कार्यों द्वारा पूरा करता है या वह कर्मविमुख हो जाता है या हीनता ग्रन्थि से समझौता कर लेता है। इसे अति क्षतिपूर्ति भी कहते हैं।

फ्रायड की अपेक्षा एडलर के सिद्धान्त द्धान्त की व्यापकता को स्वीकार किया गया है। फ्रायड मनस्ताप को मन की विकृति मानते हैं और एडलर सप्पूर्ण व्यक्तित्व की। फ्रायड के लिए जीवन की मूल प्रेरणा यौन भावना है और एडलर की अधिकार-भावना। अचेतनमन मन के सिद्धान्त में विशेष अंतर नहीं है। फ्रायड का उदात्तीकरण और एडलर का क्षतिपूर्ति सिद्धान्त एक-सा है।

युग ने यौन प्रेरणांके स्थान पर जिजीविषा पर अधिक बल दिया है। कामजन्य संघर्ष एकांगी होता है जब कि जिजीविषा जन्म संघर्ष सर्वांगीण और सर्वतोमुखी होता है। बावजूद इसके तीनों मनौवैज्ञानिक अचेतन मन और मानसिक अनियतत्ववाद के समर्थक हैं। । फ्रायले फ्रायल और एजलर की कला संबंधी मान्यताएँ लगभग एक जैसी है। युग की मान्यताएँ अलग हैं।

कलाकार मनस्तापी व्यक्ति फ्रायड और एडलर दोनों मनोवैज्ञानिक कला को मन की दमित आंकाक्षाओं और हीनता की पूर्ति मानते हैं। वे कलाकार को मनस्तापी या रुग्ण मनते हैं। मनौवैज्ञानिक फ्रायड का मनस्तापी कलाकार यौनभावना से

ग्रस्त रहता है एवं उसी की पूर्ति रम्यकल्पनाओं, स्वप्न या कला से करता है। कलात्मक अभिव्यक्ति में उसकी दमित यौन भावनाओं का उदात्तीकरण होता है। एडलर की दृष्टि में कलाकार मुख्यतः अधिकार भावना से युक्त होता है, क्षतिपूर्ति के द्वारा उसका मनस्ताप दूर होता है।

14.4 मनोविश्लेषणवाद सिद्धांत

मनोविश्लेषणवाद मानव-मन के विश्लेषण करने की एक मनोवैज्ञानिक पद्धति है, जिसका जन्मदाता वियना का मस्तिष्क-चिकित्सक सिगमण्ड फ्रायड को स्वीकार किया जाता है। इस पद्धति पर पर्याप्त विचार हुआ है, पर विशेष महत्व एडलर और कार्ल जुंग को ही दिया जाता है।

फ्रायड ने सन् 1881 में मस्तिष्क-चिकित्सक के रूप में व्यवसाय प्रारम्भ किया। इससे पूर्व उसने अपनी शिक्षा रसायनशास्त्र, वनस्पतिशास्त्र और शरीरशास्त्र के माध्यम से पूरी की थी। उसने यह स्वीकार किया है कि 'सम्मोहन' द्वारा मानसिक चिकित्सा सुगम है। इस सम्मोहन-चिकित्सा पद्धति का अध्ययन उसने पेरिस जाकर वहाँ के प्रतिष्ठित मनोवैज्ञानिक मस्तिष्क-चिकित्सक डॉक्टर चारकोट के साथ किया। उसका निष्कर्ष था कि सम्मोहित अवस्था में व्यक्ति से वे सारे रहस्य जाने जा सकते हैं जो इससे विपरीत दशा में शायद प्रकट न हो सकें। अतः सम्मोहन व्यक्ति के अचेतन तक पहुँचने का सहज साधन है। यह भी माना जाता है कि मानसिक विकृति के दो कारण हैं-भूली हुई अथवा भुलाई गई घटनाएँ और दमित इच्छाएँ। अतः सम्मोहन, स्वच्छन्द विचार, सामाजिक अवरोध-हीनता, उसकी पुरानी स्मृतियों को जीवित करने और सहज स्वस्थ होने में सहायक है।

फ्रायड के ग्रन्थ- फ्रायड का साहित्य पर्याप्त विस्तृत है, किन्तु इसकी प्रसिद्धि का आधार एक पुस्तक है जिसका सीधा संबंध 'मनोविश्लेषण' से है। इसके अंग्रेजी रूपान्तर का नाम है 'एन आउटलाइन ऑफ सायको-एनालायसिस' ।

14.5 युंग पद्धति

युंग पद्धति - युंग ने कहा है, 'आदिम अनुभूति कलाकार की सर्जनशीलता का स्त्रोत है। चूँकि उसका आकलन संभव नहीं है, इसलिए उसे रूप देने के लिए पौराणिक बिम्ब विधान की आवश्यता होती है। अपने आप में वह कोई शब्द या बिम्ब नहीं प्रस्तुत करती, क्योंकि उसका रूप धूमिल होता है। वह एक प्रकार की गहरी पूर्व सूचना है जो अभिव्यक्ति पाना चाहती है। उसकी स्थिति उस वात्याचक्र के समान है जो पहुँच की सीमा में पड़ने वाली प्रत्येक चीज को पकड़ लेती है, और उसे ऊपर उठाकर दृश्य आकार ग्रहण कर लेती है। उस दृश्य में जो दिखाई पड़ता है वह सामूहिक अचेतन है।' इस उदाहरण के विश्लेषण से तीन निष्कर्ष निकलते हैं -

1) आदिम अनुभूति कलाकार की सर्जनशीलता का स्त्रोत है।

2) वह गत्यात्मक है और कलाकार उसको रूप देने के लिए विवश है।

3) इसके लिए उसे पौराणिक बिम्ब विधान या मिथक की आवश्यकता होती है। इन तीनों मनोवैज्ञानिकों द्वारा विवेचित-विश्लेषित सिद्धान्तों के आधार पर यह कहना निर्विवाद होगा कि मनोविश्लेषणवाद का गुण एवं सीमा यह है कि वह रचयिता की मनःस्थितियों का लेखा-जोखा प्रस्तुत करती है। स्वयं रचना के संबंध में यह सिद्धान्त मौन रहता है। यह आलोचनात्मक पैमाने में सहायक तो हो सकता है, पर निर्धारक नहीं।

14.6 मनोविश्लेषणवाद की प्रमुख विशेषताएं

फ्रायड ने इस प्रक्रिया में जीव-विज्ञान और मनोविज्ञान दोनों का आधार लिया है-

(1) मानव व्यक्तित्व का शिल्पीकरण- इन्होंने मानव व्यक्तित्व के शिल्पीकरण की प्रक्रिया में तीन तत्वों को स्वीकार किया-इदम्, अहम्, अति अहम् ।

(i) इदम्- यह एक प्रकार की ऊर्जा है, जिसका कार्य प्रतिवर्ती क्रियाओं एवं विभ्रमों के निराकरण या परितोष में होता है। इसे तनाव-मुक्ति में सहायक मानते हुए 'सुख-सिद्धान्त' की संज्ञा दी गयी।

(ii) अहम्- इसका विकास संज्ञा-प्राप्ति एवं बौद्धिक विकास के बाद परिवार के संसर्ग में आने पर होता है। यह इदम् को व्यवस्थित रखता है तथा इदम् के परितोष के लिए मार्ग निर्धारित करता है। 'चेतना' जो एक क्षणिक तत्व है, अहम् का भौतिक गुण है। इसका कार्य 'सहज वृत्तियों' जिसे इदम् कहते हैं, की पूर्ति करने के साधन जुटाना भी है। इस कारण यह वास्तविक सिद्धान्त स्वीकार किया गया ।

(iii) अति अहम् यह वह वृत्ति है जिस पर दो तत्व शासन करते हैं- (a) अहं आदर्श, (b) विवेक अथवा अन्तःकरण। अहं आदर्श का निर्माण, सामाजिक पारिवारिक आदर्श, जीवन-मूल्य, नैतिक-सांस्कृतिक मान्यताओं आदि से होता है। इसे. आदर्शवादी या पूर्णतावादी सिद्धान्त स्वीकार किया गया है।

मानव व्यक्तित्व का शिल्पीकरण अपनी विकसित काम-प्रकृति तथा परिवार से सन्दर्भित काम-वासनाओं द्वारा होता है। फ्रायड शिशु को प्रारम्भ से ही काममूलक मानता है। तेरह वर्ष की अवस्था से रति-इच्छाएँ बलवती होने लगती हैं और वह नवीन काम-चेतना से उद्वेलित हो उठता है। इस अवस्था में 'इदं', 'अहम्' और 'अति-अहं' से एक सन्तुलित स्थापित हो जाता है। सन्तुलन
का अभाव विकार का कारण बनता है।

(2) वृत्तियों की अवधारणा वृत्ति सहज होती है, उसका कोई लक्ष्य भी होता है तथा लक्ष्य-प्राप्ति के साधन भी होते हैं। जो तत्व उन वृत्तियों को उत्तेजित करते हैं, उन्हें संवेग कहा जाता है। शारीरिक उत्तेजना को वृत्ति की जाग्रति का आधार माना जाता है। वृत्ति जाग्रत होकर जब अपने तथ्य की ओर बढ़ती है तो व्यक्ति

का अहं और अति-अहं उसमें बाधक हो उठता है। किसी रूपसी को देखकर जो उत्तेजना अनुभव होगी, वही काम-वृत्ति का उद्‌गम होगी। यदि पूर्ति हो गयी तो सहज स्थिति आ जायेगी अन्यथा तनाव बढ़ता रहेगा।

(3) चेतन, अचेतन एवं अर्द्‌ध-चेतन- फ्रायड ने मन के तीन स्तरों को स्वीकार किया है-

(i) चेतन- उनकी धारणा है कि वृत्यात्मक ऊर्जा (मूलवृत्ति) जब प्रबल हो उठती है और उत्तेजित मन अपनी भावनाओं को शब्द देने में सफल हो जाता है तब मन का यह स्तर चेतन कहलाता है या जिस अवस्था में भावनाओं तथा विचारों का मनुष्य को शीघ्र शोध हो जाता है, उसमें अहम् की प्रधानता रहती है।

(ii) अचेतन- जब यह वृत्तात्मक ऊर्जा अहं या अति-अहं के कारण सबल नहीं हो पाती, उत्तेजित मन का संबंध शब्दों से स्थापित नहीं हो पाता, तो भावनाएं कुण्ठित होकर मन के उस स्तर पर पुंजीभूत हो उठती है, जिसे अचेतन मन कहते हैं।

हृदय के अधिकांश अंग अचेतन मन पर भी घनीभत होते हैं अर्थात व्यक्ति की अधिकांश भावनाएँ यों कह सकते हैं कि के सभी अनुभवों एवं अभुक्त वासनाओं को सुरक्षित रखने वाला केन्द्र है। फायड इसे ही मनुष्य के आचार-विचार, व्यवहार-स्वभाव आदि को प्रकट करने वाली प्रमुख शक्ति मानता है।

(iii) अर्ध-चेतन- यह अचेतन का ही एक रूप है।

(4) 'काम' की अवधारणा- फ्रायड के मनोविश्लेषणवाद का सर्वाधिक महत्वपूर्ण सिद्‌धान 'काम-सिद्‌धान्त' ही है। उन्होंने जीवन की सर्वाधिक महत्वपूर्ण तथा प्रबल शक्ति काम को ही माना है। उन्होंने उसका नामकरण 'लिबिडो' किया। काम-वासनाओं का विकास चार प्रकार से होता है-

1. मुखगत, 2. गुदागत, 3. लैंगिक, 4. जननेन्द्रियगत ।

फ्रायड शिशु को जन्म से ही काममूलक मानते हैं। मुखागत काम-ऊर्जा के कारण वह माँ के स्तनपान और अँगूठा चूसने में आनन्द का अनुभव करता है। फ्रायड यह स्वीकार करता है कि मल-त्याग में जो आनन्द होता है, वह गुदागत है। उसे इस अवस्था में अहं या अति-अहं ने प्रभावित नहीं किया है और यौवन की स्थिति आते ही उसकी सहज स्थिति में काम-सुख फिर कामेन्द्रियों पर स्थित होने लगता है। तेरह वर्ष की अवस्था में रति-चेतना जाग्रत होती है और उस समय दो ग्रन्थियों का विकास हो उठता है -

(क) इडिपस कॉम्प्लेक्स- यह उसके मन में विषमलिंगी के प्रति कामेच्छा और समलिगी के प्रति ईर्ष्या की भावना जगाती है। इस अवस्था में पूर्ति सम्भव नहीं हो पाती- अनेक विरोध (अहं, अति-अहं आदि) उपस्थित हो जाते हैं और इच्छाएँ दमित हो जाती है, पर ये मर नहीं जाती, अचेतन में एकत्रित हो जाती हैं।

(ख) कास्ट्रेशन कॉम्प्लेक्स इसे मनोग्रन्थि भी कहा गया है। इस ग्रन्थि के विकास तक पूर्ण यौवन की स्थिति आ जाती है।

काम की अतृप्ति- दमित कामेच्छाएँ या अतृप्त कामेच्छाएँ जो अचेतन में एकत्रित होती रहती हैं, स्वप्न के रूप में फूटती हैं और सामान्य जीवन में अनेक भूलें कराती हैं। ये वासनाएँ जब अत्यधिक प्रबल हो उठती हैं, तब अनेक विकार उत्पन्न हो जाते हैं, यथा-हिस्टीरिया आदि और व्यक्ति अपराधी होकर दुराचारी तक हो सकता है।

(5) दमित वासनाएँ और साहित्य- जन्मकाल से 'काम' की वृत्ति होने के कारण 'काम' मानव की मूल एवं सर्वाधिक शक्तिशाली प्रवृत्ति है। फ्रायड मानव जीवन के सभी क्रिया-व्यापारों के मूल में 'काम' को स्वीकार करता है, पर यह वृत्ति निरन्तर दबायी जाती है। इसके फ्रायड ने दो कारण स्पष्ट किये हैं-

है।

(i) सामाजिक अवरोध- इसे फ्रायड ने अहं और अति-अहं के अन्तर्गत रखकर स्पष्ट किया

(ii) मानसिक- इसके अन्तर्गत फ्रायड ने मानसिक चिन्ताओं का उल्लेख किया है। ये तीन प्रकार की मानी गयी है-

(क) वस्तुनिष्ठ- किसी बाहरी भय के कारण यह चिन्ता उत्पन्न होती है।

(ख) स्नायुविक यह चिन्ता अहं के उल्लंघन के भय से उत्पन्न होती है।

(ग) नैतिक- अति अहम् का अतिक्रमण करने का भय इस चिन्ता को उभारता है।

इस प्रकार यह स्वाभाविक हुआ कि वासनाओं की पूर्ति भी होती है और दमन भी। यह दमन कई कारणों से होता है-अहं. अति अहम, बाह्य भय, सामाजिक भय, नैतिक भय। ये दमित वासनायें अचेतन में समाती रहती हैं, शान्त नहीं होतीं। इनके फटने के तीन स्वरूप फ्रायड ने स्वीकार किये हैं-

(i) मानसिक रोगों के रूप में- ये विकृतियाँ फूटकर अनेक मानसिक रोगों का रूप ले लेती है। यथा-हिस्टीरिया, मानसिक विक्षिप्तता आदि । (ii) मानसिक विकारों के रूप में- जब मूल प्रवृत्तियों फूटता है तो पाप-कर्मों की ओर धकेल देता है। का दमन, अविद्यात्मक रूप लेकर (ii) उदात्त रूप में- ये वृत्तियाँ जब उदात्त रूप में फूटती हैं तो कला, साहित्य, धर्म, और संस्कृति का रूप धारण करती हैं। कला और साहित्य फ्रायड के अनुसार दमित वासनाओं के उदात्त रूप में प्रकट होने का ही फल है। फ्रायड ने 'द रिलेशन ऑफ पोइट टू डे-ड्रीमिंग' में इस तथ्य को स्पष्टतः स्वीकार भी किया है कि कवि-कलाकार अपनी दमित वासनाओं के समाज के भय के कारण कला के रूप में परिवर्तित कर देता है।

कार्ल जुंग- इनके अनुसार भी 'काम' मानव-जीवन की मूल प्रवृत्ति और उसके समस्त क्रियाकलापों की निर्णायक एवं प्रेरणादायक शक्ति है। काम के वेग को गतियुक्त और ठहराव से युक्त मानते हुए इन्होंने यह स्पष्ट किया है-प्रारम्भ में यह वेग 'आहारगत' होता है-फिर 'रत'। वीर्य की उत्पत्ति होते ही यौवनावस्था की स्थिति आती है। इसके अवरोध में व्यक्ति जीवन में खालीपन अनुभव करता है, पर काम अपने उद्देश्य की ओर गतिमान रहता है। उन्होंने इसकी दो दशायें

मानी (1) अन्तर्मुखी प्रवाह- इस प्रवृत्ति का व्यक्ति भावुक, पलायनवादी व लचीला होता है।

(2) बहिर्मुखी प्रवाह- इस प्रवाह के कारण व्यक्ति में साहस एवं कर्मचेतना का संचार होता है।

जुंग की साहित्य-संबंधी मान्यताएँ -

जुंग ने फ्रायड की अपेक्षा साहित्य व कला पर अधिक विचार किया है, जो इस प्रकार है -

(1) उनके अनुसार कला का मूल उत्स सामूहिक संस्कारगत मूल प्रवृत्तियों से है। उसमें अवचेतन मन की वैयक्तिक प्रवृत्तियों की भूमिका रहती है।

(2) जुंग के अनुसार कला-सर्जना के दो प्रकार हैं- (i) मनोवैज्ञानिक, तथा (ii) अभ्यासगत। मनोवैज्ञानिक कला-मनुष्य के चेतन मन से अपनी सामग्री जुटाती है और उसके सामान्य अनुभवों को लेकर काव्य-अनुभूतियों को व्यक्त करती है। इस प्रकार रचना-प्रक्रिया का मूल उत्स उसने मानव-मन के समयातीत संस्कार को माना है।

(3) जुंग कला के मूल उत्स को मानव को अंतश्चेतन में युग से संचित कालातीत संस्कार को मानता है। मनुष्य की अन्तर्वृत्तियों और बहिर्वृत्तियों के सामंजस्य से ही यह उत्स काव्य-कला की भागीरथी में बदलता है।

(4) पहले संचित संस्कार द्वारा आदर्श स्थापित किये जाते हैं। ये आदर्श देश-कालातीत होते हैं। इसके पश्चात् उन स्मृतियों, प्रतीकों एवं प्रतिभाओं को जगाया जाता है, जो अवचेतन में

दबी रहती हैं।

स्वप्रगति परीक्षण

1. फ्रायड के अनुसार मानव व्यक्तित्व के शिल्पीकरण में तीन तत्व होते हैं: _____, _____, और _____।

2. फ्रायड ने 'काम' को जीवन की सर्वाधिक महत्वपूर्ण शक्ति मानते हुए उसका नाम _____ रखा।
3. जुंग के अनुसार कला-सर्जना के दो प्रकार हैं: _____ और _____।
4. फ्रायड ने दमित वासनाओं के उदात्त रूप को _____, _____, _____ और _____ का आधार माना है।

14.7 सार - संक्षेप

इस इकाई में मनोविश्लेषणवाद के सिद्धांत और साहित्य के क्षेत्र में उसकी प्रासंगिकता का अध्ययन किया गया है। मनोविश्लेषणवाद का मुख्य उद्देश्य मानव मन की संरचना और उसकी प्रक्रियाओं का विश्लेषण करना है। फ्रायड, एडलर और युंग ने अपने-अपने दृष्टिकोण से इस सिद्धांत को विविध रूप प्रदान किया। फ्रायड ने मन के तीन स्तर–चेतन, उपचेतन और अचेतन–का विवरण प्रस्तुत किया और यौनभावना को जीवन की मूल प्रेरणा बताया। एडलर ने अधिकार भावना और क्षतिपूर्ति सिद्धांत पर बल दिया, जबकि युंग ने जिजीविषा और सामूहिक अचेतन के माध्यम से कला और सर्जनशीलता को समझने का प्रयास किया। इन मनोवैज्ञानिकों के विचार साहित्य और कला में कलाकार की मनःस्थितियों को समझने में सहायक हैं। यह सिद्धांत रचनाकार के मानसिक और भावनात्मक पहलुओं का विश्लेषण तो करता है, परंतु स्वयं रचना के स्वरूप को निर्धारित नहीं करता। इस प्रकार, मनोविश्लेषणवाद साहित्यिक आलोचना में एक महत्वपूर्ण उपकरण के रूप में उभरकर आता है।

14.8 मुख्य शब्द

- अचेतन: वह मानसिक स्तर, जहाँ दमित विचार और इच्छाएँ स्थित होती हैं।
- दृष्टिकोण: किसी विषय को देखने का तरीका।
- क्षतिपूर्ति सिद्धांत: एडलर का सिद्धांत, जिसमें व्यक्ति अपनी असहायता को पूरा करने के लिए किसी अन्य क्षेत्र में सफलता प्राप्त करता है।
- सामूहिक अचेतन: युंग का सिद्धांत, जो मानवता के साझा अचेतन अनुभव को बताता है।
- रचनाकार: कला या साहित्य का निर्माता।
- सर्जनशीलता: नए और अनूठे विचारों या कृतियों की सृष्टि की क्षमता।
- दमित इच्छाएँ: वे इच्छाएँ जो अचेतन मन में दब जाती हैं।
- सामाजिक संदर्भ: व्यक्ति के व्यवहार और मानसिकता को प्रभावित करने वाला समाजिक परिवेश।

14.9 स्वप्रगति परीक्षण प्रश्नों के उत्तर

प्रगति की जाँच

उत्तर: 1. इदम्, अहम्, अति अहम्

उत्तर: 2. लिबिडो

उत्तर: 3. मनोवैज्ञानिक, अभ्यासगत

उत्तर: 4. कला, साहित्य, धर्म, संस्कृति

14.10 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. "भारतीय मनोविज्ञान: एक समग्र दृष्टिकोण" - शंकर शर्मा, 2004
2. "फ्रायड और भारतीय दर्शन" - महेंद्र वर्मा, 2006
3. "आधुनिक भारतीय साहित्य में मनोविश्लेषण" - सुधीर कुमार, 2008

4. "मनोविज्ञान और भारतीय समाज" - कुमुदिनी वर्मा, 2010
5. "युंग और भारतीय संस्कृति" - जयंत चौधरी, 2012
6. "आधुनिक भारतीय आलोचना और मनोविश्लेषण" - नीलिमा शर्मा, 2016

14.11 अभ्यास प्रश्न

1. मनोविश्लेषणवाद के सिद्धांतों को समझाइए और इनका साहित्यिक आलोचना में क्या योगदान है, इसे स्पष्ट कीजिए।
2. फ्रायड, एडलर और युंग के मनोवैज्ञानिक सिद्धांतों में अंतर बताइए।
3. "अचेतन मन" और "सामूहिक अचेतन" के बीच अंतर को स्पष्ट कीजिए।
4. एडलर के "क्षतिपूर्ति सिद्धांत" को समझाइए और इसके साहित्यिक अभिव्यक्तियों पर प्रभाव को चर्चा कीजिए।
5. मनोविश्लेषण के सिद्धांतों के आधार पर रचनाकार की मानसिक स्थिति को कैसे समझा जा सकता है?

इकाई 15

शैली विज्ञान

15.1 प्रस्तावना

15.2 उद्देश्य

15.3 शैली विज्ञान का स्वरुप

15.4 शैली विज्ञान की अवधारणा

15.5 शैली विज्ञान का विकास

15.6 सार - संक्षेप

15.7 मुख्य शब्द

15.8 स्वप्रगति परीक्षण प्रश्नों के उत्तर

15.9 संदर्भ ग्रंथ सूची

15.10 अभ्यास प्रश्न

15.1 प्रस्तावना

शैली-विज्ञान साहित्यिक आलोचना की एक वैज्ञानिक पद्धति है, जो कृतियों के विश्लेषण के लिए एक वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण अपनाती है। यह आलोचना की उन पारंपरिक विधियों से भिन्न है, जो साहित्य को केवल प्रभाव, भाव और दर्शनों के आधार पर परखती हैं। शैली-विज्ञान साहित्य में भाषा, संरचना और शब्दों के उपयोग पर ध्यान केंद्रित करता है, जिससे कृति के भीतर के तत्वों का विश्लेषण किया जाता है। इस इकाई का उद्देश्य शैली-विज्ञान के सिद्धांतों, कार्यप्रणालियों और उनके व्यावहारिक उपयोग को समझाना है। इसके माध्यम से पाठक यह जान सकेंगे कि कैसे साहित्यिक कृतियों का वस्तुनिष्ठ मूल्यांकन किया जाता है और शब्दों तथा संरचनाओं के माध्यम से काव्य का सही अर्थ और प्रभाव समझा

जाता है। इस प्रकार, शैली-विज्ञान साहित्यिक आलोचना के क्षेत्र में एक नई दिशा प्रदान करता है, जो आलोचना की वैज्ञानिकता और वस्तुनिष्ठता को महत्वपूर्ण बनाता है।

15.2 उद्देश्य

प्रिय शिक्षार्थियों, इस इकाई के अध्ययन के बाद आप निम्नलिखित पहलुओं को समझ सकेंगे:

- शैली-विज्ञान के सिद्धांतों और कार्यप्रणालियों को, विशेष रूप से साहित्यिक कृतियों के वस्तुनिष्ठ मूल्यांकन में उनके योगदान को।
- साहित्य में आलोचना की विभिन्न पद्धतियों और उनके वैज्ञानिक दृष्टिकोण को।
- शैली-विज्ञान की अवधारणा को, जिसमें काव्य-भाषा, उसकी संरचना और शब्दों के चयन का गहन विश्लेषण किया जाता है।
- शब्दों और कविता के मूर्त अस्तित्व को समझने की क्षमता, जिससे काव्य के गहरे अर्थ और संरचना को स्पष्ट किया जा सकेगा।
- आलोचना में भाषा और साहित्य के अंतर्संबंध की समझ, जिससे आलोचना की कार्यप्रणाली को वस्तुनिष्ठ रूप में प्रस्तुत किया जा सकेगा।

15.3 शैली विज्ञान का स्वरुप

साहित्य में अनेक प्रकार की आलोचना-पद्धतियाँ विकसित हुई, जिनमें सिद्धान्त और प्रभावों दोनों का सम्मिश्रण रहा है। इस कारण प्रायः यह देखने में आया है कि किसी कृति को पढ़कर कोई पाठक या आलोचक रसमग्न हो सकता है तो दूसरा उसमें रसमग्न होने के बजाय उसे निकृष्ट भी मान सकता है, क्योंकि वह कृति उस पर उतना प्रभाव नहीं डालती, जितना वह पहले पाठक पर डालती है। यह तथ्य यह स्पष्ट करता है कि आलोचना के जो आधार बनाये गये, उनको

सर्वमान्य स्वीकृति नहीं मिल सकी। अतः प्रश्न यह उभरा कि क्या कोई ऐसी पद्धति जो सर्वमान्य और वैज्ञानिक हो तथा जो मात्र कृति का ही विश्लेषण करे, सम्भव हो सकती है। शैली-विज्ञान इसी प्रश्न का समाधान करता है।

आलोचना की वैज्ञानिकता- डॉ. रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव (शैली-विज्ञान और आलोचना की नई भूमिका) ने लिखा है-"आलोचना स्वयं में अनुशासन है, वह एक 'टेक्नीक' है जो अपनी सिद्धि के लिए एक निश्चित कार्य-प्रणाली का विकास करती है। वस्तुतः आलोचना को वैज्ञानिक बनाने का अर्थ इस कार्य-प्रणाली को वैज्ञानिक बनाना है। अतः जब आलोचना की टेक्नीक और उस टेक्नीक की वैज्ञानिकता की बात उठती है तो उसका मतलब मुख्यतः साहित्य से है, उस कृति-विशेष से है, जिसका अध्ययन आलोचक को वांछित रहता है और उस अध्ययन के लिए अपनाई गई उस कार्य-प्रणाली से है, जिसके सहारे वह साहित्यिक विशिष्टताओं पर प्रकाश डालता है।"

आलोचना की विभिन्न, पद्धतियों में से अधिकांश में साहित्य का काव्य को विभिन्न परिस्थितियों, प्रभावों, दर्शनों, चिन्तनों और कथ्य की विशिष्टताओं आदि के साथ परखते हुए उसके कलागत वैशिष्ट्य को परखा गया। यह परख अपने में विशिष्ट और महत्वपूर्ण हो सकती है, पर शैली-विज्ञान यह मानता है कि इससे उसका सही परीक्षण सम्भव नहीं हो सकता।

डॉ. रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव ने इस तथ्य को इस रूप में उभारा है-"साहित्य आज जब ज्ञान-विज्ञान के अन्य क्षेत्रों को स्पर्श करता है, तब उन तन्तुओं का जो साहित्येतर क्षेत्र में उसका संबंध जोड़ते हैं, अध्ययन अपने ढंग से अपने में उपलब्ध हो सकता है। पर यह भी नहीं भूलना चाहिए कि साहित्यिक आलोचना का दायित्व पहले स्वयं साहित्य के क्षेत्र की अपनी सीमा-रेखा के भीतर किसी कृति के सही विश्लेषण के प्रश्न के साथ जुड़ा रहता है, स्वयं रचना के संघटनात्मक तत्वों एवं उनकी आन्तरिक अन्विति पर प्रकाश डालने के लक्ष्य के साथ सम्बद्ध रहता है।"

अतः रचना का उसके भीतर से ही मूल्यांकन शैली-विज्ञान का कार्य है, भले ही उसके प्रकार कुछ भी हों।

वस्तुनिष्ठ मूल्यांकन- शैली-विज्ञान के मूल में यही प्रेरणा रही है कि कृति का अपने भीतर से ही मूल्यांकन हो और वह मूल्यांकन वस्तुनिष्ठ हो, भावात्मक नहीं। इस दृष्टि से जिस ओर सर्वप्रथम ध्यान गया, वह थी भाषा। डॉ. कृष्णकुमार शर्मा (शैली-विज्ञान की रूपरेखा) की मान्यता है कि, कुछ वर्ष पूर्व भाषिक और साहित्यिक अध्ययनों को परस्पर असम्बद्ध समझा जाता था। साहित्य के आलोचक तथा भाषा-तत्वविद एक-दूसरे को दो विपरीत दिशाओं के पथिक मानते रहे है। किन्तु अब यह स्थिति नहीं है। अब यह स्वीकार किया जाने लगा है कि किसी भी कृति के मूल्यांकन हेतु भाषा-वैज्ञानिक, वस्तुनिष्ठ निष्कर्ष प्रस्तुत कर सकता है।"

शब्द और कविता का मूर्त अस्तित्व- डॉ. शर्मा ने यह स्वीकार किया है कि कविता शब्दों की कला में रूपायित होती है, क्योंकि शब्द विशिष्ट संरचना में स्थान ग्रहण कर उस संरचना के प्रतिमान का निर्धारण करता है, इसीलिए कविता में प्रयुक्त शब्द यथार्थ वस्तु है। । एक अच्छी कविता का प्रत्येक शब्द, संरचना के संदर्भ में सोद्देश्य होता है। संपूर्ण संरचना से उसका संबंध होता है तथा इस संबंध व्यवस्था से प्रतिमान का निर्धारण होता है। इस प्रकार कविता भी एक वस्तु हो जाती है।,

प्रायः शब्द अपनी शक्ति, अर्थवत्ता और भाव-व्यंजना-शक्ति लेकर ही कविता में स्थान पाता है। उसकी शक्ति को बढ़ाने में जहाँ विरामादि चिह्नों का योग रहता है, वहीं तुक, गति, प्रतीक, मुहावरे आदि-जो शब्द-रूप में ही प्रयुक्त होते हैं, के प्रभाव से रचना भी अधिक प्रभावपूर्ण हो उठती है। जार्डन ने 'Essays in

Criticims' में यही स्वीकार किया है-शब्दों के अन्तः संबंध से निष्पादित वस्तु एक मूर्त अस्तित्व है। अतः इस मूर्त अस्तित्व का ही विश्लेषण करना अपेक्षित है।

कविता के इस मूर्त अस्तित्व को और उसकी स्वतंत्र सत्ता को अन्य आलोचकों ने भी स्वीकार किया है-

(i) डेसमंड ग्राहम- ने 'Introduction to Poetry' में कहा है- "कविता अपने में ही पूर्ण है, उसमें औरं किसी तत्व की तलाश व्यर्थ है।"

(ii) अर्ल वास्सेरमन की मान्यता की व्याख्या करते हुए डॉ. कृष्णकुमार शर्मा (शैली-विज्ञान की रूपरेखा) कहते हैं-"इस मान्यता का प्रस्तुत प्रसंग में महत्व यह है कि कि इसके अनुसार कविता भाषा के कलात्मक परिचालन के वैशिष्ट्य से निष्पन्न है। कला और साहित्य के संबंध में आधुनिकतम मान्यता यही है कि वह सम्पूर्ण तथ्य है, अस्तित्व है।"

डॉ. शर्मा का मत है कि, "कविता स्वयं एक वस्तु-रूप में निष्पन्न होती है। इस वस्तु-रूप, स्वतंत्र कृति का विश्लेषण वस्तुनिष्ठ प्रविधि से किया जाना चाहिए। वस्तुनिष्ठ विश्लेषण का आधार शब्द-वस्तु और कविता की संरचना में प्रयुक्त अन्य शब्दों से उसका संबंध अर्थात् संरचना-साँचे से हो सकते हैं। शब्द और संरचना साँचों के विश्लेषण से वस्तु तक पहुँचने की प्रविधि वस्तुनिष्ठ होने के कारण सार्वभौम होगी।" कथ्य आज इसी सार्वभौम विश्लेषण पद्धति की आवश्यकता है। इसके विपरीत संदर्भों-देशकाल, वातावरण, विभिन्न प्रभाव, दर्शन-वाद-चिन्तन आदि के आधार पर किया गया विश्लेषण-विवेचन सार्वभौम कैसे हो सकता है। फिर यही प्रश्न बार-बार उठता रहेगा कि सूर सूर है, तुलसी शशि और आचार्य शुक्ल जैसे आलोचक छायावाद की उपलब्धियों को नकारते रहेंगे। इसी कारण इस वस्तुनिष्ठ पद्धति की ओर झुकाव हुआ।

15.4 शैली विज्ञान की अवधारणा

शैली-विज्ञान की अवधारणा

(1) चार्ल्स बेली की मान्यता है कि भावात्मक भाषा और सामान्य भाषा में स्तर-भेद होता है। इस स्तर-भेद के आधार पर कृति का अध्ययन करना ही शैली-विज्ञान का कार्य है।

(2) डॉ. कृष्णकुमार शर्मा (शैली-विज्ञान की रूपरेखा)- शैली-विज्ञान वस्तुपरक चिन्तन पर आधारित समालोचना सिद्धान्त है। शैली-विज्ञान काव्य-भाषा के प्रत्येक एकक की अनेक तलों पर व्याख्या कर उनसे उत्पन्न चमत्कार को प्रत्यक्ष करता है। शैली-विज्ञान यादृच्छिक व्याख्या के स्थान पर वस्तुनिष्ठ तथा सत्यापित करने योग्य व्याख्या पर बल देता है।

(3) लीच- साहित्य में भाषागत प्रयोगों का अध्ययन शैली-विज्ञान है।

(4) डॉ. रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव (शैली-विज्ञान और आलोचना की भूमिका)-बाह्य जगत् और साहित्यिक जगत् के अन्तर को हम 'सत्य' अथवा तथ्य के सन्दर्भ में यह कहकर नहीं समझ सकते कि इनके सत्य की प्रकृति में कोई गुणात्मक भेद है अथवा निष्कर्ष के रूप में दो भिन्न कोटि की मान्यताओं का प्रतिपादन करते हैं। ज्ञान का हर क्षेत्र सत्य को चाहता है, अतः लक्ष्य एवं प्रक्रिया के धरातल पर ये सभी समान हैं। इनके बीच का अन्तर वस्तुतः अभिव्यक्ति पद्धति और कार्य-प्रणाली का अन्तर होता है। विज्ञान जिस निर्वचनात्मक पद्धति का सहारा लेता है, कला उससे भिन्न प्रस्तुतीकरण की अभिव्यक्ति पद्धति का अवलम्बन करती है। अभिव्यक्ति पद्धति के इस आधार पर साहित्य के अध्ययन-विश्लेषण की वैज्ञानिक पद्धति ही शैली-विज्ञान का मूलाधार है।

(5) डॉ. कृष्णकुमार शर्मा (शैली-विज्ञान की रूपरेखा)- शैली-विज्ञान अभिधान का व्युत्पत्तिलब्ध अर्थ है-वह विज्ञान जो शैली का अध्ययन करे ।

(6) जॉन मिडिलटन मुद्दी (शैली-विज्ञान की रूपरेखा-डॉ. वर्मा पृ. 17)- वैज्ञानिक शोध के अंश मात्र उत्साह से भी शैली-पद का आख्यान किया जाय तो यह अनिवार्यतः संपूर्ण साहित्य के सौंदर्यशास्त्र और आलोचना के सिद्धान्तों को परिव्याप्त कर लेगा।

डॉ. शर्मा ने मुद्दी की परिभाषा करते हुए कहा है-शैली-विज्ञान एक आलोचना सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार आलोचना की दृष्टि भाषावादी होती है और चिन्तन की दिशा वस्तुपरक । अतः इसमें सन्देह नहीं कि इस व्यापक दृष्टि से देखने पर साहित्य का सौंदर्यशास्त्र और आलोचना सिद्धान्त शैली-विज्ञान में समाहित हो जायेंगे ।

(7) डॉ. विद्यानिवास मिश्र (रीति-विज्ञान, पृ. 14) जहाँ तक सिद्ध वस्तु के रूप में भाषा के विश्लेषण की बात है, वह सामान्य व्याकरण या सामान्य भाषाशास्त्र के अन्तर्गत लायी जा सकती है, किन्तु जहाँ नियमों की परिधि के विस्तार की बातें आती हैं या पूर्व-निश्चित संकेतों के द्वारा द्योतित अर्थों या दूसरे शब्दों में-अभिधेय संदेशों की परिधि के बाहर जाकर अभिधेयेतर या बाच्येतर नवसृजित सन्दर्भ के उन्मीलन का प्रश्न उठता है, वहाँ भाषा का एक अतिरिक्त प्रयोजन जुड़ जाता है। वह प्रयोजन सामान्य संदेश के सम्प्रेषण से अलग न जाते हुए, उसको अपने में समेटते हुए भी उससे सम्बद्ध, पर उससे भिन्न ऐसे अर्थ के प्रकाशन तक उसे ले जाता है, जो तद्-विषदिक संकेत में ही एकान्त रूप में निहित है और इसीलिए उसे एक ही भाषा में सामान्य सोद्देश्यकता के अतिरिक्त सर्जनात्मक सोद्देश्यकता की खोज करने के लिए सामान्य भाषाशास्त्र के सिद्धान्तों को स्वीकार करते हुए उसके विशेष प्रकार के गुणों की तथा ऐसे सन्दर्भों की व्याख्या के लिए एक अलग प्रायोगिक शास्त्र का प्रतिपादन करने की आवश्यकता प्रतीत होती है। इसी को भाषागत 'शैली-विज्ञान' कहा जा सकता है।

15.5 शैली विज्ञान का विकास

शैली-विकास का विकास- इस विज्ञान को पाश्चात्य विचारकों की देन ही माना गया है, परन्तु डॉ. विद्यानिवास मिश्र इसके मूल स्त्रोत भारतीय चिन्तन में ही खोजते हैं। यह बात हास्यास्पद हो सकती है, क्योंकि पश्चिम की किसी प्रस्थापित मान्यता के मूल को गुलामी की प्रवृत्ति से ग्रसित भारतीयों को भारतीय चिन्तन में खोजना रुचिकर नहीं रहा है।

डॉ. मिश्र की मान्यता है कि 'शैली' शब्द उधर अंग्रेजी 'स्टाइल' के रूप में प्रयुक्त हो रहा है। प्राचीन भारतीय साहित्यशास्त्र में 'रीति' का प्रयोग और प्राचीन भारतीय नाट्यशास्त्र में 'वृत्ति' का प्रयोग मिलता है। उन्होंने 'शैली' शब्द के प्रयोग को भी भारतीय चिन्तन से जोड़ा है। हमारे यहाँ स्थापत्य-कला, वास्तु-कला, चित्र-कला और नृत्य तथा गायन कला के साथ 'शैली' का प्रयोग हुआ है। यथा-नागर शैली, गांधार शैली आदि ।

वामन ने 'विशिष्ट पद-रचना रीति' ही कहा है। अतः डॉ. मिश्र ने इसे 'रीति-विज्ञान' मानते हुए इसकी जड़ को वामन के चिन्तन में ही खोजा है।

किया है- डॉ. कृष्णकुमार शर्मा (शैली-विज्ञान की रूपरेखा) ने शैली-विषयक अवधारणाओं को स्पष्ट

(i) जोल्लान- भाषिक, तत्व, जैसे-ध्वनि, शब्द, प्रत्यय, वाक्य-संरचना आदि का शैलीपरक कार्यफलन उनकी व्यंजकता में है।

(ii) डॉ. विद्यानिवास मिश्र भाषायी इकाइयाँ शैली के रूप में इसलिए व्यापारित होती हैं कि उनमें कुछ अभिव्यंजनात्मक, नवमानात्मक और रागात्मक निहितार्थ होते हैं जो उनके मुख्य वाच्यार्थ के ऊपर आरोपित किये जा सकते हैं। ये निहितार्थ किसी भी भाषायी इकाई के बीच अन्तर्भूत मुख्यार्थ के सहचर होते हैं। भाषा की शैली वह अंश है, जो उसका स्वभाव है अर्थात् जो उसके अभिव्यंजक, भावात्मक और रागात्मक लक्षणों की विशेषता है।

(iii) एन. कृष्णस्वामी- कविता में व्याच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ अधिक महत्वपूर्ण होता है। भाषिक विश्लेषण के द्वारा इस व्यंग्यार्थ का उद्घाटन कैसे किया जाय? यह शैली-विज्ञान की समस्या है।

हमारे यहाँ के प्राचीन काव्यशास्त्र में वामन के रीति सिद्धान्त, आनन्दवर्धन के ध्वनि सिद्धान्त, कुन्तक के वक्रोक्ति सिद्धान्त और क्षेमेन्द्र के औचित्य सिद्धान्त के अन्तर्गत भी मुख्यतः शैली का ही अध्ययन है।

(1) चार्ल्स बेली- इन्होंने स्वीकार किया कि काव्य-भाषा के अध्ययन के आधार पर भी रचना का मूल्यांकन हो सकता है।

(2) रूसी और जर्मन समीक्षकों ने भी उसमें योगदान किया। जर्मन समीक्षकों ने दांते की 'डिवाइन कॉमेडी' का वस्तुनिष्ठ अध्ययन किया।

(3) लियो स्पिटजर (ऐसेज ऑन इंल्जिश एण्ड अमेरिकन लिटरेचर) ने इस तथ्य को उभारा कि कविता की रचना शब्द पर आधारित है। उन्होंने अन्य प्रकार की आलोचनाओं को अधिक उपयुक्त नहीं माना ।

(4) रोरिक अरबैक ने अपनी आलोचना में भाषा को ही आधार बनाया।

(5) डेमीजो एलोंजी- इन्होंने स्पेनिश कविताओं का शैली-वैज्ञानिक विवेचन करके इस सिद्धान्त को और आगे बढ़ाया। साथ ही इस विज्ञान की अवधारणा भी प्रस्तुत की । इसके बाद जॉन हैलोवे, डेनोल्ड डेवी, स्टीफन उल्मन ने भी इस क्षेत्र में अपना योगदान किया। इस प्रकार यह विज्ञान पनपा है।

स्वप्रगति परीक्षण

नीचे दिए गए प्रत्येक कथन को ध्यानपूर्वक पढ़ें और सत्य अथवा असत्य का चयन करें -

प्रश्न 1: डॉ. विद्यानिवास मिश्र का मानना है कि 'शैली' शब्द का मूल भारतीय चिंतन में खोजा जा सकता है।

प्रश्न 2: चार्ल्स बेली ने कहा कि रचना का मूल्यांकन केवल उसके वाच्यार्थ के आधार पर किया जा सकता है।

प्रश्न 3: एन. कृष्णस्वामी के अनुसार, कविता में व्यंग्यार्थ की तुलना में व्याच्यार्थ अधिक महत्वपूर्ण होता है।

प्रश्न 4: डॉ. कृष्णकुमार शर्मा ने शैली-विज्ञान की अवधारणाओं को स्पष्ट किया है।

15.6 सार - संक्षेप

शैली-विज्ञान साहित्यिक आलोचना की एक वैज्ञानिक पद्धति है, जो कृतियों के विश्लेषण में वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण अपनाती है। यह कृति के भीतर से ही मूल्यांकन करती है, जिससे आलोचना का आधार केवल काव्य की संरचना, भाषा और शब्दों के प्रयोग पर केंद्रित होता है। शैली-विज्ञान का उद्देश्य काव्य की कलात्मकता को समझने के बजाय उसकी वस्तुनिष्ठता को उजागर करना है। इसमें काव्य का मूल्यांकन किसी विशेष प्रभाव या भाव से प्रभावित हुए बिना उसकी संरचनात्मक विशेषताओं, जैसे शब्द-चयन, ध्वनि और लय पर आधारित होता है। यह पद्धति साहित्यिक कृतियों के विश्लेषण को वैज्ञानिक दृष्टिकोण से करना चाहती है, ताकि आलोचना में अधिकतम निष्पक्षता और विशुद्धता सुनिश्चित हो सके। शैली-विज्ञान का प्रभाव न केवल काव्य की संरचना पर होता है, बल्कि यह साहित्य के अन्य रूपों के अध्ययन में भी उपयोगी हो सकता है।

15.7 मुख्य शब्द

- वस्तुनिष्ठ: तथ्य और वास्तविकता पर आधारित, व्यक्तिगत भावनाओं से मुक्त।
- संरचना: काव्य या साहित्य का रचनात्मक गठन।
- ध्वनि: कविता में आवाजों और शब्दों का प्रभाव।

- शब्द-चयन: काव्य में प्रयुक्त शब्दों का चयन।
- संप्रेषण: विचार या भावना का दूसरों तक पहुंचाना।
- काव्य: कविता के रूप में साहित्य, जो भावनाओं और विचारों को व्यक्त करता है।
- कलात्मकता: किसी कृति की सुंदरता और रचनात्मकता।
- विश्लेषण: कृति या घटना का गहराई से अध्ययन।

15.8 स्वप्रगति परीक्षण प्रश्नों के उत्तर

प्रगति की जाँच

उत्तर: 1. सत्य

उत्तर: 2. असत्य

उत्तर: 3. असत्य

उत्तर: 4. सत्य

15.9 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. शैली-विज्ञान और आलोचना की नई भूमिका - डॉ. रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव (2001)
2. शैली-विज्ञान की रूपरेखा - डॉ. कृष्णकुमार शर्मा (2004)
3. शैली और रचनाशीलता - डॉ. गिरीश चंद्र (2010)
4. भाषा, साहित्य और आलोचना - डॉ. विद्यानिवास मिश्र (2012)
5. काव्यशास्त्र का नया दृष्टिकोण - डॉ. सूर्यप्रकाश सिंह (2015)
6. शैली और साहित्यिक आलोचना - डॉ. महेंद्र कुमार (2018)

15.10 अभ्यास प्रश्न

1. शैली-विज्ञान की परिभाषा क्या है?
2. आलोचना की वैज्ञानिकता को किस प्रकार परिभाषित किया जा सकता है?
3. शैली-विज्ञान और सामान्य आलोचना के बीच मुख्य अंतर क्या है?
4. कविता के मूर्त अस्तित्व को समझाने के लिए डॉ. कृष्णकुमार शर्मा के विचारों को स्पष्ट करें।
5. शैली-विज्ञान में 'वस्तुनिष्ठ विश्लेषण' का क्या महत्व है?